सहजानंद शास्त्रमाला

पंचाध्यायी प्रवचन

भाग 10

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ‘‘सहजानन्द’’ महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास
गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

पंचाध्यायी प्रवचन दशम भाग

तत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथाधुना ।
कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः ।।१६०।।

नव पदार्थोंमें से प्रथम जीव पदार्थके वर्णनका संकल्प—इससे पहिले ९ पदार्थोंका वर्णन किया गया था—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप । और इन ९ पदार्थोंको भूतार्थ पद्धतिसे जाननेपर सम्यग्दर्शन होता, यह भी कहा । अब उन्हींमें से जीवका स्वरूप क्या है और जीवकी क्या विशेषतायें हैं—इस तरह जीवका वर्णन अब किया जा रहा है । यहां ग्रन्थकारकी एक विशेषता इस विशेषणसे जानी जा रही है कि इस ग्रन्थके रचयिता पूर्व और ऊपर प्रकरणके अविरोध पूर्वक कहेंगे और जो शास्त्रसम्मत है, केवल भगवानकी परम्परासे चला आया है ऐसे ठीक सही वस्तुस्वरूपको बतायेंगे । इन सब पदार्थोंमें एक जीव पदार्थ मुख्य पदार्थ है । अब वैसे भी अंदाज करके मान लो सारी दुनिया तो होती और एक जीव न होता और ये सब दिखने वाले पदार्थ बने होते तो जगतकी क्या व्यवस्था होती ? अथवा जीव न होता तो ये दिखने वाले पदार्थ भी कुछ न होते, क्योंकि जो चीजें दिख रही हैं, चौकी, भींत, काठ, दरी वगैरह ये सब भी पहिले जीव थे, सजीवकाय थे, याने पृथ्वी जब जमीनमें थी जब वह जीव थी, जब निकला, जब अजीव बना तो उसीका ही तो काय है । यह चौकी वहांसे आयी, इसका ऐसा रूप कैसे बना ? तो यह वृक्ष था और वहां जीवके सम्बंधसे ही इसकी अपने कायकी वृद्धि हुई । यह जीव न होता तो यह काठ भी कहांसे होता ? और कदाचित् मान लो—और सभी द्रव्य तो होते, जीव न होता तो परिचय करने वाला ही नहीं है कोई तो उसके न होनेपर सब शून्य ही तो रहा । तो इन सब पदार्थोंमें जीव पदार्थ मुख्य है । उस जीवका अब वर्णन करते हैं ।

जीवसिद्धिः सती साध्या सिद्धा साधीयसी पुरा ।
तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये साक्षात्तल्लब्धिसिद्धये ।।१६१।।

अनस्तत्त्वकी उपलब्धिके लिये प्रथम जीव पदार्थकी सिद्धिकी आवश्यकता—जीवकी सिद्धि पहिले भी कुछ की गई है और अब भी की जा रही है । सबसे बड़ा काम हम आप लोगोंको यदि सुख शान्तिके लिए करना योग्य है तो यही है कि हम अपने आपका स्वरूप जान लें । अपना ही स्वरूप न जानेंगे तो बाहरकी कुछ भी जानकारी करें उससे अपना क्या

भला होगा ? यद्यपि वह भी जानकारी हमारे ही पौरुषकी बात है लेकिन खुदकी तो खबर नहीं, तो खुदमें अंधेरा ही रहा । जैसे बैट्रीके प्रकाशसे सामनेकी चीज तो प्रकाशित हो जायगी, मगर बैट्री अंधेरेमें ही है, वह तो प्रकाशित नहीं होती, ऐसे ही यह अज्ञानियोंका ज्ञान ये बाहर की बातें सब जान तो जायगा मगर खुद जो ज्ञायकस्वरूप है तो उसकी बात कुछ समझमें नहीं आती है । तो जिसको अपना जीवस्वरूप परिचयमें नहीं है वह तो निरन्तर आकुलतामें है, क्योंकि उपयोग अपनेसे हटकर बाहर गया तो जैसे मछली पानीसे हटकर जमीनपर आ जाय तो वह तो तड़फेगी, ठीक यही बात समझिये कि हमारा उपयोग मेरे इस ज्ञानसमुद्रसे चिगकर बाहर आ जाय तो यह तो उपयोग विह्वल ही रहेगा, यह जीव दुःखी ही रहेगा । इससे अपने आपके स्वरूपकी जानकारी अत्यन्त आवश्यक है । तो उस स्वरूपकी प्राप्ति हो जाय, वह हमारी दृष्टिमें आ जाय कि यह मैं हूं ज्ञान और आनन्दका निधान, मुझे चाहिए ज्ञान और आनन्द, सो ज्ञान भी किसी दूसरी चीजसे नहीं आता, आनन्द भी किसी दूसरी चीजसे निकलकर नहीं आता । मैं स्वयं ज्ञानानन्दमय हूं, और यहींसे इसका विकास चल रहा है । अपना ठीक स्वरूप ध्यानमें आये तो जीवके संकट मिटें । तो उस ही जीवकी प्राप्तिके लिए अब जीव का प्रसिद्ध लक्षण कहा जा रहा है ।

स्वरूपं चेतना जन्तोः सा सामान्यात्सदेकधा ।
सद्विशेषादपि द्वेधा क्रमात्सा नाऽक्रमादिह ।।१९२।।

जीवका स्वरूप चेतना—जीवका स्वरूप चेतना है, सर्व पदार्थोंमें जो न पाया जाय, केवल जीवमें ही पाया जाय ऐसा जो कोई विशेष स्वरूप हो, वही जीवका स्वरूप है । चेतना पुद्गलमें; धर्म, अधर्म, आकाश, कालमें किसी भी अन्य द्रव्यमें नहीं है । वे द्रव्य सभी जड़ हैं, चेतनाशून्य हैं । चेतना एक इस जीवका ही स्वभाव है, और वह चेतना सामान्य रीतिसे एक प्रकार है, क्योंकि सत्ता भी सामान्यतया एक प्रकार है, जीव है तो जीव असाधारण गुणको लिए हुए ही तो है । कोई भी पदार्थ अपने विशेष स्वरूपको न लिए रहे और सामान्य साधारण गुणोंसे ही अपनी प्रतिष्ठा बना ले, यह कभी हो ही नहीं सकता । तो जैसे सामान्यरूपसे सत् एक है लेकिन जब उसका विशेष करते हैं तो चेतना दो प्रकारकी होती है । दो प्रकारकी चेतना कौनसी है ? इसे आगेके श्लोकमें बतायेंगे । तो ऐसी वह चेतना जब चेतनाकी विशेष अवस्थापर दृष्टि देते हैं तब दो भेद हुए और ये दोनों भेद एक साथ किसी जीवमें नहीं होते । ऐसे चेतनाके भेद हैं—शुद्ध चेतना और अशुद्ध चेतना । ये दोनों अवस्थाओंसे सम्बंध रखते हैं । तो जो शुद्ध हो वह अशुद्ध कैसे ? जो अशुद्ध हो वह शुद्ध कैसे ? तो चेतना दो तरहकी है—एक शुद्ध चेतना और एक अशुद्ध चेतना । इसी भेदका विवरण अब कर रहे हैं अथवा किसी स्थितिमें ये दोनों चेतना गौण मुख्यरूपसे भी रहते हैं ।

एका स्याच्चेतना शुद्धा स्यादशुद्धा परा ततः ।
शुद्धा स्यादात्मनस्तत्त्वमस्त्यशुद्धाऽऽत्मकर्मजा ।।१६३।।

विशेषदृष्टिसे शुद्धा व अशुद्धा चेतना—चेतना सामान्य तौरसे एक प्रकारकी है । चेत रहे हैं सभी जीव, प्रतिभास हो रहा है सब जीवोंका । तो चेतना एक तरहकी है, फिर भी विशेषदृष्टिसे चेतनाके दो भेद हैं—शुद्ध चेतना और अशुद्ध चेतना । चेतनाका अर्थ है जिसमें बुद्धि अभिप्राय, विचार, अनुभव, सम्वेदन आदि हों । चेतनाकी बात तो साधारणतया सभी लोग जानते हैं । कोई पुरुष यदि कुत्तेको लाठी मारे और वह कुत्ता चिल्लाये, दुःखी हो, तो देखने वाले लोग रोकते हैं, अरे भाई क्यों मारते हो ? और कोई अगर भींतमें लाठी मारे तो उसे तो कोई नहीं रोकता । सभी लोग जानते हैं कि इस भींतमें जीव नहीं है, चेतना नहीं है और इस कुत्तेमें है । अब वही चेतना सामान्य कहीं शुद्ध है कहीं अशुद्ध । जैसे भगवान हैं उनकी चेतना शुद्ध है अथवा सम्यग्दृष्टि जीव है तो उसकी चेतना शुद्ध है, और अगर कोई मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव है तो उसकी चेतना अशुद्ध है । यों चेतना कहो या जीवका खास प्राण कहो । जैसे अग्निका प्राण क्या है ? गर्मी । गर्मी निकल गयी तो अग्नि खत्म । इसी तरह जीवका प्राण है चेतना । चेतना न माने तो जीवका अस्तित्त्व ही समाप्त है । तो ऐसे अपने स्वरूपके प्राणभूत चेतना दो प्रकारके हैं—शुद्ध चेतना और अशुद्ध चेतना । शुद्ध चेतना तो आत्माका निजरूप है । जैसे उष्णता अग्निका निजरूप है और कोई अग्निमें गंध लोभान आदिक डाल दे तो उसमें लाल, नीली आदिक ज्वालायें निकलती हैं । तो वे गंध, लोभान आदिक चीजें औपाधिक हो गयीं । वे रंगीन ज्वालायें उठना अग्निका शुद्ध कार्य नहीं है, वह तो गंध, लोभान आदिक चीजोंका काम है । तो वह शुद्ध अग्नि जो अशुद्ध अग्नि बनी है वह अग्नि और लोभान आदिक इन दोनोंके सम्बंधसे बनी है । इसी तरह जीवमें जो अशुद्ध चेतना है वह जीव और कर्म इन दोनोंके सम्पर्कसे बनी है । केवल आत्मामें अशुद्ध चेतनाकी बात नहीं आ सकती और कर्ममें तो चेतना है ही नहीं, स्वरूप ही नही है । वह अशुद्ध चेतना आयी कहाँसे ? तो न वह केवल आत्मामें है और न केवल कर्ममें है, और है यहाँ अशुद्ध चेतना । अनुभवमें आ रहा है कि जीव दुःखी होते, सुखी होते, अनेक अनुभव रखते । तो यह अशुद्ध चेतना आत्मा और कर्मके कारणसे होती है ।

एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्त्वतः ।
शुद्धाशुद्धोपलब्धित्त्वाज्ज्ञानंत्त्वाज्ज्ञानचेतना ।।१६४।।

शुद्धा चेतनाकी एकरूपता व ज्ञानचेतनारूपता—शुद्ध चेतना एक ही प्रकारकी है । जीवकी शुद्धता एक ही किस्मसे होती है । जहाँ अनेक किस्म हों उसे शुद्धता कहेंगे ही नहीं । जो शुद्ध हो वह एक ही प्रकारका होता है । तो ज्ञानचेतना एक शुद्ध चेतना है और उसमें

शुद्धताकी ही उपलब्धि है। यों कहो कि वह शुद्धकी उपलब्धि ज्ञानरूप है। शुद्ध चेतनतामें क्या अनुभवा जाता है? अनुभवने वाला ज्ञान ज्ञानको ही अनुभवता है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूं। इस तरह अपने आपका ज्ञानमात्र रूपमें अनुभव करें, प्रतीति करें, उसे कहते हैं ज्ञानचेतना। देखो सभी जन चेतते रहते हैं। कोई अपनेको मानते कि मैं मनुष्य हूं, मैं अमुक परिवारका हूं, ऐसी पोजीशनका हूं आदिक नाना प्रकारकी कल्पनायें रखते हैं और कोई ऐसा मानता हो तो कि मैं शरीर नहीं, मैं मनुष्य नहीं, मैं अमुक पोजीशन वाला नहीं, मैं तो एक चैतन्यस्वरूप हूं, तो ऐसी कोई दृष्टि रख नहीं सकता क्या? रख सकता है। तो ऐसी जिसकी दृष्टि बन गई उसकी कहलाती है ज्ञानचेतना।

ज्ञानचेतनाके बिना जीवका संसारपरिभ्रमण—ज्ञानचेतनाके बिना ही यह जगत भटक रहा है। लोग मानते हैं कि यह घर मेरा है, ये बन्धु मेरे हैं, और जब यह कल्पना कर रखी है तो इनका वियोग तो नियमसे होगा ही। जब घर छूट रहा है, मरण हो रहा है तब दुःखी होता है। पापका उदय आ जाय, घर बिक जाय तो यह दुःखी होता है। परिवारमें किसीका वियोग हो रहा हो तो यह दुःखी होता। तो यों समझिये कि जैसे कोई खानेका लोभी पुरुष एक ही दिन खूब डटकर खा लेवे गरिष्ठ पदार्थ तो उसे १०-२० दिन तो खाली मूँगकी दाल रोटी खानी पड़ेगी। पेट खराब हो गया, बीमार हो गए....। और कोई पुरुष अगर रोज-रोज सीधा सादा सात्विक भोजन करता है तो उसको कभी कोई तकलीफ नहीं होती। जिसने एक दिन मौज मान लिया खानेमें उसकी सारी कसर निकल जाती है। समता से रोज ही संतोषपूर्वक खाये तो उसके दिन अच्छे निकलते हैं। यह एक बहुत मोटी बात कह रहे हैं। ऐसी ही बात गृहस्थोंकी है। यदि गृहस्थीके अन्दर मोह राग आदि बढ़ाकर खूब मौज मान लिया तो कुछ समय बाद नियमसे दुःखी होना पड़ेगा। मान लो कई वर्षों तक अपने परिवारका, वैभवका संयोग समझ-समझकर मौज मान रहे हैं तो वियोग होनेपर उससे कई गुना अधिक दुःखी होना पड़ेगा। तो सारी कसर निकल आयगी और कोई गृहस्थ यदि जिन्दगीमें समतासे रहे और जाने कि ठीक है संयोग हुआ है, हो गया है, विपाक कर्म इसी प्रकारका है, उसमें मौज न माने तो साधारणतया वह सुखी अब भी रह रहा है, और वियोग होनेपर भी वह आकुलित न होगा। यह समस्या सभी मनुष्योंके सामने रखी हुई है। चाहे धनी हो, गरीब हो, सभीके सामने यह समस्या है कि सभीका संयोग है, वहाँ मौज मान रहे हैं तो उनका वियोग भी नियम होगा। ऐसा कहीं पक्ष तो नहीं है कि निर्धनोंके वियोग होवे, निर्धनोंके प्राण जायें, धनिकोंके न जायें या उनका वियोग न हो। अरे यह तो सबपर एक समानरूपसे बात गुजर रही है। तो उस समय इसे बहुत विह्वल होना पड़ता है। तो जो पुरुष बाहरमें कुछ अपना स्वरूप चेतते हैं उनको नियमसे आकुलित होना पड़ता है और जो

अपने आपमें अपना स्वरूप चेतते हैं——मैं ज्ञानमात्र हूं, केवल यही चेतना मेरा स्वरूप है, यही सारा वैभव है। जायेंगे इस शरीरको छोड़कर तो सारे वैभवको साथ ले जायेंगे और यहाँका कुछ भी साथ न जायगा। तो ये अब भी मेरे नहीं हैं। मैं इन सबसे निराला केवल चैतन्यस्वरूप हूं, ऐसा बोध ज्ञानियोंके रहता है, और वे कभी विह्वल नहीं होते। तो यहाँ चेतनाके दो प्रकारोंमें शुद्ध चेतनाकी विशेषता कही जा रही है कि वह तो एक ही प्रकार है, शुद्ध उपलब्धि रूप है और ज्ञायकस्वरूप है, इसी कारण उसे ज्ञानचेतना कहते हैं।

अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना।
चेतनत्वात्फलस्यास्य स्यात्कर्मफलचेतना ।।१६५।।

अशुद्ध चेतनाकी कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाके रूपमें द्विविधता—अशुद्ध चेतना दो प्रकारकी होती है—कर्मचेतना और कर्मफल चेतना। शुद्ध चेतना एक ही है—ज्ञानचेतना, क्योंकि उसमें कोई विकल्प नहीं है। अशुद्ध चेतनाके ये दो प्रकार हैं——१—कर्मचेतना, २—कर्मफलचेतना। ज्ञानचेतना तो सम्यग्दृष्टिके ही हो सकती है, मिथ्यादृष्टिके न होगी और कर्मचेतना, कर्मफलचेतना मिथ्यादृष्टिके होती है, और कदाचित् निचली भूमिकाओंमें गौणरूपसे सम्यग्दृष्टिके भी मानी गई है, पर अभिमुखता और प्रतीतिकी दृष्टिसे उसके भी ज्ञानचेतना ही मुख्य होती है। कर्मचेतनाका अर्थ यह है कि ज्ञानसे अतिरिक्त अन्य क्रियाओंमें इस तरहका अनुभव करना कि मैं कर रहा हूं, जैसे मैं खा रहा हूं—इस प्रकारकी जहां बुद्धि होती है वह कर्मचेतना है। ज्ञान भी हो, प्रतीति भी हो, श्रद्धा भी इसी तरहकी हो कि मैं ये ये काम कर रहा वह कर्मचेतना है और फिर जो कुछ कर्मफल आते हैं सुख दुःख तो उनको चेतना सो कर्मफल चेतना है। मैं भोगता हूँ, मैं मौजमें हूं, बडा सुखी हूं, इस तरहका जो अनुभव है वह कर्मफल चेतना है। ये दोनों ही चेतनायें इस जीवको संसारमें भटकाने वाली हैं। बड़े-बड़े पुरुषोंने यही तो बड़प्पनका काम पहिले किया कि कर्मचेतना, कर्मफलचेतनाका परित्याग करके एक ज्ञानचेतनामें ही सन्तुष्ट रहे, तृप्त रहे, लीन रहे, जब कि अज्ञानी जन इन वैभवोंके प्रति इतनी लालसा रखते हैं कि ये और भी आ जायें। अरे जितना वैभव अभी पासमें है उतनेकी ही सम्हाल नहीं कर पाते, उससे कष्ट मानते, मगर चाहते हैं कि और वैभव आ जाय। तो वैभवकी चाह बनी रहनेके कारण लोग दुःखी रहा करते हैं। जब इतना वैभव मान लो बढ़ भी गया तो इच्छायें और भी बढ़ जायेंगी, और भी अनेक प्रकारके विकल्प सामने खड़े हो जायेंगे, जो कि दुःखके ही कारणभूत होंगे। फिर तो सुखसे खा भी न सकेंगे। जो धन पासमें है उसीका ढंगसे उपयोग न कर सकेंगे। अज्ञानी जन तो इन जड़ पदार्थोंको अपनानेमें इनका संचय करनेके लिए निरन्तर चिन्तित रहा करते हैं, और इन बड़े-बड़े पुरुषोंने चक्रवर्ती तीर्थंकरने और भी अनेक महापुरुषोंने इस पायी हुई विभूतिको तृणवत् समझकर त्याग दिया, जिसकी ओर फिर मुड़कर

देखा भी नहीं। जिसमें रंचमात्र भी सार नहीं समझा और तब इस ज्ञानचेतनाके प्रतापसे जो उनकी गुणसमृद्धि हुई है, इतनी अनन्त समृद्धि हुई है। परमात्मा हुए, बड़े-बड़े योगीजन जिनका ध्यान करते हैं, वे सदाके लिए जन्म मरणके संकटसे छूट गए। इससे हम आपका कर्तव्य यह है कि ऐसा ज्ञान पायें कि कर्मचेतना, कर्मफलचेतनाका त्याग हो और हम अपने इस विशुद्ध ज्ञानस्वरूपको ही चेतते रहें, इस ही ज्ञानचेतनाके प्रतापसे मुक्ति प्राप्त होगी।

अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयम्।
स चेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना ॥१९६॥

ज्ञानचेतनाका विषय—शुद्ध चेतनाके सम्बंधमें कह रहे हैं कि शुद्ध चेतनाका दूसरा नाम है ज्ञानचेतना। शुद्धचेतना, ज्ञानचेतना, आत्मचेतना आदि किन्हीं भी शब्दोंसे कहो 'आत्मा' यह ज्ञान शब्दसे कहा गया है। ज्ञान शब्दसे जब आत्माका वाच्य किया तो इसके मायने यह हैं कि आत्माका वाच्य किया तो इसके मायने यह हैं कि जहाँ केवलज्ञान ही चेता जा रहा हो उसे ज्ञानचेतना कहते हैं और वही है एक शुद्ध चेतना। आत्माका चेतन भी ज्ञानके रूपसे बनता है। आत्माके बारेमें चाहे गुण पर्यायोंका पिण्ड हो ऐसा विचारो चाहे यह असंख्यातप्रदेशी है इस ढंगसे विचारो, चाहे इसमें ये परिणतियां होती हैं ज्ञानमात्र परिणमन है, यह इनका परिणमन है चाहे यह विचारो, चाहे अन्य-अन्य पर्यायों रूपसे विचारो वहां आत्माका अनुभव जागृत नहीं होता। आत्माके परिचयके लिए ये सब बातें बतायी है, पर साक्षात् अनुभवका जो माध्यम है वह है ज्ञानमात्र हुआ इस प्रकारका चेतन, और इसको खुद प्रयोग करके परख सकते हैं कि जिस समय हम इसे ज्ञानमात्र रूपमें ग्रहण करते हैं, केवल ज्ञानमात्र जानन ज्योतिस्वरूप और जाननाका जो स्वरूप होता है उस स्वरूप दृष्टिमें लेकर जब हम इसका चिन्तन करते हैं तो वहां निर्विकल्प अनुभूति प्रकट हो जाती है। तो आत्माका चेतन करना, शुद्ध आत्माका चेतन करना सो है ज्ञानचेतना। शुद्ध आत्मा अर्थात् ज्ञानमात्र आत्मा। उसके साथ न तो कोई विकार वाली बात लगायी जाती हो, न मुक्ति वाली बात लगायी जाती हो और न विशेष भेद वाली बात कही जा रही हो, याने समस्त उपरागोंसे रहित केवल ज्ञानका जो चेतन है उसे कहते हैं ज्ञानचेतना। इसको भेदरूपसे वर्णन किया गया कि मैं ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हूँ, यह भेददृष्टिसे वर्णन है, पर इसका जो वाच्य है वह वाच्य ग्रहणमें लिया जाय और करने भोगनेके विकल्पको हटा दिया जाय तो वह विषय ज्ञानचेतनाका हो जाता है।

अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा।
आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञानचेतना ॥१९७॥

ज्ञानचेतनाका स्वरूप—जिस समय आत्माका ज्ञानगुण एक सम्यक् अवस्थाको प्राप्त

होता है याने जिस ज्ञानके साथ विकार नहीं रहते, ज्ञान जिस आधारमें है उस आधारमें भी विकारके विकल्प नहीं होते, ऐसा जब ज्ञान सम्यक् अवस्थाको प्राप्त होता है तो वहां आत्मा की उपलब्धि है और ऐसा शुद्ध केवल आत्माकी उपलब्धिरूप जो अवस्था है उस ही का नाम ज्ञानचेतना है। 'मैं ज्ञानमात्र हूं' इस प्रकारका जो चेतन है उसे ज्ञानचेतना कहते हैं। करना भोगना क्या? करने भोगनेकी प्रकृति मनुष्योंमें है और करने भोगनेसे ये बड़े परिचित हुए हैं, तो करने भोगनेके रूपमें ही परिचय करानेका यत्न किया है। परवस्तुमें करना क्या और भोगना क्या? है और होता है। जब पदार्थ है तो प्रतिक्षण उसकी पर्यायें होती हैं। इसमें करनेकी क्या बात आयी और भोगनेकी क्या बात आयी? लेकिन यह जीव इसी ज्ञानको किसी विकलाके बलपर यह करने भोगने जैसी बात समझ रहा था तो उसी समझके द्वारा यहाँके करने भोगनेके विकल्पको मेटना है। जब यह कहा जाता कि यह आत्मा ज्ञानको तो करता है और ज्ञानको ही भोगता है, इस तरहसे यहाँ चेतना करता है, पर इसको चेतनेमें यह विकल्प नहीं पड़ा है कि मैं ज्ञानको करता हूं व ज्ञानको भोगता हूं। ज्ञान है, होता है यही उसकी एक चेतना है। तो वहाँ ज्ञान ज्ञानमें रहता है और ज्ञानका जानन बना रहता है, यही ज्ञानका जानन है, इसमें शुद्ध आत्माकी उपलब्धि है, न भोगता है, न विकार है, न मुक्तिकी चर्चा है। केवल आत्माके सत्त्वके कारण स्वरूपतः जो है वह अनुभवमें है, इसीको कहते हैं ज्ञानचेतना। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य भावमें किसी प्रकारका चेतन नहीं है। यों प्रतिषेध द्वारा भी ज्ञानचेतनाका स्वरूप जाना जाता है और भेददृष्टिमें यह ज्ञानको ही करता है और ज्ञानको ही भोगता है, और ज्ञानमें ही इस तरहका संचेतन है, इसे कहते हैं ज्ञानचेतना।

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसम्भवात् ॥१९८॥

सम्यग्दृष्टियोंके ही ज्ञानचेतनाका प्रतिपादन—यह ज्ञानचेतना निश्चयसे सम्यग्दृष्टिके ही होती है, मिथ्यादृष्टिके नहीं होती, क्योंकि मिथ्यात्वमें तो हो जाती है विपर्ययबुद्धि। जो नहीं है उसे अपनेरूप मानना। अनर्थमें अर्थकी श्रद्धा करना और अर्थका परिचय ही न रहना, ऐसी जहाँ श्रद्धा हो वहाँ आत्माका भान क्या? वह ज्ञानमात्र है, इसमें विकार और भेदसे भी अतीत अपने स्वरूपसे जैसा सहज सत् है उस रूप इसका परिचय मोहियोंको, पर्यायबुद्धियोंको हो ही नहीं सकता। उनकी ज्ञानचेतना कैसे बनेगी? तो ज्ञानचेतना इस सम्यग्दृष्टिके ही होती है। ज्ञानचेतनामें चेता क्या गया? तो ज्ञानका आवरण करने वाला जो कर्म है उसका क्षयोपशम है तब ही ज्ञान चेता गया। तो जहाँ ऐसे शुद्ध ज्ञानको जाननेका जो आवरण करता हो ऐसे कर्मके क्षयोपशमका साथ सम्यक्त्वके साथ है। सम्यक्त्व जहाँ है वहाँ आत्मज्ञानावरणका या ज्ञानज्ञानावरणका क्षयोपशम है, अर्थात् ज्ञानके ज्ञानको ढाकने वाली जो प्रकृति है उसका

क्षयोपशम है, वहां ज्ञानका ज्ञान होता है। कर्मोंमें प्रकृतियाँ १४८ ही नहीं हैं, किन्तु असंख्यात हैं। उन असंख्यात प्रकृतियोंको गिनाये कौन ? तो संक्षेप करके १४८ प्रकृतियाँ की गई हैं। जैसे स्थावरनामकर्मका उदय है तो वह स्थावरनामकर्म एक ही तरहका तो नहीं है। पृथ्वीकाय स्थावरनामकर्म, जलकाय स्थावरनामकर्म, ऐसे ये मुख्य ५ भेद हैं और फिर ये ५ भेद ही न समझिये—किन्तु पृथ्वीमें जैसे भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं—कोई भुरभुर है, कोई ढेला है, कोई हीरा है, कोई स्वर्ण है, ऐसी जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी बातें हैं वे सब पृथ्वीकायिक स्थावरनामकर्म हैं। अब कितनी प्रकृतियाँ गिनाई जाती हैं ? बिना परहेतुके विषमतायें नहीं हुआ करती। तो यहाँ पृथ्वीमें, वनस्पतिमें इतनी विषमतायें दिख रही हैं—नीमका पेड़फल दूसरे किस्मका, आमका पेड़फल दूसरे किस्मका, तो इन विषमताओंका कारण क्या है ? तो जैसे शरीररचनाका कारण नामकर्म है, स्थावर रचनाका कारण स्थावरनामकर्म है, ऐसे जो भिन्न-भिन्न प्रकृतियों वाले काय हैं उनका कारण भिन्न-भिन्न प्रकृतिका उदय है, तभी असंख्याते कर्म बन जाते हैं। तो एक घटका ज्ञान न करने देने वाला जो आवरण है वह घटज्ञानावरण है। इस आत्माकी अनुभूतिको न करने देने वाला जो आवरण है वह आत्मानुभूत्यावरण है। जितने किस्मके ज्ञान हो सकते हैं उतने किस्मके आवरण भी हुआ करते हैं। हाँ एक नित्योद्घाट निरावरण जो कि निगोदका जघन्य ज्ञान है वह आवरणरहित है, वहाँ आवरण नहीं होता वहां भी यदि आवरण होता तो स्वरूप मिट जाता। तो यों वहां ज्ञानके ज्ञानावरणका क्षयोपशम है उस स्थितिमें इसका सम्यग्दर्शन है और उस सम्यक्त्वके होनेसे इसकी ज्ञानपरिणतियां चल रही हैं।

अस्ति चैकादशाङ्गानां ज्ञानं मिथ्यादृशोपि यत्।
नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात्परम् ॥१६६॥

मिथ्यात्वकर्मोदयसे एकादशाङ्ग ज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंके भी आत्मोपलब्धिका अभाव होनेसे ज्ञानचेतनाका अभाव—मिथ्यादर्शनका ऐसा विकट आताप है कि मिथ्यादृष्टि जीवको ११ अंगका भी ज्ञान हो सकता है परन्तु आत्माका शुद्ध अनुभव उसके नहीं है। ११ अङ्गके ज्ञानमें ज्ञातृ कथांङ्ग हैं और ११ अङ्ग ६ पूर्व तकका भी ज्ञान मिथ्यादृष्टिके कहा गया है तो उस ६ पूर्वके अन्दर भी आत्मप्रवाद, ज्ञानप्रवाद ज्ञानका भी बहुत विस्तृत ज्ञान हो गया है और इतने ज्ञान वाले साधु समतासे भी रहते हैं। उनमें रागद्वेषादिक अत्यन्त मन्द हो गए हैं, और इस आत्माके ज्ञानके बलपर याने आत्मद्रव्यके सम्बंधमें जो उनके पूर्व ज्ञानरूपसे ज्ञान बढ़ा है वह इतना विशाल विस्तृत है कि जिसका वह उपदेश करेगा तो यथार्थ ही तो करेगा, उसके अनुरूप ही करेगा और उसी फोर्सके साथ करेगा। तो सुनने वाले तो सम्यक्त्व लाभ ले लें, तिर जायें और यह न तिर सके। इतना ऊँचा ११ अङ्ग और ६ पूर्वोंका ज्ञान भी हो जाता

है तो भी उसे आत्माका शुद्ध अनुभव नहीं हो पाता, जिसके मिथ्यादर्शनका उदय है। जैसे पीछे कहीं कोई वस्तु रखी है उसके आगे भींत है तो वह वस्तु नजर न आयगी। अब भींत तो यह २-२॥ फिटकी मोटी है। अगर कोई ४॥ फिटकी मोटी भींत उठाये तो क्या वह वस्तु दिखेगी? नहीं दिखेगी। तब भी आवरण है। और कोई ४॥ सूतकी चद्दरको ही आड़े कर दे तब भी वह वस्तु न दिखेगी। अथवा इससे भी काफी पतली चद्दर आड़े आ जाय तो भी वह वस्तु नजर नहीं आती। इसी प्रकार मिथ्यात्वके ऐसे सूक्ष्म अंश भी उदयमें चल रहे हों तो भी वह आवरण ऐसा विकट है कि वहां आत्माका दर्शन नहीं हो पाता। यह घर मकान मेरा है, ये स्त्री पुत्रादिक मेरे हैं, यह देह ही मैं हूं—ये सब मोटी कुश्रद्धायें हैं, पर अन्तः जैसा मैं समझने वाला, जानने वाला, विचारने वाला, जो कुछ मैं करता हूं किसीको अनुकूल प्रतिकूल कषाय जैसा जो आया यह मैं कर रहा हूं, यह ही तो मैं हूं, यह भी कुश्रद्धा है और बड़े तत्त्व की बातें की जा रही हैं और उस तत्त्वज्ञानकी बातके समय जो यह श्रद्धा बनी हो कि जो ऐसा जानने वाला हो, जो इस तरहका एक प्रकाश दे रहा हो या मैं खुद अपने आपमें कुछ प्रकाश पा रहा हूं, जान रहा हूं तो वह जाननहार यह ही तो मैं हूं। यह भी कुश्रद्धामें आ गया। किसी भी पर्यायमें स्वकी श्रद्धा बनी हो, बस वही मिथ्यादर्शन समझिये। अब चाहे वह अपने तत्त्वज्ञान वाली पर्यायकी बात हो, चाहे वह अपने आत्माके चिन्तन रूप ध्यानकी बात हो, आत्मस्वरूपका जहां विचार चल रहा हो, ऐसे विचार वाली पर्याय हो, इस किसी भी पर्यायमें यह मैं हूं ऐसा अनुभव करने वाला जीव सत्य श्रद्धासे परे है। तब अंदाज लगा लीजिए कि ११ अंग तकके ज्ञान करने वाले ऊँचे साधु बड़े तपस्वीके भी मिथ्यादर्शन पाया जा सकता है, यह बात किस तरह सम्भव है? वह इस तरह संभव है कि किसी भी पर्यायमें स्वकी बुद्धि हो जाय, यह मैं हूं, वहां मिथ्यादर्शन है और पर्याय अतीत उस शुद्ध आत्मद्रव्यका अनुभव हो तो वहां सम्यक्त्व है। तो बड़े-बड़े ज्ञानी ऐसे लोग भी क्या पर्यायसे अतीत उस शुद्ध जीवत्व का वर्णन न करते होंगे? इतने बड़े अंग पूर्वके ज्ञाता उस शुद्ध जीवत्वकी बात क्या न बताते होंगे? बताते हैं, बताकर भी इस तरह जो उनका परिणाम है, पर्याय है, उसमें ही स्वरूपसे अनुभव है और शुद्ध आत्मद्रव्यमें स्वीयरूपसे अनुभव नहीं है। यों मिथ्यात्व कर्मके उदयसे ऐसे-ऐसे श्रुतका संचय करने वाले जीवोंके भी आत्माकी उपलब्धि नहीं है, ज्ञानचेतना नहीं है।

ननुपलब्धिशब्देन ज्ञानं प्रत्यक्षमर्थतः।
तत् किं ज्ञानावृत्तेः स्वीयकर्मणोन्यत्र तत्क्षतिः ॥२००॥

क्या आत्मज्ञानावरणके क्षयसे ही आत्मप्रत्यक्ष हो सकनेका शंकाकारका प्रश्न—अब यहां शंकाकार कहता है कि आत्माकी उपलब्धि मिथ्यादृष्टिके होती है, यही बात तो बतायी

गई है। तो उपलब्धिका अर्थ तो प्रत्यक्ष है, आत्माकी प्राप्ति उपलब्धि होना अर्थात् आत्माका प्रत्यक्षज्ञान होना यही आत्मउपलब्धिका अर्थ होना चाहिये तो उससे फिर यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि बताओ क्या वहां आत्मीय ज्ञानावरण कर्मका क्षय हो जाता है ? याने आत्मा की उपलब्धि हुई तो यह उपलब्धि अब तक क्यों नहीं हुई थी कि आत्माकी उपलब्धिपर आवरण करने वाला ज्ञानावरण था। अर्थात् आत्माका ज्ञान न होने दे ऐसा ज्ञानावरणका उदय था, उसका हो जब क्षय तब आत्माका ज्ञान कहला सकेगा। आत्माकी उपलब्धि कहला सकेगी। तो यह बतलाओ कि उस स्थितिमें क्या आत्मीय ज्ञानावरणका क्षय हो गया है ? शंकाकारका यहां यह आशय है कि जब तक आत्मोपलब्धिका आवरण करने वाले कर्मका उदय था तब तक आत्मोपलब्धि नहीं हो रही थी। जैसे घटोपलब्धिका आवरण जब तक है तो घटोपलब्धि नहीं हो रही। यद्यपि यहां यह बात है कि घटज्ञानकी लब्धि तो पड़ी है, उपयोग नहीं है। मान लो जिन जीवोंके घट ज्ञान नहीं हो सकता, इन कीड़ा मकोड़ोंको घटज्ञान हो ही नहीं पाता तो यह व्यापक रूपसे ही तो बात की जा रही है। तो घट ज्ञानावरण भी चल रहा है, तो यों ही आत्मीय ज्ञानावरण भी चल रहा था। आत्मज्ञानावरण तो जब आत्माकी उपलब्धि कही जा रही है तो वहां क्या आत्मज्ञानावरणका क्षय हो चुका है ? यहां यह प्रश्न किया गया है। शंकाकारको यह दुविधा है कि आत्मज्ञानावरणका क्षय होने मात्रसे आत्मोपलब्धि हो जाती होगी, ऐसे आशयको रखकर यहां शंका की गई है कि तब तो वहां आत्मज्ञानावरणका क्षय होगा और उस क्षय मात्रसे ही आत्माकी उपलब्धि होती होगी। उसमें फिर दूसरेकी अपेक्षा न रखी जाती होगी। ऐसा भाव रख करके शंकाकारकी यहां सिर्फ यह जिज्ञासा हो रही है कि आत्मोपलब्धि जहां है, क्या उसके आत्मीय ज्ञानावरणका क्षय हो गया है ? अब उस शंकाका समाधान करते हैं—

सत्यं स्वावरणस्योच्चैर्मूलं हेतुर्यथोदयः।
कर्मान्तरोदयापेक्षो नासिद्धः कार्यकृद्यथा ॥२०१॥

आत्मानुपलब्धिकी आत्मज्ञानावरणोदयापेक्षताकी भांति कर्मान्तरोदयापेक्षता दिखाने वाला उक्त शंकाका समाधान—शंकाकारकी उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि शंकाकारका कहना यद्यपि यह ठीक है कि आत्माकी उपलब्धि आत्मज्ञानावरणके क्षयसे होती है और इसके ही समकक्षमें यह कहना भी ठीक है कि आत्मज्ञानावरणके उदयसे आत्मोपलब्धि नहीं होती है, किन्तु साथ ही यह भी समझना चाहिए कि यद्यपि आत्माके प्रत्यक्ष न होनेमें मूल कारण ज्ञानावरण है। उस प्रकृतिके उदयमें आत्माका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। परन्तु साथ ही अन्य कर्मोंका उदय भी उस प्रत्यक्षको रोके हुए है। यह भी उसके साथ सयझना चाहिए। आत्मज्ञानावरणके उदयसे आत्मप्रत्यक्ष नहीं है, केवल इतनी ही बात न कहना चाहिए। यह तो मूल बात है कि आत्मज्ञानावरणका उदय है तो आत्मप्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु साथ ही

दूसरे कर्मका भी उदय है जो उस आत्मप्रत्यक्षको नहीं होने दे रहा है। एक गुणका घात करनेके लिए अन्य कर्मोंकी भी अपेक्षा होती है, यह बात असिद्ध नहीं है। अर्थात् यहां आत्मज्ञानको रोकनेके लिए आत्मज्ञानावरणका उदय बताया, वह तो मूल कारण है, पर साथ ही अन्य कर्मोंका उदय भी इस आत्मज्ञानके न होने देनेमें सहकारी है, इस बातको खुलासा करते हैं।

अस्ति मत्यादि यज्ज्ञानं ज्ञानावृत्युदयक्षतेः।
तथा वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽनुदयादपि ॥२०२॥

आत्मोपलब्धिके हेतुओंकी पद्धतिके उदाहरणमें मत्यादि ज्ञानकी मत्याद्यावरणोदयक्षत्यपेक्षताके साथ वीर्यान्तरायकर्मोदयक्षत्यपेक्षताका वर्णन—जैसे मति आदिक ज्ञान मतिज्ञानावरण आदिके उदयके क्षयसे होते हैं याने मतिज्ञानावरणमें क्षयोपशम मतिज्ञानावरणके स्पर्धकोंका अनुदय ही तो चल रहा है, तो वहाँ मतिज्ञानावरण कर्मका क्षय है। क्षायोपशमिक स्थितिमें जिन स्पर्धकोंका उदय नहीं हो रहा या उदय होते ही क्षय हो गया तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञानादिक ज्ञान बन रहे हैं लेकिन यह न समझना चाहिए कि केवल मतिज्ञानावरणके उदयके हटनेसे ही मतिज्ञान होता हो। वीर्यान्तराय कर्मका अनुदय भी आवश्यक है। जितनी भी शक्तियाँ हैं उन शक्तियोंके काम होनेमें वीर्यकी आवश्यकता होती है। वीर्यशक्तिकी विभुता होनेसे सर्वशक्तियाँ अपना काम कर रही हैं। यद्यपि आत्मामें ऐसी शक्तियाँ भिन्न-भिन्न नहीं पड़ी हुई हैं कि ये शक्तियाँ अपना काम करें, उसमें ये बल प्रदान करें, किन्तु एक उस अखंड द्रव्यमें कोई निर्णय करनेके लिए ऐसी भिन्न-भिन्न शक्तियोंका परिचय दिया जाता है। आत्मद्रव्यमें एक ऐसी वीर्यशक्ति है कि जिसके प्रतापसे सारे गुण अपना कार्य करते हैं। उन गुणोंका कार्य तो उन गुणोंके अनुरूप है, पर उनमें कार्य करनेकी क्षमता है। ऐसा कोई प्रश्न करे कि क्यों है ? तो उसके उत्तरमे जो कुछ कहना पड़ेगा उसका ही भाव यह है कि इस प्रकारकी उसमें वीर्यशक्ति है। तो जैसे मतिज्ञान मतिज्ञानावरणके उदय क्षयसे और वीर्यान्तरायके उदयक्षयसे होता है वहाँ वीर्यान्तरायका उदयक्षय सहकारी है और मतिज्ञानावरणको उदयक्षय मूल है तब मतिज्ञान हुआ, इसी तरह यहाँ जानना चाहिए कि आत्माका जो प्रत्यक्ष होता है अनुभव परिज्ञान इसमें आत्मज्ञानावरण कर्मका उदयक्षय तो मूल कारण है और साथ ही अन्य कर्मोंका भी उदयक्षय उस आत्मप्रत्यक्षमें कारण होता है तो वे अन्य कर्म कौन हैं जिनका उदय आत्मप्रत्यक्षमें सहकारी होता है, इस बातको अब कह रहे हैं।

मत्याद्यावरणस्योच्चैः कर्मणोऽनुदयाद्यथा।
दृङ्मोहस्योदयाभावादात्मशुद्धोपलब्धिः स्यात् ॥२०३॥

आत्मोपलब्धिमें आत्मोपलब्धिमतिज्ञानावरणानुदय, दर्शनमोहोदयाभाव व वीर्यान्त-

रायानुदयकी हेतुता—यहां प्रकरण यह चल रहा—शंकाकारने यह कहा था कि आत्माका जो प्रत्यक्ष होता है, परिज्ञान होता है उसमें कारण तो आत्मीय ज्ञानावरणका उदयक्षय होगा तो शंकाकारके आशयमें केवल आत्मीय ज्ञानावरणके उदयक्षयमें ही कारणता है, आत्मप्रत्यक्ष होनेमें ऐसा भाव था, तो उसके समाधानमें यह कह रहे हैं कि हाँ यह बात ठीक है कि आत्मप्रत्यक्ष होनेमें आत्मीय ज्ञानावरणका उदयक्षय कारण है, पर इतना ही आग्रह न रखें, साथमें यह भी बात है कि अन्य प्रकृतियोंका भी उदयक्षय आत्मप्रत्यक्षमें सहकारी कारण होता है। उसीको यहां स्पष्ट किया जा रहा है कि जैसे मतिज्ञान उत्पन्न होता है मतिज्ञानावरणके उदयक्षय और वीर्यान्तराय कर्मके उदयक्षयसे अर्थात् वीर्यान्तराय कर्मके अनुदयकी सहकारिता पाकर मतिज्ञानावरणका उदयक्षय मतिज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है, इसी प्रकार आत्मप्रत्यक्ष मूलमें तो आत्मज्ञानावरणके उदयक्षयसे होता, किन्तु साथ ही वीर्यान्तराय कर्मका उदयक्षय और दर्शनमोहनीयकर्मका अनुदय भी सहकारी कारण है। यहां यह बात निर्णयमें दी है क्रि आत्मप्रत्यक्ष होता है, आत्मा मतिज्ञानावरणके उदयक्षय वीर्यान्तराय कर्मके उदयक्षय और दर्शनमोहनीयके अनुदयसे। आत्मप्रत्यक्ष होनेमें ये तीनों कारण बताये गए हैं और वे तीनों कारण भिन्न-भिन्न नहीं हैं अर्थात् अलग-अलग समयके नहीं हैं कि कभी किसीसे किसी कारणसे हो गया, कभी किसीको दूसरे कारणसे हो गया। जिसको भी प्रत्यक्ष होता है उसके प्रत्यक्षमें ये तीनों ही एक साथ कारण हैं। अर्थात् आत्मीय ज्ञानावरणका अनुदय, वीर्यान्तराय कर्मका अनुदय और दर्शनमोहनीयकर्मका अनुदय। सो इन तीनोंमें मुख्य तो आत्मीय ज्ञानावरणका अनुदय उदयक्षय है और यदि ये शेषके दो न हों तो यह नहीं होता अर्थात् जहां सम्यक्त्व आत्मोपलब्धि आत्मप्रत्यक्ष ये हो रहे हों वहां ये तीनों निमित्त होते हैं।

किञ्चोपलब्धिशब्दोपि स्यादनेकार्थवाचकः ।
शुद्धोपलब्धिरित्युक्ता स्यादशुद्धत्वहानये ॥२०४॥

उपलब्धि शब्दसे शुद्धोपलब्धिकी वाच्यता—इस श्लोकमें उपलब्धि शब्दके अर्थका आशय बताया गया है। उपलब्धि शब्द अनेक अर्थोंका वाचक है। अलग-अलग सभी अर्थों पर दृष्टि देकर विचारा जाय तो उपलब्धि शब्दके अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु यहां जो आत्मोपलब्धि की बात कही जा रही है, उसका प्रयोजन शुद्धोपलब्धि है अर्थात् शुद्ध आत्माकी उपलब्धियां। यहां शुद्ध प्रत्यक्षका अर्थ केवल शुद्ध लेना कि ९ पदार्थोंमें गत होकर भी जो केवल अपने सहज स्वरूपमें है, जो मूल है जिसके ये ९ पदार्थोंकी विशेषतायें बनती हैं उस सामान्य जीवको शुद्ध शब्दसे लेना। प्रकरण यह चल रहा है कि उस शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धि हो तो आत्मप्रत्यक्ष हो, सम्यग्दर्शन हो। तो इन विशेषोंमें रहने वाला जो सामान्य जीवत्व है, परमपारिणामिक भावस्वरूप वह जो जीव एकत्व है उस एकत्वकी उपलब्धिको यहां शुद्धोपलब्धि

कहा है। तो यहाँ शुद्धोपलब्धि अशुद्धताको दूर करनेके लिए है। अपना उपयोग ऐसे सामान्य शुद्ध जीवत्व पर रहे और इसकी विशेषताओंपर न रहे तो ऐसी स्थितिमें ऐसे उपयोगके संयम में ऐसे आत्मनियंत्रणमें इस जीवके विकल्प दूर होनेके अवसर मिलते हैं और उन अवसरोंमें इस जीवको सम्यक्त्वकी निष्पत्ति और आत्मानुभूति होती है। आत्मानुभूतिके लिए यही बात उपयोगमें आयगी कि वहाँ किसी भी विशेषका उपयोग न रहेगा, किसी विशेषकी दृष्टि न होगी। केवल उस शुद्ध जीवत्वकी दृष्टि होगी। तो वहाँ आत्मानुभूति होती है और शुद्धोपलब्धि होती है। तो अनेक यत्न करके यही कार्य किया जाना है।

अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परम्।
सुदृशां गौणरूपेण स्यान्नस्याद्वा कदाचन ॥२०५॥

मिथ्यादृष्टियोंके अशुद्धोपलब्धिका नियम व कदाचित् किसी अंशमें सम्यग्दृष्टिके होनेपर उसकी गौणताका कथन—अशुद्धोपलब्धिके स्वामी कौन हैं, उसका विवरण इस श्लोकमें किया है। अशुद्धोपलब्धि केवल मिथ्यादृष्टिके ही होती है अर्थात् अशुद्धकी ही उपलब्धि है। शुद्ध का परिज्ञान ही नहीं है, जो ये ९ पदार्थ सामने आते हैं यही जिनके लिए सर्वस्व है। ऐसी उपलब्धि मिथ्यादृष्टियोंके ही होती है। जैसे अनेक चर्चायें लोग करते हैं—जीवकी भी चर्चा करते हैं, जीवस्थानोंकी बड़ी विस्तृत चर्चा करके जीवका बड़ा परिज्ञान करते हैं। ये १४ मार्गणायें हैं, यह कषायसहित है, यह कषायरहित है, ये गतियोंमें हैं, ये गतिरहित हैं। इस तरह सभी मार्गणाओंके आश्रयसे जीवका विस्तृत वर्णन करते हैं लेकिन यह सब परिज्ञान तो ९ पदार्थोंका है। इन ९ पदार्थोंमें रहते हुए जो एक मूल शुद्ध पारिणामिक भाव है, जीवत्वभाव है उसका तो परिचय नहीं है। उसका परिचय न हो तो यह नाना प्रकारके जीवस्थानोंके आश्रयसे जो जीवोंका ज्ञान किया जा रहा है वह जीवपदार्थका ज्ञान तो कर लिया, पर शुद्धोपलब्धि वहाँ नहीं हुई। तो जो केवल विशेषकी ही उपलब्धि रखते हैं वे जीव मिथ्यादृष्टि हैं। उनको मूल तत्त्वका परिचय नहीं हुआ है। बता रहे हैं कि अशुद्धोपलब्धि केवल मिथ्यादृष्टियों के ही होती है, और इतना ही नहीं, यह तो निर्णय है ही, पर यह भी जानना चाहिए कि अशुद्धोपलब्धि सम्यग्दृष्टियोंके तो नहीं है, मगर कदाचित् सम्यग्दृष्टियोंके भी होती है, तो वह गौण रूपसे कहा गया है।

विशेषरूपमें स्वत्वकी प्रतीति न होते हुए भी उपयोगमें विशेषकी उपलब्धि संभव होनेसे प्रमत्तभूमिकामें सम्यग्दृष्टिके अशुद्धोपलब्धिकी संभवता व उसकी गौणता—उपयोगकी बात यहां कही जा रही है। उपयोग कभी शुद्धको ग्रहण करता, कभी विशेषको ग्रहण करता। तो सम्यग्दृष्टि भी नीचली भूमिकामें क्या उन ९ पदार्थोंका परिज्ञान नहीं करते, क्या उन ९ पदार्थोंका परिज्ञान नही करते, क्या उन ९ पदार्थोंकी उपलब्धि नहीं करते ? लेकिन उनकी

प्रतीति उस शुद्ध जीवत्वकी है, इस कारण यह परिज्ञान यह उपलब्धि वहाँ गौण रही। मुख्य और गौण किसे कहते हैं ? यह तो सबकी अपनी-अपनी आन्तरिक रुचि बता देगी कि मुख्य कहते किसे हैं और गौण कहते किसे हैं ? जैसे बहुतसे कार्य करनेको आज पड़े हों तो उनमें रुचि यह साबित कर देती है कि मुख्य कार्य तो यह है व गौण कार्य यह है। जैसे सभी कार्य बिगड़ रहे हों तो मेरी दृष्टि किसको सुधारनेके लिए जाती है, जिसको मैंने मुख्य समझा हो। तो इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवोंके भी कदाचित् अशुद्धोपलब्धि चल रही हो तो वह गौणरूपसे है, मुख्यतया नहीं है, क्योंकि यहां तक आत्मानुभव हो चुकनेसे एक ऐसा प्रकाश मिला हुआ है कि उसकी रुचि उस शुद्ध जीवत्वकी ओर ही रहती है। कारण पाकर भले ही विशेष पदार्थ की उपलब्धि हो और कुछ क्रिया भी हो तो भी उसकी मुख्यता शुद्ध उपलब्धिकी है, ज्ञानचेतनाकी मुख्यता है। इस प्रकरणसे यह भी जान लेना चाहिए कि सम्यग्दृष्टिके मुख्यतया ज्ञानचेतना है और कदाचित् कर्मचेतना, कर्मफलचेतना भी होती है, और जब जिस आशयको लेकर इन चेतनाओंके स्वामित्वकी बात कही हो तबके आशयके अनुसार उसका उत्तर होता है। जहाँ प्रतीति, श्रद्धा, रुचिकी मुख्यता लेकर कहा जाय तो यह निर्णय होता है कि सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना ही है, कर्मचेतना कर्मफलचेतना नहीं है, और जब उपयोगकी मुख्यतासे निर्णय बताया जाय तो यह कहा जायगा कि सम्यग्दृष्टिके मुख्यतया ज्ञानचेतना है और कदाचित् कर्मचेतना, कर्मफलचेतना भी होती है, मगर गौणरूपसे है। तो ऐसे ही भावोंको दर्शाते हुए यहाँ कहा जा रहा है कि अशुद्धोपलब्धि मिथ्यादृष्टियोंके है और सम्यग्दृष्टियोंके नहीं है। यह बात प्रतीति रुचि श्रद्धाके अनुसार है और जो वीतराग सम्यग्दृष्टि हैं उपरितन भूमिकामें पहुंचे हुए हैं उनके लिए एक नियमतः यह बात है, लेकिन कुछ नीचली भूमिकामें सम्यग्दृष्टियोंके कदाचित् अशुद्धोपलब्धि हो तो वह गौण रूपसे होता है, मुख्यरूपसे नहीं कहा गया है।

सिद्धान्तमें ज्ञानचेतना, कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाका विवक्षावश विविध वर्णन—सिद्धान्तमें कहीं यह भी वर्णन आता है कि ज्ञानचेतना तो प्रभुके ही होती है, अर्थात् जहाँ घातिया कर्मोंका क्षय हो चुका है ऐसे अरहंत और सिद्ध भगवानके ज्ञानचेतना है, तो यह कथन भी एक करणानुयोग जैसे पूर्ण तथ्यकी दृष्टिसे कही हुई बात है कि जहाँ कर्मपरिणमन कुछ न रहे, कर्मफल भी जरा न रहे वहाँ कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नहीं है। जहाँ किसी प्रकारके मन, वचन, कायकी क्रिया अथवा किसी प्रकारके कर्म चल रहे हैं वहाँ कर्मचेतना है और सुखदुःखादिक परिणमन भी चल रहा हो वहाँ कर्मफलचेतना है, और भी विशुद्ध दृष्टिसे देखें तो शुद्ध वह ज्ञानचेतना है, और जब इस ही को केवल एक अध्यात्मदृष्टिसे, वस्तुत्व दृष्टिसे निरखा जाता है तो चूंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिए सभी आत्माओंके ज्ञानचेतना है, और चूंकि ज्ञानका कुछ न कुछ परिणमन होता ही है प्रत्येक जीवमें, इस कारण प्रत्येक

जीवमें कर्मचेतना है। सिद्धमें भी कर्मचेतना है। किस कर्मकी चेतना? ज्ञानकी जो शुद्ध क्रिया, शुद्ध कर्म है उसकी चेतना। साथ ही कर्मफल चेतना भी सबमें है, सिद्धमें भी है, किस कर्मफलकी चेतना? केवलज्ञानमें जो शुद्ध ज्ञानपरिणति हुई, उसके फलमें जो शाश्वत आनन्द पाया, अनन्त आनन्द पाया उसकी चेतना हुई है। तो विषमताओंसे इसके भिन्न-भिन्न प्रकरणोसे भिन्त-भिन्न अर्थ होते हैं।

तद्यथा सुखदुःखादिरूपेणात्माऽस्ति तन्मयः।
तदात्वेऽहं सुखी दुःखी मन्यते सर्वतो जगत् ॥२०६॥

स्वको सुखी दुःखी माननेकी अशुद्धोपलब्धि—ऊपरके श्लोकमें यह बताया गया था कि अशुद्धोपलब्धि केवल मिथ्यादृष्टियोंके ही होती है, किन्तु उपयोगकी अपेक्षा कदाचित् नीचली भूमिकामें सम्यग्दृष्टिके भी हो जाय तो भी वह गौण रूपसे रहती है। उस ही के स्पष्टीकरणमें यह बात बतला रहे हैं कि अशुद्धोपलब्धिका क्या रूप है और किस तरह वह मिथ्यादृष्टि जीव में रहती है? 'यह जीव जब सुखदुःखादिक विकार रूपसे परिणमता है, सुख और दुःख विकारका अनुभव करता है उस समय यह जीव स्वयं तन्मय हो जाता है सुखमय, दुःखमय और यह जब सुख मिलता है तो उस समय अपनेको सुखी अथवा दुःखी मानता है। सारे जगतकी ऐसी स्थिति है और वह जिन चाहे सभी पदार्थोंसे अपनेको सुखी और दुःखो समझता है। तो यहाँ यह देखिये कि जो लोग श्रद्धामें अपनेको इतना ही पूरा सर्वस्व समझते हों उनके तो मिथ्यात्वका ही उदय है। मैं चैतन्यस्वरूप हूं इसका तो कुछ भान ही नहीं है। मैं विकार रहित एक शुद्ध प्रतिभास स्वभाव वाला हूं। इसकी तो सुध ही नहीं और जो सुख दुःख इन्द्रिय द्वारा वेदनामें आ रहा है, इसीमें रहकर ही वे अपनेको ऐसा समझते हैं और इससे ही अपना भला बुरा समझते हैं तो यह अशुद्धोपलब्धि हुई। अपने आपके अशुद्ध स्वरूपमें उपलब्धि की गई तो यह उपलब्धि मिथ्यादृष्टि जीवकी हुई।

परको सुखी दुःखी करनेके आशयमें अशुद्धोपलब्धि—इसी प्रकरणसे सम्बंधित एक यह भी बात समझनी चाहिए कि कोई दूसरेको यों सोचे कि मैं इसे सुखी अथवा दुःखी करता हूं तो उसके आशयमें अशुद्धोपलब्धि है, क्योंकि किसी जीवमें दूसरेको सुखी करनेका सामर्थ्य नहीं है। दूसरेके पुण्यका उदय हो तो भले ही निमित्त बन जाय, आश्रय बन जाय, किन्तु कोई जीव किसीको सुखी कर सके, ऐसा वस्तुमें स्वरूप ही नहीं है, और कोई किसीको दुःखी कर सके यह भी वस्तुका स्वरूप नहीं है। जब पापका उदय हो तो दूसरे उसके दुःखी होनेमें निमित्त बन जाते हैं अथवा कोई प्रेमवश सुखी करनेके कितने ही साधन बनाये, लेकिन उनका वह साधन उनके दुःखका ही कारण बन जाता है। तब कौन किसको सुखी अथवा दुःखी करता है? यह तो लोगोंका व्यर्थका एक आशय है कि मैं अमुकको सुखी अथवा दुःखी

करता हूं ? यह तो लोगोंका व्यर्थका एक आशय है कि मैं अमुकको सुखी अथवा दुःखी करता हूं। देखिये—कोई साल ६ माहका बच्चा हो तो उसे कैसा लोग गोदमें लिए लिए फिरते हैं। पर वे क्या उस बच्चेके पुण्यका उदय है, सो उन लोगोंको उसकी नौकरी करनी पड़ रही है। तो कौन किसे सुखी कर सकता अथवा दुःखी कर सकता ? फिर भी कोई ऐसा अभिप्राय रखे तो वह उसकी मिथ्या उपलब्धि है। इसे कहो एक मिथ्या अध्यवसाय क्योंकि जैसा सोचा वैसा है नहीं। तो यह अशुद्धोपलब्धि ही तो हुई।

सम्यग्दृष्टिके अशुद्धोपलब्धिकी गौणता—सम्यग्दृष्टि जीवके अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण जैसे कषायके विपाककालमें और उसे भी कोई विकार परिणमन आता है, जैसे भोजन करता है तो क्या उसका स्वाद नहीं आता और मीठा स्वादमें आया तो क्या उस तरहका कुछ थोड़ा सुख परिणाम नहीं होता ? ये सब होते हैं, इतना मात्र तो समझिये अशुद्धोपलब्धि, लेकिन वह गौण है। हर स्थानमें सम्यग्दृष्टिके यही भान रहता है कि यह कर्मविपाक है, यह मेरा स्वरूप नहीं है, इससे निराला मैं ज्ञानमात्र हूं। ऐसी प्रतीति ऐसा भान उसके निरन्तर रहता है, जब उसके सम्यक्त्व है। तो इसी कारण उसकी रुचि दृष्टि उस ज्ञानमात्र स्वभावपर है। कोई पुरुष थोड़ी उस ज्ञानमात्र भावकी चर्चा भी कर लिया करे, पर रुचि रखे इन विषयोंमें ही तो यह तो सम्यक्त्वका लक्षण नहीं है। संसार, शरीर, भोग इनसे विरक्ति उसे हो ही जाती है। तो जिसकी दृष्टि अनवरत एक उस शुद्ध ज्ञानस्वभावपर रहती है, उसमें ही आदर है, उसके ही पानेका उपाय चलता है, फिर भी स्थितियोंवश भोजनपान आदिककी सब क्रियायें चलती हैं, पर वहाँ रहकर भी विरक्ति आना प्राकृतिक भाव है। सुख भी आये, दुःख भी आये, थोड़ी कषाय जगे, तो ऐसे विकार हैं तो उपयोगमें भी वह बात आती है। तो उपयोगकी दृष्टिसे तो कदाचित् अशुद्धोपलब्धि हो गई सम्यग्दृष्टिके, लेकिन वह ऊपरी है। उसमें रुचिका पुट नहीं है और न श्रद्धा है, इस कारण वह गौण रूप होता है। तो गौण रूप होने वाली बातका क्या जिक्र करना ? यह तो मिथ्यादृष्टियोंकी मुख्यतया अशुद्धोपलब्धि हो रही है, उसकी बात कही जा रही है।

यद्वा क्रुद्धोयमित्यादि हिनस्म्येनं हठाद्द्विषम् ।
न हिनस्मि वयस्यं स्वं सिद्धं चेतत् सुखादिवत् ॥२०७॥

हिंसा करने व न करनेकी क्रियाके अध्यवसायमें अशुद्धोपलब्धि—उसी अशुद्धोपलब्धिके सम्बंधमें क्रियात्मक वर्णन कर रहे हैं, अभी ऊपर कर्मफल सम्बंधित अशुद्धोपलब्धिका वर्णन था और अब मुख्यतया क्रियात्मक अशुद्धोपलब्धिका वर्णन किया जा रहा है। जो पुरुष ऐसा सोचते हैं कि यह क्रुद्ध है, यह मुझपर बैर करता है, मेरा अनिष्ट करता है, मैं इसको

मारूँ अथवा यह मेरा मित्र है, मैं इसको न मारूँ—इस प्रकारका जो भाव रखता है वह भाव भी मिथ्या अध्यवसाय है, अशुद्धोपलब्धि है। जब जीव जिस भावरूप होता है उस समयमें वह जीव उस भावमय हो जाया करता है। तो इस तरह जब इस आशयमें आये यह जीव तो उस समय तो इस भावमय ही हुआ और इस भावमय होनेपर वह अपनेको ऐसा ही अनुभव कर रहा और यह बात है अशुद्ध तो अशुद्ध निजकी उपलब्धिसे यह अशुद्धोपलब्धि कहलाती है। मिथ्या अध्यवसाय भी है यह। जो कुछ इस अशुद्धोपलब्धिमें परिणाम हो, क्योंकि कोई किसीको मारने वाला नहीं है, आयुका क्षय हो रहा है तो उसकी मृत्यु होती है और आयुका क्षय नहीं है तो उसकी मृत्यु नहीं होती है। कोई पुरुष यदि शस्त्रघात भी किसीपर कर दे और कोई कहे कि लो अब तो हमने इसकी आयुका क्षय कर दिया है तो हुआ ना मरण मेरे द्वारा ? ऐसी स्थितिमें भी उसका शस्त्रघातसे मरण नहीं हुआ, शस्त्रघातसे आयु क्षय नहीं हुआ, किन्तु आयुकर्मके निषेकोंमें ऐसा परिवर्तन हुआ, उसके लिए निमित्त यह शस्त्रघात है तो निमित्तमें परम्परा और साक्षात्की बात समझनेसे इसका ठीक मर्म ज्ञानमें आता है। साक्षात् निमित्त क्या हुआ भवके छूटनेमें, मरणके होनेमें ? इस आयुका क्षय। निषेक पूरे हुए इसमें निमित्त क्या रहा ? उसका जो शारीरिक प्राण हैं, दश प्राणोंमें श्वासोच्छ्वास अथवा कायबल इन्द्रियप्राण या अङ्गोंमें जो मर्म वाले अङ्ग हैं जिनका घात होनेसे शरीरमें इस प्रकार की स्थिति होती है कि वहाँ आयुकर्मके निषेक जल्दी खिर जायें तो वह निमित्त हुआ। उसमें निमित्त हुआ यह मनुष्य। तो कितनी परम्परायें लगी हुई हैं, जिनका एकदम इस तरहका मिथ्या आशय हुआ है कि यह मैं मारता हूं अथवा यह मैं दयावान हूं। किसीकी आयुका क्षय आया तो मरण हो जाता है और आयुका उदय है तब तक मरता भी नहीं है। तो स्थिति तो ऐसी है लेकिन ये मिथ्यादृष्टि जन इस प्रकारका परिणाम करते हैं कि मैं मारता हूं। तो यह सब अशुद्धोपलब्धि है।

बुद्धिमानत्र संवेद्यो यः स्वयं स्यात्सवेदकः।
स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमुपलब्धिरियं यतः ॥२०८॥

उपलब्धिकी संवेदनता व स्मृतिव्यतिरिक्तता—यह जो समझदार हैं, स्वयंकी दृष्टिके निरीक्षक हैं वे पुरुष यह जान सकते हैं कि इस तरहकी जो आत्मीय स्वापेक्ष उपलब्धि हुई है वह अनुभूति है, स्मरण नहीं है। कोई ऐसी शंका कर बैठे यदि यहाँ कि सुख दुःख होते हैं तो यह तो एक स्मरणज्ञान है, तो यह शंका ठीक नहीं है स्मरणसे बिल्कुल विलक्षण है यह उपलब्धि। जैसे पहिले समयमें सुख भोगा, दुःख भोगा, उसका स्मरण हुआ तो उस स्मरणमें और यहाँ जो भोजन किया जा रहा है, स्वाद आ रहा है उसमें जो उपलब्धि बन रही है, क्या इनमें अन्तर नहीं है ? इनमें बहुत अन्तर है। तो इस उपलब्धिको स्मृतिज्ञान नहीं कह

सकते। यह स्मृतिज्ञानसे विलक्षण है, ऐसी इस उपाधिको स्मृतिसे भिन्न ही समझना चाहिए, और देखिये—स्मरणमें तो स्मरणके विषयकी ओर यदि अनुभूति जग रही हो तो वहाँ उस किस्मकी अनुभूति होगी। वहाँ भी वह उपलब्धि स्मरणसे जुदी है। कभी ऐसा होता कि पूर्व भोगोंका स्मरण किया और उसका इस तरहका ख्याल किया कि उसका कुछ चित्तमें स्वाद भी लेते गए तो वहां जो जो स्वाद लिया वह भिन्न प्रकारकी है उस स्मरणके बीच भी, वहाँ भी दो प्रकारकी है। अब वह स्मरणज्ञान न रहा, स्मरणज्ञानके भीतर भी यदि वह स्वाद-सम्वेदन करता है तो वह स्मरण ज्ञान नहीं है किन्तु वह उपलब्धि है। तो उपलब्धि और स्मरणमें इतनी विलक्षणता है, फिर जो वर्तमानमें उपलब्धि की जा रही है, सुख दुःखके वेदन किए जा रहे हैं उसको तो यह भी नहीं कह सकते कि यह स्मरणसे हुआ है किसका स्मरण कर रहे हैं ? वही भोजन आज करता है कोई तो वह कलके भोजनका स्मरण तक भी नहीं रखता। उसीको खाता है, उसीमें सुख मानता है। तो यह उपलब्धि स्मृतिज्ञानसे विलक्षण चीज है।

नोपलब्धिरसिद्धास्य स्वादुसंवेदनात्स्वयम् ।
अन्यादेशस्य संस्कारमन्तरेण सुदर्शनात् ॥२०६॥

अन्यादेशके संस्कारके बिना उपलब्धिका सुप्रतीत संवेदन—आत्मामें जो भी सुख दुःख की उपलब्धि होती है वह असिद्ध नही है। असिद्धकी बात क्या कहें, सब जीवोंको यह स्व-सम्वेदन प्रत्यक्ष जिसे हो रहा है, अपने आपका सम्वेदन हो रहा, स्वका सम्वेदन नहीं, किन्तु एक अपने आपके अनुभवमें आ रहा है कि हां मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं। तो ये सुख दुःखकी उपलब्धि स्वयं लोगोंको विदित हैं, क्योंकि वहां स्वाद स्वसम्वेदनका हो रहा है। जो कुछ समझ रहा है उसका सम्वेदन हो रहा है और ऐसी उपलब्धि किसी अन्यके कहनेसे, समझानेसे या किसी अन्यकी प्रेरणासे होने वाले संस्कारके बिना हो रही है। जब कोई भोजन कर रहा और उसे मिष्ट स्वाद आ रहा है तो कोई समझा रहा है क्या कि देखो तुम इसे मिष्ट जैसा अनुभव करो या किसीने कभी समझाया हो, उसका संस्कार लगा हो, उससे यह अनुभव कर रहा है क्या ? यह तो एक भागका अनुभव है और वहां उस प्रकारकी उपलब्धि हो रही है। इसी तरहसे जो शुद्धोपलब्धि होती है, उसमें स्वयं सम्वेदन हो रहा है, वहां किसीके कहने सुननेके संस्कारके बिना ही हो रहा है, और उसको अपने आपका उस शुद्धताका दर्शन है, इस कारणसे उसे स्वयं उपलब्धि हो रही है। तो उपलब्धि यह किसीके बहकानेसे समझानेसे या अन्यके कथनके संस्कारसे नहीं होती, किन्तु प्रथम वृत्तिके कारण उसको यह उपलब्धि होती है। तो यों उपलब्धि असिद्ध नहीं है।

नातिव्याप्तिरभिज्ञाने ज्ञाने वा सर्ववेदिनः ।
तयोः संवेदनाभावात् केवलं ज्ञानमात्रतः ॥२१०॥

केवलज्ञानमें व अभिज्ञानमें ज्ञानमात्रता होनेके कारण संवेदनका अभाव होनेसे उपलब्धिकी अनतिव्याप्तता—उपलब्धि असिद्ध नहीं है, उसमें भली प्रकार सम्वेदन हो रहा है । ये सब उपलब्धिके स्वरूपके आख्यान चल रहे हैं । इस प्रसंगमें कोई ऐसी शंका न करे कि ऐसी उपलब्धि तो हर एक ज्ञानमें हो सकती है और केवली भगवानके ज्ञानमें भी हो सकती है । तो उपलब्धिका जो स्वरूप बांधा है उस स्वरूपमें अतिव्याप्तिका दोष आता है ऐसी शंका यहां नहीं की जा सकती, किन्तु यह है कि अभिज्ञानमें और केवलीके ज्ञानमें इन दोनोंमें इस उपलब्धिसे विलक्षणता है । उपलब्धिकी बात बीतती है, वह न अभिज्ञानमें है, न केवलीके ज्ञानमें । अभिज्ञानका अर्थ है यह—जैसे आप दुःखी हो रहे या आपको कोई पीड़ा हो रही या विकार आदिक अन्य कुछ बात हो उसका हम ज्ञान कर रहे हैं इसे कहते हैं अभिज्ञान । दूसरे जीवोंकी किसी भी उपलब्धिविषयक हम ज्ञान कर रहे हैं यह तो है अभिज्ञान । इस अभिज्ञान में वह उपलब्धि नहीं है । जैसे किसीको बुखार आ गया हो, मान लो १०२ डिग्री बुखार है, तो जिसको बुखार चढ़ा है उसको यह ज्ञानमें नहीं है कि हमारे कितना बुखार चढ़ा है ? उससे भी बढ़िया ढंगसे उस बुखारका ज्ञान वैद्यको हो रहा है जिसने नाड़ी देखकर बुखारका स्पष्ट ज्ञान कर लिया है, इतना होनेपर भी उस वैद्यने उस व्यक्तिके दुःख, सुख, क्लेश, आकुलता आदिकी उपलब्धि तो नहीं की । तो इस उपलब्धिकी अतिव्याप्ति अभिज्ञानमें नहीं लादी जा सकती । इसी तरह केवली भगवानके ज्ञानमें भी नहीं लादी जा सकती । कोई कहे कि हमारे दुःखमें संसारी जीव दुःखी हो रहे हैं और उसका ज्ञान किया केवली भगवानने तो इन सबके दुःखोंकी उपलब्धि केवलीके न हो जायगी, क्योंकि जान ही लिया । तो उपलब्धि और ज्ञानमें क्या अन्तर है ? उपलब्धि और ज्ञानमें यह अन्तर है कि उपलब्धिमें क्रमपूर्वक ज्ञान है और केवली भगवानके ज्ञानमें अनन्त जीवोंका परिणाम पर्याय ज्ञानमें आ रहा है तिसपर भी वहां उपलब्धि नहीं है । केवल ज्ञानमात्र है । वहां सम्वेदन नहीं हो रहा है । यहां सम्वेदनका अर्थ करना अनुभवन, वेदन और ज्ञानमात्रका अर्थ करना केवल जानना । तो अभिज्ञानमें भी केवल जानना होता है और केवलीके ज्ञानमें भी केवल जानना बन रहा है । जो विषय पड़ा है उस विषयमें जो बात गुजर रही है उसकी उपलब्धि नहीं है, इस कारण उपलब्धिके विषय में जो कुछ कहा गया है उसमें अतिव्याप्ति नहीं आता है ।

व्याप्यव्यापकभावः स्यादात्मनि नातदात्मनि ।
व्याप्यव्यापकताभावः स्वतः सर्वत्र वस्तुषु ॥२११॥

उपलब्धिकी अनतिव्याप्तताका हेतु--उपलब्धिमें अतिव्याप्ति नहीं है, इसका कारण बता

रहे हैं। कारण इसका यह है कि व्याप्यव्यापक भाव जो हुआ करते हैं वे उस ही में हुआ करते हैं। जो अतदात्मक है उसमें व्याप्यव्यापक भाव नहीं होता। यहां सुख दुःखकी उपलब्धि की बात चल रही है। तो सुख दुःख ये तो हुए व्याप्य और सुख दुःख जिस जीवमें हुए वे कहलायेंगे व्यापक। तो व्याप्यव्यापक भाव उस ही में तो होगा जो तदात्मक हो, जो सुख दुःखमय हो रहा हो। सुखदुःखमय कौन हो रहा? जो सुख दुःखरूप विकारसे परिणम रहा वह ही तो सुख है, दुःख है। तो सुखकी उपलब्धि उस सुखके साथ है, दुःखकी उपलब्धि उस दुःखमें है, तो इसका व्याप्यव्यापक भाव उस ही में होगा, अतदात्ममें न हो, यह बात सर्वत्र घटा लो। प्रत्येक पदार्थमें व्याप्यव्यापकता स्वतः होती है, परसे नहीं। तो वहाँ जो सुख दुःख हुए हैं वे उस ही में व्याप रहे हैं मुझमें नहीं और उनका विषय बनाकर जो ज्ञान किया जा रहा है वह ज्ञान मुझमें व्याप रहा, उस ज्ञानमें सुख और दुःखकी परिणति नहीं पड़ी है। तो कैसे कहा जाय कि सुख दुःखकी उपलब्धि अभिज्ञानमें भी हो जाय या केवलज्ञानमें भी हो जाय। इस तरह जब व्याप्यव्यापक भाव सुख दुःखका उस सुख दुःखरूप परिणमे हुए जीवमें ही है तो उपलब्धि, ऐसी अशुद्धोपलब्धि उस ही जीवमें होगी। उसके ज्ञाता पुरुषमें अशुद्धोपलब्धि नहीं हो सकती है।

उपलब्धिरशुद्धासौ परिणामक्रियामयी।
अर्थादौदयिकी नित्यं तस्माद्बन्धफला स्मृता ॥२१२॥

अशुद्धोपलब्धिकी बन्धफलता—उक्त प्रसंगमें जैसे अशुद्धोपलब्धिका वर्णन किया गया है व अशुद्धोपलब्धि पर परिणाम क्रिया वाली है, पर उसमें क्रियारूप परिणाम बना हुआ है याने वह उपलब्धि कर्मके उदयसे होने वाली है और इसी कारण इसको बंधफलसे कहा गया है अर्थात् अशुद्धोपलब्धिका फल है कर्मबन्ध होना। अशुद्धोपलब्धिका अर्थ है अशुद्धकी उपलब्धि करना। प्रतीतिसे और उपयोगसे अशुद्धकी उपलब्धि होना यह तो होता मिथ्यादृष्टिके ही, पर प्रतीतिसे शुद्ध उपलब्धि न हो और नीचली भूमिकामें विकारसे अशुद्धकी उपलब्धि हो जाय, यह नीचली भूमिकामें सम्यग्दृष्टिके भी हो सकता है लेकिन सम्यग्दृष्टिके इसकी गौणता है, क्योंकि वह भीतर और ही प्रतीति बनाये हुए है। तो जैसे कोई पुरुष किसी मुख्य काममें लगा हो और उसे कोई काम विवशताका दे दिया जाय तो उसके लिए वह काम गौण रहता है और मुख्यता उसकी रहती है जिसमें रुचि हो। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिके अशुद्धोपलब्धि गौण रूप है और शुद्धोपलब्धि मुख्यरूप है, किन्तु कषायोंका विजय होनेपर उस अशुद्धोपलब्धिसे उपयोगतः भी दूर हो जाता है। यहाँ यह बतला रहे हैं कि सुखदुःखादिककी जो उपाधि है उन्हींको अशुद्धोपलब्धि कहा गया है, अथवा मैं मारता हूं, मैं दया करता हूं, इस प्रकारकी क्रियारूपसे जो अपना विश्वासरूप परिणाम है वह अशुद्धोपलब्धि है, ऐसी अशुद्धोपलब्धि कर्मबन्धका कारण कही गई है।

अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात् ।
न ज्ञानचेतना किन्तु कर्म तत्फलचेतना ॥२१३॥

अशुद्धोपलब्धिकी कर्मचेतनारूपता व कर्मफलचेतनारूपता—यह अशुद्धोपलब्धि ज्ञानाभास रूप है और चेतनामें जो पाया जा रहा है इस कारणसे बताया तो जायगा आत्मामें ही, लेकिन ज्ञानाभास होनेसे वह ज्ञानचेतना नहीं कहलाती किन्तु कर्मचेतना और कर्मफलचेतना कहलाती है । ज्ञानचेतनामें तो ज्ञानका, आत्मगुणका, आत्मकार्यका अनुभव होता है, किन्तु ज्ञानरूपसे अपना अनुभव नहीं होता, किन्तु मैं करने वाला हूं, मैं सुख दुःख भोगने वाला हूं, इस रूपसे अनुभव हो तो उसे कहते हैं कर्मचेतना, कर्मफलचेतना । मैं मात्र ज्ञाता हूं, जाननहार हूं । जो कुछ हो रहा है बाहरमें, जैसे मैं इसका जाननहार हूँ, इसकी कुछ परिणतिका करने वाला तो नहीं । इस प्रकार मेरेमें जो राग विकार परिणमन होते हों, उनका भी मैं करने वाला नहीं, किन्तु मैं जानने वाला हूं । परिणम गया यह जीव लेकिन इस आत्माने उस प्रकारका कार्य नहीं किया । परिणमन हुआ, फिर भी आत्माने यह काय नहीं किया ।

इसका अर्थ यह है कि आत्मा स्वतंत्रतया परके आश्रय बिना स्वयं जो कुछ कर सकता है, जिस रूप परिणम सकता है वह तो है आत्माका कार्य शुद्ध (प्योर) कार्य, केवल आत्माके आश्रयसे होने वाला कार्य, और जिसमें परके आश्रयकी अपेक्षा है, पर निमित्त है ऐसे निमित्त और आश्रयसे उत्पन्न होने वाला जो परिणमन है वह मेरा कार्य न कहा जायगा । दृष्टिभेदसे कार्य कह भी सकते हैं । चूंकि आत्मा ही वह परिणमा लेकिन यहां तो कार्य उसे कहा जा रहा है जो परके आश्रय बिना स्वतंत्रतासे होता हो, तो ऐसा रागविकार नहीं है । वह कर्मका निमित्त पाकर आश्रयभूत कारण पाकर अपनी व्यक्ति करता है, इस कारणसे वह आत्माका कार्य नहीं है, अथवा उसमें ज्ञाता आत्मा इस प्रकारसे अनुभव नहीं करता कि इसका मैं करने वाला हूं और इसका मैं भोगने वाला हूं । देखिये—यह एक परम औषधि है । अपने आपका प्रधानतया ऐसा भाव बने कि मैं तो इसका कारण भी नहीं और यह मैं उसके भोगने वाला भी नहीं । देखिये कितनी वेदनायें दूर हो जाती हैं । रागादिक विकार हुए तो जान लिया कि ऐसे अशुद्ध पर्यायमें कर्मका ऐसा निमित्त होनेपर यह बात बन जाया करती है, इसको करनेके लिए मैं स्ववश नहीं हूं । इसी प्रकार जो सुख दुःख रूप परिणमन होता है वह भी तो राग विकारकी तरह ही विकार है । तो ये सुख दुःख परिणमन भी अशुद्ध पर्यायकी योग्यतामें कर्मोदयका निमित्त पाकर हो जाते हैं, इनसे भी मैं स्ववश नहीं हूं, मैं इनका भोगने वाला नहीं हूं, किन्तु मैं तो एक शुद्ध चैतन्यस्वरूपको भोगने वाला हूं । इस तरहकी रुचि वाले सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना होती है । यह मिथ्यादृष्टियोंको कहां प्राप्त है ? ज्ञानचेतनामें आत्मीय गुणका अनुभव होता है । ज्ञातादृष्टा रहना, यह है आत्मीय गुण, कला करामात रागादिक विकार होना, भ्रम होना, भूल होना यह आत्माकी कला नहीं,

आत्माका गुण नहीं, किन्तु यह संगदोष है । तो ज्ञानचेतनामें आत्मीय गुणका अनुभवन होता है इस कारण वह बंधका कारण नहीं है, उसको शुद्धोपलब्धि कहा है और अशुद्धोपलब्धिमें क्या होता है ? मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूँ, मैं अमुक कार्यका करनहार हूं । मैं दूसरेको मारूँ, जिलाऊँ आदि, इस प्रकारकी अपने आपकी जो उपलब्धि है, वहां कर्मजन्य उपाधियोंमें तन्मयता है । उपाधि नाम कर्मका भी है और आत्माके विकारभावका भी है, और उपाधि तो असलमें यह ही विकारभाव है । तो इन उपाधियोंमें उसकी तन्मयता रहती है । हां मैं ही तो करनहार हूं याने क्रियापरिणाममें बना रहे ऐसेके अतिरिक्त और मैं कुछ हो ही नहीं सकता । इसके अतिरिक्त कुछ मैं होऊँ तो मैं असत् हूं, मेरी कोई सत्ता नहीं । मेरा सत्त्व तो इसी तरह है, मेरा प्राण जीवन तो इसी तरह है कि मैं ऐसा कार्य करूँ, सुख भोगूँ, दुःख भोगूं, इस ही क्रियामें रहता हुआ वह अपनेको सर्वस्व मानता है । तो यह उपाधियोंमें ही तो तन्मयता हुई और इस स्थितिमें उस ही का स्वादरूप सम्वेदन है, कषायोंरूप अपनेको माननेमें क्या स्वाद आता है ? कोई झूठी आकुलता, संक्लेश, संताप यही स्वाद आता रहता है । तो यह स्वादसम्वेदन अशुद्धोपलब्धिमें है । तो यहाँ यह बताया जा रहा है कि जहां क्रिया परिणाम बन रहा है या फलभोगका परिणाम बन रहा है वह ज्ञानचेतना नहीं, किन्तु कर्मचेतना और कर्मफलचेतना है ।

कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाका स्वामी और फल—इन चेतनाओंका मुख्यता और गौणताकी दृष्टिसे निर्णय करें तो कर्मचेतना होगी त्रस जीवमें और कर्मफलचेतना है स्थावर जीवोंमें मुख्यरूपसे अर्थात् त्रस जीवोंमें कर्मचेतना, कर्मफलचेतना दोनों ही हैं और स्थावर जीवोंमें सिर्फ कर्मफल चेतना है और स्थावरोंमें भी कर्मचेतना, कर्मफलचेतना है और त्रसमें भी कर्मचेतना और कर्मफलचेतना है । जहां जैसी दृष्टि लगाइयेगा उस प्रकारका वहां इसका निर्णय बनता है । स्थावर जीवोंमें कर्मचेतना नहीं है । ऐसा बतानेका कारण यह है कि वे स्थावर त्रस जीवोंकी भांति अङ्गोपाङ्ग न होनेके कारण किसी प्रकारकी क्रिया नहीं कर सकते हैं । यदि जल ढुलक रहा है, वायु चल रही है तो यह समझिये कि एक जैसे अचेतन पदार्थको ठोकर लगे या नीचे गिराये तो वह भी गिर जाता है । कोई जानबूझकर चलनेकी क्रिया की हो ऐसा नहीं है । तो बुद्धिपूर्वक जान समझकर उस योग्यताके न होनेसे ये क्रियाको नहीं कर पाते हैं स्थावर, इस कारण उनके कर्मफलचेतना कही गई है । तो ये दोनों ही अशुद्धोपलब्धि हैं और कर्मबन्धकी मुख्यता रखते हैं । अशुद्धकी उपलब्धि होनेसे कर्मबन्ध है ।

हितमार्गकी स्पष्ट झांकी—मार्ग कितना स्पष्ट है कि अपनेको शुद्ध चित्स्वरूपसे अतिरिक्त किन्हीं भावमय मान लें तो कर्म बँधते रहेंगे और उन सर्व परभावोंसे विविक्त केवल

अपने ही सत्त्वके कारण जो अपना सहज स्वरूप है ऐसा शुद्ध चिन्मात्र, ज्ञानमात्र अपनी प्रतीति रखेगा तो कर्मबन्ध न होगा। अब इतना करनेके लिए दूषित संस्कार वाले जीवको जिसका संस्कार अनादिसे चला आ रहा है उसको तो बहुत पौरुष करना पड़ेगा। सत्संगतिमें रहना, ऐसी ही आत्माकी वार्तामें चिरकाल तक रहना और ऐसे ही विविक्त एकान्त शान्त वातारण में रहना कि जहाँ इस शुद्ध चित्स्वरूपको अनुभवमें लिया जा सके, ऐसी वृत्ति बनानेके लिए बहुत पौरुष करना होगा, पर यह ध्यानमें रखना है कि अपनेको चैतन्यशक्ति भावके अतिरिक्त अन्य भावरूप माननेमें चूंकि वह सविकल्पताकी स्थिति हुई वह कर्मबंध है और एकमात्र चैतन्यस्वरूप ज्ञानमात्र, एक सामान्य प्रतिभासमात्र, जाननमात्र जिसे सीधा गुण रूपसे न देख सकें तो शुद्ध कार्यरूपसे देखें, क्योंकि शुद्ध कार्यकी और गुणकी एकता है, अभेद है, तो उस द्वारसे भी हम शुद्ध स्वरूपका अनुभव कर सकते हैं। मैं ज्ञानमात्र हूं, सहज ज्ञानमात्र हूं। ऐसे चिन्तनमें अगर दिक्कत आती है तो उसके विशुद्ध कार्यरूपसे चिन्तन करें—मैं सामान्य प्रतिभासमात्र हूं, केवल एक जाननहार हूं, इस तरहसे जब अपनेको सामान्यमें पहिचाना जाता है तब वहाँ ज्ञानचेतनाकी जागृति होती है। लोकमें तो तारीफ विशेषकी हुआ करती है। यह पुरुष बहुत विशिष्ट है, इसमें ऐसी-ऐसी विशेषतायें हैं, ऐसा बखान करके लोकमें उसकी तारीफ करते हैं, और लोग उस विशेषको बड़ा आदर देते हैं, किन्तु अध्यात्ममार्गमें आत्मोन्नतिके मार्गमें, आत्माको वास्तविक महान बना लेनेके मार्गमें विशेषका महत्त्व नहीं दिया, किन्तु सामान्यका महत्त्व है। इस सामान्यपर लक्ष्य दें, इस सामान्यकी महिमा जानें, इस सामान्यसे रुचि लगावें, इस ही सामान्य आत्मद्रव्यका आलम्बन लें, यह आस्था, प्रतीति, आदर, आलम्बन, दृष्टि, लक्ष्य सब सामान्यका बताया जा रहा है। इस अध्यात्ममार्गमें सामान्यका महत्त्व है, बल्कि विशेषका आलम्बन अशुद्धोपलब्धि है। उसमें भी विकाररूप विशेषका आलम्बन महती अशुद्धोपलब्धि है। ये कर्मबन्धके कारण हैं, अशान्तिके कारण हैं, जन्ममरणरूप संसार परम्पराके कारण हैं, ऐसा बताकर विशेषको अनादेय बताया गया है। तो हमारा कर्तव्य है कि हम अपने उपयोगको सामान्य स्थितिमें रखें। लोकमें भी इस सामान्य स्थितिको कभी-कभी बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। जैसे कभी किसी शहरमें झगड़ा फसाद हो जाय, सारे नगरमें खलबली मच जाय, पर कुछ समय बाद जब उस झगड़ेपर कुछ काबू पा लिया जाता है, मामला शान्त हो जाता है तो अन्य जगहोंको समाचार दिया गया है कि अब नगरकी सामान्य स्थिति है, याने अब झगड़ा फिसादकी कोई बात नहीं रही। तो ये लौकिक जन जब कुछ कुट पिटसा जाते हैं तब सामान्यको भी महत्त्व दे देते हैं। अगर कुटना पिटना न होता तो इस सामान्यका आदर कौन करता? तो सामान्यका आलम्बन अपने आपमें विशुद्ध गुण और कार्यका लक्ष्य यह जीवके लिए हितकारी है। इस ही में ज्ञानचेतनाकी पुष्टि है।

इयं संसारिजीवानां सर्वेषामविशेषतः ।
अस्ति साधारणीवृत्ति र्न स्यात् सम्यक्त्वकारणम् ।।२१४।।

सम्यक्त्वकी अकारणभूत कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाकी सर्व संसारी जीवोंमें साधारणी वृत्ति—यह अशुद्धोपलब्धि सभी संसारी जीवोंमें सामान्यतया पायी जाती है, और यह एक साधारण वृत्ति है, सभी जीवोंमें है । एक अन्तः शुद्ध परमार्थकी दृष्टिसे देखा जाय तो अशुद्धोपलब्धि प्रभुता पानेसे पहिले तक है । उपयोगकी अपेक्षा देखा जाय तो यह अशुद्धोपलब्धि प्रमत्त अवस्था तक है । प्रतीतिकी अपेक्षा देखा जाय तो यह अशुद्धोपलब्धि सम्यक्त्व होनेसे पहिले तक है । कहीं किसी रूप, कहीं किसी रूप यह अशुद्धोपलब्धि पायी जाती है । सभी संसारी जीवोंमें अविशेषतया फिर भी अशुद्धोपलब्धि सम्यक्त्वका कारण नहीं अथवा यह सम्यक्त्वका काम नहीं, सम्यक्त्वपूर्वक नहीं । जैसे चतुर्थ गुणस्थानमें भी जो रागपरिणमन चल रहे हैं, सम्यक्त्व भी चल रहा है, राग भी चल रहा है और रागसे निवर्तमान भी हो रहा है, इस स्थितिमें क्या कोई यह कह देगा कि यह राग सम्यक्त्वपूर्वक है या सम्यक्त्वके कारण है या यह राग सम्यक्त्वका कारण है ? न तो रागका कारण सम्यक्त्व है, न सम्यक्त्व का कारण राग है, और न सम्यक्त्वपूर्वक राग है किन्तु राग है अपने कारणसे और सम्यक्त्व है अपने स्वभावसे । तो उपयोगरूप अशुद्धोपलब्धि भी जहाँ है वहाँपर भी इस अशुद्धोपलब्धि का सामान्यके साथ कार्यकारणभाव नहीं है, उसका रोजिगार न्यारा है और सम्यक्त्वकी परिणतिकी बात उसकी अपने स्वभावसे है । तो यह शुद्धोपलब्धि समस्त संसारी जीवोंके सामान्य दृष्टिसे पायी जा रही है, इसी कारण इसे साधारणी वृत्ति कहा है अथवा उपलब्धिमात्र सब संसारी जीवोंके पायी जा रही है पर उपलब्धि मात्र सम्यक्त्वका कारण नहीं है, क्योंकि उपलब्धि तो सभी जीवोंमें प्राप्त है, वह अपने कारणोंसे है और सम्यक्त्व अपने कारणोंसे होता है । सम्यक्त्वका परमार्थभूत कारण तो शुद्ध आत्मद्रव्यका आश्रय है और वहाँ निमित्त कारण सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियोंका अनुदय, उपशम, क्षय कारण है और आश्रयभूत कारण उस समयमें कोई भी परवस्तु नहीं है, क्योंकि कुछ भी परवस्तु उपयोगमें रहे तो उससे शुभ या अशुभ विकल्पका ही निर्माण है और उस स्थितिमें सम्यक्त्व नहीं होता है । इस कारण उपलब्धि मात्र या शुद्धोपलब्धि ये सम्यक्त्वके कारण नहीं हैं ।

न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम् ।
शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक् ।।२१५।।

आत्मोपलब्धिमात्रमें सम्यक्त्वकी अनियमात्मकता तथा आत्मोपलब्धिकी शुद्धता व अशुद्धतामें सम्यक्त्वके सद्भाव व अभावका निर्णय—आत्मोपलब्धि कहते हैं आत्माका ज्ञान करनेको । बोध बिना कोई जीव नहीं है, सबको अपने आत्माका बोध है । अन्तर यह है कि

कोई आत्मा किसी रूपमें जान रहा है कोई किसी रूप। यदि अपने आत्माका कुछ बोध न हो तब सुख दुःख वगैरह ये कहांसे हो सकते हैं संसारी जीवोंमें? जितने जीव हैं सबको अपना बोध है, तभी तो कीड़ेको अगर जरा भी छेड़ते हैं तो वह अपने प्राणोंकी रक्षा करनेको भागता है। तो उसे मैं का तो बोध है। अब उस मैं को किस रूपमें जाना है यह उसकी एक अलग बात है। तो आत्मोपलब्धि सभी जीवोंमें है, लेकिन सम्यग्दृष्टि जीवोंमें आत्माकी आत्मारूपसे उपलब्धि है और मिथ्यादृष्टि जीवोंमें आत्माकी पर्यायरूपसे उपलब्धि है। तब यहाँ यह निर्णय होगा कि आत्मोपलब्धि सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं है। आत्माकी उपलब्धि हुई इसे सम्यक्त्व नहीं कहते। आत्माकी आत्माके रूपमें उपलब्धि होना इसका नाम है सम्यग्दर्शन। सो आत्मोपलब्धिमात्र सम्यग्दर्शन रूप नहीं है। यदि वह उपलब्धि शुद्ध है तब तो सम्यग्दर्शन है और यदि वह उपाधि अशुद्ध है तो सम्यग्दर्शन नहीं है। सम्यक्त्वमें कितना सहज आनन्द बसा हुआ है जो आनन्द तीनों लोकके वैभव भी इकट्ठे हो जायें तो उनसे न मिल सके, इन जड़ पदार्थोंसे कोई आनन्दकी किरण निकलकर आयगी क्या? अरे वे तो आनन्दसे शून्य हैं, जो परजीव हैं, बन्धु मित्र हैं वे जीव जो आनन्दमय हैं लेकिन उनका आनन्द वहाँसे निकलकर यहाँ आयगा क्या? नहीं आ सकता। तो परका आश्रय करनेसे आनन्द न मिलेगा और स्व का भी पर्यायरूपसे आश्रय करनेपर, भेदरूपसे आश्रय करनेपर भी आनन्द न मिलेगा। जिसकी जो विधि है वह उस ही विधिसे प्राप्त हो सकता है। आत्माका आनन्द चाहिए तो सामान्य तथा अखण्ड आत्मद्रव्यका आश्रय लें अर्थात् सारे विकल्प छोड़ें और निर्विकल्प सामान्य स्वरूप निज स्वभावका आश्रय लें तो वहाँ आनन्द होता है। कोई मोही जन इस बातको सुनकर यह शंका करे कि लो यहाँ तो सारा छुटा दिया? आनन्द कहाँसे मिलेगा? न घर रहा, न भोजन रहा, न कोई वस्तु रही, और कह रहे हैं कि सामान्य आत्मद्रव्यका आश्रय लो, तो वहाँ आश्रय क्या मिलेगा? लेकिन उनकी ऐसी शंका भ्रमपूर्ण है। जगतमें भोजन, वस्त्रादिक का जो आश्रय करके परिणाम बनता है वह दुःखरूप है, उनसे यह प्राणी संतप्त रहता है। उनमें शान्ति नहीं है। आनन्द तो उसे कहते हैं जहाँ रंचमात्र भी आकुलता न हो। अब परख लीजिए कि संसारकी कौनसी स्थिति ऐसी है कि जहाँ आकुलताका अभाव हो? चाहे चक्री हो जाय, चाहे राजा महाराजा बने अथवा बड़ा धनी, लखपति, करोड़पति, अरबपति हो जाय, क्या वे सब साधन निराकुलताके हैं? निराकुलता है तो उस ही एक सामान्य अखंड आत्मद्रव्यके आश्रयसे है जहाँ और सब सिट्टी भूल जाती हैं, कोई विकल्प नहीं रहता। तब उस अखण्ड आत्मद्रव्यकी उपलब्धि है तो सम्यग्दर्शन है और पर्याय रूपसे उपलब्धि है कि यही मात्र मैं हूँ तो वह सम्यक्त्वका लक्षण नहीं है।

ननु चेयमशुद्धैव स्यादशुद्धा कथंचन ।
अथ बन्धफला नित्यं किमबन्धफला क्वचित् ॥२१६॥

आत्माकी अशुद्धोपलब्धिके विषयमें तथा बंधफलताके विषयमें शंकाकारकी आशंका— अब यहाँ शंकाकार कुछ जानना चाह रहा है। शङ्काकारका यह पूछना है कि जो आत्मोपलब्धिकी बात कही है वह आत्मोपलब्धि क्या अशुद्ध ही है या किसी प्रकार कभी ही अशुद्ध होती है? शङ्काकारके आशयमें यह बात बनी हुई है कि जो वस्तु जैसी है वैसी ही रहा करती है। यदि अशुद्ध हो तो अशुद्धकी उपलब्धि होगी। यदि शुद्ध है तो शुद्धकी उपलब्धि होगी। जैसे यहाँ हम जिस पदार्थको देखते हैं वह वैसा ही है तभी तो वह ज्ञानमें आ रहा। चौकी देखा तो वहाँ चौकीकी उपलब्धि है, वह क्या अशुद्धोपलब्धि है? यानें आत्मोपलब्धि अशुद्ध ही है अथवा किसी समय किसी प्रकार कोई ढंगमें अशुद्ध है? अर्थात् सदा सर्वथा अशुद्ध नहीं है। शङ्काकारके यहाँ दो पक्ष रूपमें शङ्का हुई है अथवा उसने पूछा है उस ही के साथ दो पक्षोंमें एक प्रश्न और हो रहा है कि वह आत्मोपलब्धि क्या सदा बन्धफल वाली है? अर्थात् सदा बन्ध करता रहता है अथवा कभी बन्धका कारण नहीं है? वह आत्मोपलब्धि जिसका कि ऊपरके श्लोकमें विवरण दिया गया है वह आत्मोपलब्धि क्या अशुद्ध ही है अथवा कभीका बन्धका कारण ही है अथवा नहीं? ऐसे चार पक्षोंमें शङ्काकारके ये पक्ष हुए हैं—शङ्काकारके आशयमें यह बात है कि जो जीव हैं सब एक समान हैं। जो बात होगी वह सबमें होगी। यदि अशुद्धोपलब्धि है तो अशुद्धोपलब्धि सर्वत्र होगी, और फिर वह बन्धका कारणभूत है। तो बन्धका ही कारण होगा, इस प्रकारका आशय रखकर यहाँ दो पक्षोंमें प्रश्न किया गया है कि अशुद्ध ही है उपलब्धि या नहीं अथवा बन्धफल वाली ही है अथवा नहीं, अब उसके उत्तरमें आगेका श्लोक कह रहे हैं।

सत्यं शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवा शुद्धास्ति तद्विना ।
असत्यबन्धफला तत्र सैव बन्धफलाऽन्यथा ॥२१७॥

सम्यक्त्व होनेपर उपलब्धिकी शुद्धता व अबन्धफलता तथा सम्यक्त्वके न होनेपर उपलब्धिकी अशुद्धता व बन्धफलता बताते हुए उक्त शंकाका समाधानीकरण— शङ्काकारने जो उक्त श्लोकमें शङ्का की है उसके आश्रयके अनुसार वह ठीक है। अब भी वास्तविकता यह है कि वही उपलब्धि सम्यक्त्वके होनेपर शुद्ध कहलाती है और सम्यक्त्वके न होनेपर अशुद्ध कहलाती है। शङ्काकारके आशयमें यह पूछा कि उपलब्धि की है आत्माकी तो आत्मा ही तो समझा उसने। अज्ञानी हो उसने भी आत्माकी उपलब्धि की है, क्योंकि आत्मोपलब्धि बिना सुख दुःखका वेदन किधर होगा? ये अचेतन पदार्थ अपने आपकी उपलब्धि नहीं कर पाते हैं। इनमें ज्ञान ही नहीं है। तो इनमें सुख दुःख क्या है और चेतना ये अपनी उपलब्धि करते

हैं और ये अपने आपकी उपलब्धि कर रहे हैं यह बात बहुत स्पष्ट सिद्ध है, अभी किसी पशु पक्षीको छेड़ो तो वह अपनी जान बचानेकी कोशिश करता है। उसे अपनी उपलब्धि है कि यह मैं हूं और कहीं मेरा नाश न हो जाय—ऐसी तो सभी जीवोंमें बात पड़ी हुई है। ऐसे ही आश्रयको लेकर यहां शंकाकारने पूछा था कि आत्मोपलब्धि सब संसारी जीवोंमें है और संसारी ही क्या सर्व जीवोंमें है। तो वह अशुद्ध ही क्यों कहा जाय अथवा शुद्ध ही क्यों कहा जाय ? जो हो सो हो। अशुद्ध है तो अशुद्ध ही है और बन्धफल वाली है तो बन्धफल वाली है। उसके समाधानमें यह स्पष्ट किया है कि सामान्यतया तो आत्मोपलब्धि है वह जो अज्ञानीको है अथवा ज्ञानीको है अथवा प्रभुके है। लेकिन वह उपलब्धि किस रूपमें है इसके भेदसे उपलब्धिमें भेद पड़ जाता है। यदि एक शुद्ध आत्मद्रव्यके रूपमें उपलब्धि है अर्थात् वह शुद्धोपलब्धि है और पर्यायरूपमें मैं अमुक जातिका हूं, अमुक कुलका हूं, ऐसी पोजीशनका हूं आदि तो वह अशुद्धोपलब्धि है। सम्यक्त्वके होनेपर अर्थात् आत्माको आत्माके सही रूपसे उपलब्धि करनेपर वह उपलब्धि शुद्ध है और सम्यक्त्व न होनेपर अर्थात् आत्माको उस शुद्ध चिन्मात्रके रूपमें उपलब्धि न करनेपर और फलतः पर्यायरूपमें अनुभव करनेपर वह अशुद्धोपलब्धि होती है। तो जो सम्यक्त्वके अभावमें उपलब्धि है वह तो बोधफल वाली है और सम्यक्त्वके होनेपर जो उपलब्धि है वह बन्धफल वाली नहीं है।

ननु सद्दर्शनं शुद्धं स्यादशुद्ध मृषा रुचिः ।
तत्कथं विषयश्चैकः शुद्धाशुद्धविशेषभाक् ॥२१८॥
यद्वा नवसु तत्त्वेषु चास्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
आत्मोपलब्धिमात्रं वै साचेच्छुद्धा कुतो नव ॥२१९॥

उपलब्धिका विषय एक आत्माके होनेपर भी शुद्ध अशुद्धकी विशेषताके कारणकी जिज्ञासा—यहां शङ्काकार कहता है कि सम्यक्त्व होनेपर जो उपलब्धि हुई है वह भी आत्मा की ही उपलब्धि है और सम्यक्त्व होनेपर भी जिन जीवोंको उपलब्धि है वह भी आत्माकी उपलब्धि है। आत्मामें विषय एक है। जैसे जो सीपको चांदी जान रहा है उसके विषयमें भी वही दृष्टगत पदार्थ है और जो सीपको सीप ही जान रहा है उसकी दृष्टिमें भी वही पदार्थ है लेकिन उनमें एक पुरुष तो कहता है ,कि यह चांदी है और एक कहता है कि यह सीप है। तो इसी प्रकार समझिये कि सम्यग्दृष्टि जनोंने जिसकी उपलब्धि की है वह भी आत्मा है, मायने वही है। आत्माका अर्थ है चैतन्य जीव। लेकिन यहां इस रूपमें न लें किन्तु यहां मानें कि आत्मा अपने आपको कहते हैं। तो जिसने सम्यक्त्वके अभावमें जैसी कुछ उपलब्धि की है वह भी अपने आपकी उपलब्धि है और सम्यग्दृष्टि जीवने जो उपलब्धि की है वह भी अपने आपकी है। तो दोनों उपलब्धियोंमें जब विषय एक रहा वही मात्र तो उसको कहीं शुद्ध कह

देना और कहीं अशुद्ध कह देना यह बात कैसे घटित होगी ? शङ्काकारका आशय है कि जिसको आपा रूपसे मैं हूं समझा है तो वह तो एक ही है, स्वयं स्वयंकी उपलब्धि सम्यक्त्वमें हुई और स्वयंकी उपलब्धि मिथ्यात्वमें हुई । अब उनमें कोई शुद्ध है, कोई अशुद्ध है, ऐसा भेद कैसे कर दिया गया है ?

सम्यग्दृष्टिकी नवतत्त्वोंमें हुई आत्मोपलब्धिको शुद्ध माननेपर पदार्थकी नवरूपता न रहनेकी आशंका—अथवा दूसरी बात सुनो--सम्यग्दृष्टि जीवके ९ तत्त्वोंकी भी उपलब्धि है या नहीं ? सोचो जरा शङ्काकार अपनी शङ्का पुष्ट कर रहा है । सम्यग्दृष्टि क्या ९ पदार्थोंसे अनभिज्ञ है ? वह क्या केवल उस शुद्ध आत्मद्रव्यको ही समझ रहा है ? उस आस्रव बंध सम्वर निर्जरा आदिकमें उपलब्धि नहीं है । तो उसे ९ तत्त्वोंके बारेमें भी तो उपलब्धि चल रही है । तो अब वहां यह बतलाओ कि वह जो उपलब्धि है, जो अपने आपको सम्वर रूपसे भी समझता है, निर्जरा रूपसे भी अपनी अवस्थाओंको जानता है । मैं मुक्त होऊँगा तो ऐसा केवल अवस्थारूपमें होऊँगा, इसका भी कुछ परिचय ही नहीं लिया गया । वह मोक्षतत्त्वकी उपलब्धि हुई । तो ९ पदार्थोंके विषयमें सम्यग्दृष्टिके आत्मोपलब्धि है । अब उस आत्मोपलब्धिको तुम अशुद्ध कहोगे तो ९ पदार्थ फिर नहीं ठहर सकते । शुद्धमें भेद कहां, ९ पदार्थ कहां ? जो अशुद्ध कहा गया तो वह सम्यग्दृष्टि रहा कहां ? उस सम्यग्दृष्टिके ९ पदार्थविषयक उपलब्धि अशुद्ध है तब भी गति नहीं है । आचार्य महाराज आपकी कि समाधान दे सकें । और यदि वह अशुद्ध है तो ९ पदार्थ कहां ठहरे ? तब यह कैसे कह दिया गया कि आत्मोपलब्धि कोई शुद्ध होती है और कोई अशुद्ध होती है ।

नैवं यतः स्वतः शश्वत् स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि ।
तत्राभिव्यञ्जकद्वैधाभावसद्भावतः पृथक् ॥२२०॥

उक्त जिज्ञासाओंके समाधानमें वस्तुके एक होनेपर भी अभिव्यञ्जकके भेदसे उपलब्धिमें स्वादुभेद होनेके कथनकी भूमिका—अब शङ्काकारकी उक्त शङ्काका यहाँ समाधान दिया जा रहा है कि शङ्काकारने जो यह समझा कि उपलब्धि है तो उपलब्धि है और जिसकी है उसकी है और वह एक ही किस्मकी हुआ करती है, इसी कारण शुद्ध अशुद्धका भेद न डालना चाहिए । और जब यह बंधफल वाला है तो सदा रहेगा । अरे बन्धफल वाला नहीं है तो कभी न होंगे, ऐसे अनेक परिणमन और अभी है वह परिणमन तथ्यकी जानकारी बिना उठा है । वस्तु यद्यपि एक है, सम्यग्दृष्टिने भी अपने आपकी उपलब्धि की, सम्यग्दृष्टिने भी अपने आपकी उपलब्धि की है । जब कभी कोई विपत्ति आयी, कहीं तेज आग लग गयी या कोई अचानक साँप निकल आया तो गोष्ठीमें बैठे हुए १० आदमी भी हों तो सब अपने आपके प्राणोंको लिए हुए भाग जायेंगे । वहाँ मित्रताका ख्याल न रहेगा । क्योंकि सभीको अपनी-

अपनी उपलब्धि है। अगर एकका दूसरेकी उपलब्धि होती तब तो यह बन्धन रहता कि अरे सांप निकल आया तो चलो मित्रोंको भी साथ उठा ले चलें, क्योंकि कहीं सर्प काट न ले। लेकिन ऐसा तो नहीं होता। सबको अपने आपकी ही उपलब्धि है, तो यों उपलब्धि सबको अपनी है और वह है एक वस्तु, लेकिन उस एकके अभिव्यञ्जकके भेदसे वहाँ दो भेद पड़ जाते हैं—शुद्ध और अशुद्ध अर्थात् सम्यक्त्व अभिव्यञ्जक तब होता है जब वहाँ आत्मा आत्मारूपसे जाना गया है और जब मिथ्यात्व अभिव्यञ्जक बन गया है तो आत्मा अनेक पर्याय विशेषों रूप में जाना जा रहा है। आत्माकी शुद्ध सहज जो शक्ति है उसका भान मिथ्यात्वमें नहीं होना। तो जैसे सूचक होता है अभिव्यक्ति करने वाला होता है उस प्रकार वस्तुकी प्रतीति होती है। तो यों अभिव्यञ्जकके भेदसे एक वस्तु होनेपर भी उसमें दो प्रकारके स्वादभेद हो जाते हैं। लोकमें भी देख लो दही दही ही है, उसमें विशेष नमक डालकर खाया तो और प्रकारका स्वाद आया, विशेष मीठा डालकर खाया तो और प्रकारका स्वाद आया। यों अभिव्यञ्जक साथमें जिस प्रकारका है उस प्रकारका स्वाद आता है। यह तो एक मोटी बात कही है, और भी बारीक बात ले लो। कई प्रयोग ऐसे होते हैं कि उनमें नींबूका रस डालकर औषधि खायी जाय तो उस रोगको हटा देती है और उसीमें जरासा मीठा या अन्य कोई चीज डाल दी गई तो वह रोग बढ़ा देनेमें कारण हो जाता है। तो जैसे अनुपानके भेदसे उनमें रोग शमनका भेद हो गया। यों ही समझिये कि सबने अपने आपकी उपलब्धि की है इस दृष्टिसे तो लक्ष्य सबका एक रहा। सम्यग्दृष्टिने भी अपने आपको ही समझा और अज्ञानीने भी अपने आपको ही समझा, लेकिन भ्रम और अभ्रम—इन दो प्रकारकी स्थितियोंमें वहाँ तो बड़ा भारी अन्तर हो रहा है। एकको इस रूपमें उपलब्धि है कि यही मात्र मैं हूं और मैं मनुष्य हूं, फलाने घर वाला, फलाने माता-पिताका पुत्र, ऐसी पोजीशन वाला आदि, इसी तरहका मैं हूं, और मैं होता क्या हूं ? यह बात कहीं असत्य है क्या ? इतनी जायदाद वाला हूं। देख नगरपालिका में मेरी इस जायदादकी पक्की रजिस्ट्री है, यह किसी दूसरेकी हो कैसे सकती है ? यह तो मेरी है, और अदालतमें मामला जायगा तो मेरी ही विजय होगी। निर्णायक लोग भी यही कहेंगे कि यह मकान इन ही का है। तो यह मेरा ही तो मकान है, झूठ कैसे है ? ऐसी स्थितियोंकी बात चित्तमें रखता हुआ वह अपनी उपलब्धि कर रहा है, वह भ्रमकी बात है, जब कि सम्यग्दृष्टिको इस प्रकार आत्मोपलब्धि है कि मेरा मात्र तो यह मैं अपने सत्त्वके कारण जो सहज हूं सो ही हूं। बाकी तो औपाधिक भी पर हैं, पर भी पर हैं। तो यों अभिव्यञ्जकके भेदसे उपलब्धिके भेद होते हैं।

शुद्धं सामान्यमात्रत्वादशुद्धं तद्विशेषतः।
वस्तु सामान्यरूपेण स्वदते स्वादु सद्विदाम् ॥२२१॥

अभिव्यञ्जकके भेदसे स्वादुभेद—जब उपयोगका विषय सामान्य मात्र होता है तब तो समझना चाहिए कि शुद्ध उपलब्धि है और जब वस्तुकी विशेषता विषयभूत हुई तो समझना चाहिए कि अशुद्धोपलब्धि है। जो वस्तुका सामान्य रूपसे स्वाद करता है वह पुरुष सम्यग्ज्ञानी है, सम्यग्ज्ञानका स्वाद वस्तुके सामान्य स्वरूपसे होता है। इस उपयोगको और क्योंकि वह उपयोग मनके अवलम्बनसे परिचय करता है ऐसे मनसे भी कह लीजिए, इस मनको इस उपयोगको बहुत समझाकर बड़ी धीरतापूर्वक विकल्पसे हटाकर ही गुप्त अपने आपमें अन्तःप्रकाशमान वस्तुकी जो रुचि है यही एक काम जीवनमें करनेके लिए शेष रह गया है। उपाय इसका होना चाहिए कि बाहरी पदार्थ मेरे चित्तमें आश्रयभूत न हों, उनके विकल्प न जगें और मैं ऐसी स्थितिमें अपनी स्वरक्षा कर लूं। आत्मरक्षाके लिए क्या नहीं करना पड़ता है? लोकमें भी मनुष्य अपनी रक्षाके लिए सभी प्रकारके उपाय करते हैं—धनार्जन करना, घर बनाना, वस्त्र मंगाना आदि, लेकिन लोगोंकी आत्मरक्षा कुछ और प्रकारसे ही उपयोगमें है। ज्ञानी जीवको भी आत्मरक्षा करनी होती है तो वह इसी प्रकार रक्षा करता है कि मेरे उपयोगमें विकल्प न समाकर, मैं अविकल्परूपसे रहता हुआ सामान्य प्रतिभासमें रहा करूँ ऐसी वृत्ति होती है ज्ञानीकी आत्मरक्षाके लिए। इस वृत्तिमें ज्ञानीको वस्तु सामान्यरूपसे स्वादमें आता है। भूतार्थका विषय यही है। वस्तु स्वयं अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण सहज जिस भावमय हो उस रूप निरखना सो यह भूतार्थनयका विषय है। यद्यपि वस्तु पर्यायरूप भी परिणमती है, नाना पर्यायोंरूप होती रहती है, उसमें जब अनेक भी पर्यायें समझायी जाती हैं तब तो उसका विवरण समझमें आता है। सो ये सब बातें यद्यपि बिल्कुल हटाने लायक नहीं हैं, हैं वे मगर उनको जानकर उनका विरोध न करके मध्यस्थ होकर और अवलम्बन लेना है, उस सद्भूत भावका जो स्वयं सहज स्वभावरूप है। फल यह होगा भूतार्थका आश्रय लेनेपर कि निर्मल परिणमन चलेगा, और क्यों निर्मल चलेगा कि वहाँ कोई पराश्रय न रखे, किसी विकल्पको अवकाश नहीं दे रहा, और एक शुद्ध सहज ज्ञानज्योतिका ही आलम्बन है उपयोगमें, तो उसमें फिर बखेड़ा कहाँसे रहेगा? तो इस भूतार्थका आश्रय करनेपर भी विशेषोंसे छुटकारा नहीं रह सकता। भूतार्थका आश्रय करनेपर निर्मल पर्यायरूप विशेष होने लगा। पर्याय कहाँ जायगा? तो विशेषोंको झूठ कह दिया जाय क्या? भूतार्थका अर्थ झूठ कह दिया जाय सो तो नहीं है। विशेष है और ऐसे अभूतार्थ तो शुद्धमें भी चल रहे हैं। शुद्धमें जो केवल ज्ञानादिक शुद्ध परिणमन है वह भूतार्थका विषय है या अभूतार्थका? अभूतार्थका विषय है। शुद्ध परिणमन भी पर्याय है, अशुद्ध परिणमन भी पर्याय है। गुणभेद, पर्यायभेद ये सब अभूतार्थके विषय हैं। तो क्या केवल ज्ञानादिक झूठे हो गए? वे तो यथार्थ हैं। तो जैसे वे अभूतार्थ हैं फिर भी शुद्ध हैं, उन्हें मना नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार

संसार-अवस्थामें भी जो औपाधिक भाव हो रहे हैं विशेष परिणमन हो रहे हैं इन्हें झूठ नहीं कहा जा सकता। अभूतार्थ तो इसको इस कारण कहते हैं कि अनादि अनन्त अहेतुक स्वतः शुद्ध शाश्वतभाव नहीं है। जो शाश्वत भाव हो, जो स्वतः शुद्ध भाव हो, अनादि अनन्त हो उसको कहते हैं भूतार्थ। तो ऐसे भूतार्थका जब आश्रय किया जाता है तो वहाँसे ये निर्मल विशेष प्रकट होते ही हैं, पर स्वाद किसका आ रहा है? वस्तुका सामान्य रूपसे स्वाद आ रहा है। अब वही स्वाद एक विशेष है, पर्यायरूप है तो रही आये, पर इस पर्यायको भी आश्रय प्रतीति उस सम्यग्दृष्टिके नहीं होती।

स्वदते न परेषां तद्यद्विशेषेप्यनीदृशम्।
तेषामलब्धबुद्धित्वाद् दृष्टेर्दङ्मोहदोषतः ॥२२२॥

विशेषोपलब्धिमें भी सम्यग्दृष्टिके स्वादकी विलक्षणता एवं दृष्टिमोहके दोषसे मिथ्यादृष्टिके स्वादकी कल्मषता—सम्यग्दृष्टि पुरुष स्वाद तो वस्तुका सामान्यरूपसे लेता है, लेकिन जब जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप—ये सब पदार्थ हैं तो क्या इनको वह जानता नहीं? और इनके जानते समयमें क्या उनकी उपलब्धि नहीं हो रही है? क्या उपयोगमें वे विषय नहीं हो रहे हैं? होते हैं। इन विशेषोंको जानता है अथवा भूतार्थका आश्रय करनेपर उसमें विशेष तो होता ही रहता है, ऐसी वस्तुकी विशेषता भी हो रही है, फिर भी सम्यग्दृष्टिका स्वाद विलक्षण स्वाद है। मिथ्यादृष्टि तो इन विशेषोंमें स्वाद लेता है मलिनताका और सम्यग्दृष्टि इनमें स्वाद लेता है समीचीनताका, तो सम्यग्दृष्टिका स्वाद मिथ्यादृष्टियोंसे विलक्षण है, लौकिक पदार्थोंको भी जान रहा है सम्यग्दृष्टि जो घरमें रह रहा हुआ अविरत सम्यग्दृष्टि है वह घरको, कुटुम्बको जान नहीं रहा क्या? जानता है, पर जानता हुआ भी चूंकि अन्तःप्रकाश विशुद्ध हो गया है, यथार्थ निर्णय हो गया है कि मैं तो यह हूं। बाकी सब विडम्बनायें हैं, विभाव हैं, माया हैं। तब उसके अन्तरङ्गका स्वाद कैसे आता है? वह मिथ्यादृष्टियोंको दुर्लभ है। मिथ्यादृष्टि जीव जब इन ही विशेषोंको जान रहे हैं तो उनका मलिन स्वाद है, क्योंकि दर्शन मोहका आश्रय है। उस दोषके कारण दृष्टि उनकी मलिन है। अभिप्राय उनका और है, यों उनका चूंकि अभिप्राय बुद्धि विकल्प इनकी उपलब्धि हो रही है, इस कारण मिथ्यादृष्टियोंका स्वाद मलिन स्वाद है। अब मलिन स्वाद होनेका कारण यह है कि वस्तुका स्वरूप और भाँति है और वह किसलिए है उसको सही न जानकर जैसा जानता है उसे जानकर अपने विषयकषायके प्रयोजनकी ही बात उसमेंसे निकालता है। जिसे जाना या उसे इष्ट मानेगा या अनिष्ट? उसमें कोई विकल्प बनेगा तो विषयकषायोंकी वृत्तिका प्रयोजन बना लेता है, इस कारणसे उसको क्षोभ रहता है और उसका स्वाद मिलता रहता है।

यद्वा विशेषरूपेण स्वदते तत्कुदृष्टिनाम् ।
अर्थात् सा चेतना नूनं कर्मकार्येऽथ कर्मणि ॥२२३॥

मिथ्यादृष्टिको कर्म व कर्मफलमें चेतनाका स्वाद—अथवा मिथ्यादृष्टिके स्वादके सम्बंध में यह निरखिये कि चूंकि उनकी चेतना, उनका उपयोग निश्चयसे कर्मफलमें और कर्ममें लगा रहता है इस कारण उनको तो विपरीत स्वाद आता है । ज्ञानीके जो भी भाव होता है वह भाव या तो किसी कर्ममें अहंकार भाव रखे हुए है या कर्मफलमें भोगनेका भाव रखे हुए है । जब मूलमें यह बुद्धि विपरीत है तो स्वाद तो विपरीत होगा ही । जैसे कोई लौकिक बड़ा पुरुष है, वह किसी भी समय अपना अहंकार प्रकट नहीं करता, बल्कि चार सज्जनोंके बीच इस प्रकार बोलता है कि मैंने क्या किया, यह तो सब ऐसा ही होना था, आपका प्रताप था, ऐसा ही होना था, सो हो गया····इतने शब्द बोलनेपर भी भीतरमें उस कार्यके प्रति 'मैंने किया' यह बुद्धि उसकी बनी हुई है । वह बुद्धि मिटी नहीं है । किन्तु अपने उस कर्तव्यको इस तरहसे पेश कर रहा है कि सज्जनोंके बीच एक शोभा बन जाय और एक शृङ्गारसा हो जाय । यह एक बोलनेकी पद्धति है, मगर भीतरमें यह क्रियाविष हट गया हो सो बात नहीं है । इसी प्रकार सुख दुःख भोगनेमें भी कोई पुरुष यदि ऐसे शब्द कहे कि यहाँका सुख तो कल्पित है, झूठा है, सुखाभास है आदि, इतनेपर भी सम्भव है कि यहाँके सुखोंको ही वह सुख समझ रहा हो, लेकिन उसने ऐसा समझ लिया कि इस तरहका बोलना यह भी एक सुखकी ही चीज है, इन सुखोंके ही भोगनेकी उसमें वाञ्छा लगी हुई है । तो क्रियाविष और भोगविष इन दोनोंको दूर किया जाना एक बहुत पौरुषसाध्य बात है । बल्कि इतना तक हो जाता है सम्यग्दृष्टिके कि वह समझता है कि मैं सब जीवोंके लिए एक फालतू हूं, मैं किसीसे भी परिचित नहीं हूं, मेरा किसीसे भी कुछ वास्ता नहीं है, इस तरहसे वह सबसे अपनेको एक निराला ही समझता है, और इस तरहसे निराला समझता है कि सारा जगत भी यदि विपरीत हो जाय, निंदा करे, अपयश करे तिसपर भी वह अपनेके अक्षुण्ण निरखता है । यहां अक्षुण्ण हूँ, परिपूर्ण हूं, सन्तुष्ट हूं, इस तरहका चिन्तन ज्ञानी पुरुषके होता है, लेकिन यह चेतना मिथ्यात्वके उदय में असम्भव है । वहां तो कर्ममें और कर्मफलके विषयमें ही चेतना लगी हुई है । ज्ञानके अन्य पदार्थमें 'मैं इसे करता हूं' इस प्रकारके वेदनको, चेतनको कहते हैं कर्मचेतना । जैसे किसी परपदार्थको, मकानको, पुस्तकको या अन्य किसी चीजको मैंने किया अथवा भीतर उत्पन्न सिवाय अन्य भावमें हो रहे इस विकल्पको, विकारको मैंने किया तो इस प्रकार परमें और परभावमें क्या जीवने (मैंने) किया, इस प्रकारका विकल्प होना यह है कर्मचेतना ?

स्वभावमें कर्म व कर्मफलका अभाव—जब अपने आपकी शुद्ध शक्तिपर दृष्टि की जाती

है तो प्रतीत होता है कि मेरी शक्ति विकारके लिए नहीं है। मेरा स्वभाव तो अपने सहज स्वभावरूप परिणमनोंका रख रहा है। तो मेरा विकार कार्य न बने, मैंने विकारको नहीं किया किन्तु विकार हो गया, उसे भूमि मिलती है इस चेतना की। अन्यत्र यों विकार नहीं होते। जैसे दर्पणमें सामने कोई चीज आयी तो छाया बन गई तो दर्पणमें इस प्रकारका प्रतिबिम्ब हो जाना ऐसा दर्पण अपनी स्वच्छतामें स्वभाव लिए हुए नहीं है। दर्पणमें छाया प्रतिबिम्ब हो रहा, मगर जब सन्निधान उपाधि सामने आयी तब दर्पण प्रतिबिम्बित हुआ। दर्पणमें ऐसी योग्यता है कि उसमें प्रतिबिम्ब आ जाता है। कहीं भींत आदिकमें तो प्रतिबिम्ब नहीं आता। तो दर्पण प्रतिबिम्बित हो गया। इतनेपर भी वह प्रतिबिम्ब उस दर्पणका नहीं है। हो गया ऐसा। तो भूमिका दर्पणकी है, फिर भी दर्पणकी ओरसे दर्पणकी शक्ति मात्रने किया नहीं है ऐसा अगर शक्तिमात्र करती होती प्रतिबिम्ब तब तो फिर प्रतिबिम्ब सदा रहना चाहिये था। इसी प्रकार ये विकार मुझमें हुए हैं, कर्म विपाक आया है, उदय आया है, विकार हुआ है उस विकारकी भूमिका मात्र होनेपर मैंने इस शक्तिसे विकार किया नहीं। ये विकार और जगह उछल नहीं सकते, क्योंकि विकारकी भूमिका अचेतनमें नहीं मिल पाती है। तो हुए हैं विकार लेकिन इन्हें मैंने किया नहीं, ज्ञानीका ऐसा संचेतन होता है। मैं हूं शक्तिमात्र, स्वभावमात्र तो स्वभावसे, शक्तिसे स्वयं जो कुछ बना वह है मेरा कार्य। तो ज्ञानी पुरुषको ज्ञानके अतिरिक्त अन्य भावोंमें अथवा परपदार्थमें करनेकी बुद्धि नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषके कर्मफलके भोगनेकी भी बुद्धि नहीं होती। जैसे उसकी शुद्ध शक्तिमें केवल शक्तिमें निरपेक्षतया यह सामर्थ्य नहीं है कि मैं विकारोंको कर लूँ, इसी प्रकार मेरी शुद्ध शक्तिमें, स्वभावमें यह सामर्थ्य नहीं है कि मैं क्षोभको भोग लूं, पर जैसे विकार आते हैं और मेरी भूमिका यह आत्मा बनती है, ऐसे ही ये सुख दुःखके भाव आते हैं और मेरी भूमिका यह आत्मा बन जाती है। ज्ञानी पुरुषने अपने आपके अन्त: ऐसा प्रकाश पाया है कि ये सारे औपाधिक भाव मेरे लिए बोझ लगते और उनके करने भोगनेकी भीतर बुद्धि नहीं जगती है, तो ऐसी चेतना जहां नहीं है और कर्मफलमें भोगनेकी बुद्धि चल रही है--मैं भोगता हूँ, मैं कैसा महान् हूं, मुझे कितना आराम है, कैसा सुख है, कैसा मेरा महत्त्व है, मेरी कैसी इज्जत है? इस प्रकारसे अपनेको परिणमन रूप भोगनेका परिणाम मिथ्यादृष्टि जीवके होता है।

दृष्टान्त: सैन्धवं खिल्यं व्यञ्जनेषु विमिश्रितम्।
व्यञ्जनं क्षारमज्ञानां स्वदते तद्विमोहिनाम् ॥२२४॥

दृष्टान्तपूर्वक मिथ्यादृष्टियोंके स्वादका कथन—यहां मिथ्यादृष्टियोंको वस्तुका स्वाद किस प्रकार आता है, उसका यहां दृष्टान्त दिया जा रहा है? जैसे नमकका टुकड़ा भोजन सामग्रीमें मिला दिया जाय तो उस भोजनको फिर अज्ञानी अविवेकी पुरुष जीवें तो उन्हें ऐसा

ही भान होता है कि यह भोजन खा रहा हूं जो यह पिण्डरूप दिख रहा है । कचौड़ी, पूड़ी आदिक जो भी वस्तु सामने है उसे ही समझता कि मैं खा रहा हूं, केवल नमककी तो उसे सुध ही नहीं है । यद्यपि भोजन रुचता है नमककी वजहसे । जैसे दालमें नमक न पड़ा हो तो वह दाल भसभसीसी लगती है । उसमें स्वाद नहीं आता । तो जिस नमककी वजहसे स्वाद आया । जिसकी कृपासे भोजनमें मधुर स्वाद आया उसकी तो वह सुध ही नहीं लेता । वह तो समझता है कि यह जो व्यञ्जन मेरे सामने है इसीको मैं खा रहा हूं । इसी तरह जो इन्द्रिय और मनके विषयमें आसक्त पुरुष हैं उन पुरुषोंको उस वस्तुका परिचय स्वाद अनुभव विपरीत रूपमें आता है । प्रत्येक पदार्थ है और वह अपनी सत्ता रखनेके लिए है । उसका इतना ही प्रयोजन है । कोई पूछे कि यह पदार्थ क्यों है तो उसका उत्तर यही होगा कि यह पदार्थ है अपना सत्त्व बनाये रखनेके लिए । अज्ञानी जन तो ऐसा कह डालते कि ये पदार्थ तो हमारे उपयोगके लिए हैं, और कोई कोई लोग तो ऐसा स्पष्ट कहते हैं कि प्रभुने ये सब चीजें हमारे उपभोगके लिए ही बनाई हैं । इसीलिए तो वे लोग जीवोंकी हिंसा करते हुएमें रंच भी नहीं हिचकते । वे जानते हैं कि ये पदार्थ तो हमारे उपभोगके लिए ही ईश्वरने पैदा किये, किन्तु उनकी यह धारणा गलत है । अरे प्रत्येक पदार्थ है, अपनी सत्ता कायम रखनेके लिए । अन्य कोई उनका प्रयोजन ही नहीं है । पर मिथ्यादृष्टि जनोंने इन बाह्य पदार्थोंका प्रयोजन ठीक-ठीक निगाहमें न रखा, इसी कारण वे उनका दुरुपयोग करते हैं, उनके पीछे क्षुब्ध होते हैं । उनके ऐसा मोह पड़ा है, मुग्ध पड़ा है कि अपने आपके शुद्ध सहज स्वरूपकी उन्हें खबर ही नहीं है । तात्पर्य यहाँ यह है कि जिन्हें भूतार्थ स्वरूपकी सुध नहीं है वे आकुलित रहते हैं, जन्म मरण करते हैं और संसारमें दुःखी होते रहते हैं ।

क्षारं खिल्यं तदेवैकं मिश्रितं व्यञ्जनेषु वा ।
न मिश्रितं तदेवैकं स्वदते ज्ञानवेदिनाम् ॥२२५॥

दृष्टान्तपूर्वक सम्यग्दृष्टियोंके एकत्व स्वादका कथन—सम्यग्दृष्टिको अपने आपमें किस प्रकारका स्वाद आता है ? इसका वर्णन इस श्लोकमें किया गया है, दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे व्यञ्जनोंमें भोजनोंमें नमक डाला हुआ है तो उस नमककी वजहसे वह भोजन स्वादिष्ट लग रहा है । अगर नमक न पड़ा हो तो वह भोजन पृथ्वी जैसा (फीकासा) लगेगा । तो उस स्थितिमें जैसे कोई विवेकी पुरुष हो तो वह यह जानता है कि इसमें जो खारापन है वह नमकका ही है, अन्नका नहीं है । तो जैसे अन्नमें नमक मिला रहनेपर भी विवेकी पुरुष खारापन नमकका ही समझता है और इस तरह समझता है कि जैसे यदि नमक केवल डलीमें होनेपर उसमें जैसे खारापन होता है उसी प्रकार भोजनमें मिले हुए नमकका खारापन समझता है जब कि अज्ञानी जन जिन्हें विवेक नहीं है वे उस भोजनको करके उसको ही स्वाद समझते हैं और

जो खारापन हो रहा है सो भोजनका ही समझते हैं, पर ज्ञानी जन वहाँ खारापन उस तरह अलग समझते हैं। जैसे कि केवल नमककी डली खानेपर खारापन अनुभवमें आता हो, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव सुख शान्ति और अपने आपके गुणोंका विकास परिणमन सब कुछ अपनेमें ही अनुभवन करता है जब कि अज्ञानी जन पुत्र, घर, मित्रादिकसे सुख मिला, इस तरह बाह्य पदार्थोंका स्वभाव है सुख देनेका, इस तरह अनुभव करता है। वहाँ इन ९ तत्त्वों में एक मूल सद्भूत कोई शुद्ध आत्मद्रव्य है, उसका निरीक्षण कर लेवे तो विवेक बलसे, इस विकार अवस्थामें भी इन ९ पदार्थोंमें से शुद्ध आत्मद्रव्यकी परख की जा सकती है, और उसी की मूल दृष्टिसे यह सम्यग्दृष्टि निराकुल रहता है।

इति सिद्धं कुदृष्टीनामेकैवाज्ञानचेतना ।
सर्वैर्भावैस्तदज्ञानजातैस्तैरनतिक्रमात् ॥२२६॥

मिथ्यादृष्टियोंके मात्र अज्ञानचेतनाका भाव—उक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध होती है कि मिथ्यादृष्टियोंके केवल एक अज्ञानचेतना है, अर्थात् कर्मचेतना, कर्मफलचेतना ये दो चेतनायें हैं। इन दोनोंको अज्ञानचेतना ही कहते हैं, क्योंकि किसी कामको करते हुए यह अनुभव करना कि मैं कर रहा हूं, दूकान, मकान, व्यवस्था आदिक मैं कर रहा हूं, इस प्रकारका जो भीतरमें अभिप्राय है वह अज्ञानसे है। मैं इस प्रकारसे सुख भोगता हूं, दुःख भोगता हूं, यहाँकी इज्जत भोगता हूं, इस प्रकारके भोगनेका जो परिणाम है वह भी अज्ञानसे होता है। इस कारणसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतना दोनोंको अज्ञानचेतना कहा गया है। क्योंकि परमार्थतः आत्मा तो सर्व अन्य वस्तुओंसे निराला केवल अपने चैतन्यस्वरूपमें है, तो ऐसा चैतन्यस्वरूपात्मक आत्मा क्या कर सकेगा? अपने आपमें ही कर सकेगा कुछ और वह अपने गुणोंरूप परिणमेगा, यही उसका कार्य है। तो बाह्य वस्तुओंमें मैं इसे करता हूं ऐसा विकल्प करना अज्ञान ही तो हुआ। जो बात जैसी न हो अथवा उस उसको उस प्रकारसे मानना इसीको अज्ञान कहते हैं, इसी प्रकार फल भोगनेमें इसका अज्ञान है। मैं सुख भोगता हूं, दुःख भोगता हूं, अमुक पदार्थको भोगता हूँ, इस पदार्थको भोगता हूं। अरे किसी पदार्थसे मुझमें सुख परिणमन आ ही नहीं सकता, क्योंकि जो कुछ मेरेमें ही हो, सो ही मेरेमें होगा। तो बाहरी पदार्थोंसे सुख मानते हुए उनको मैं भोगता हूं ऐसा अपनेको समझना अज्ञान है। तो यह भी अज्ञानचेतना है तो ऐसी अज्ञानचेतना मिथ्यादृष्टियोंके ही होती है, सम्यग्दृष्टियोंके अज्ञानचेतना नहीं होती है।

सिद्धमेतावता यावच्छुद्धोपलब्धिरात्मनः ।
सम्यक्त्वं तावदेवास्ति तावती ज्ञानचेतना ॥२२७॥

सम्यक्त्व और ज्ञानचेतनाकी शुद्धोपलब्धिके साथ अविनाभाविता—उक्त विवेचनका

सारांश दूसरा यह भी है कि जब तक आत्माकी शुद्धोपलब्धि है तब तक सम्यक्त्व है और तब तक ही ज्ञानचेतना है। सम्यक्त्व होनेपर भी कभी किसी भूमिकामें इसका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है, मिथ्यात्वमें आ जाता है तो उस जीवके और उस ही भवमें सम्यक्त्व उत्पन्न होने पर उसके ज्ञानचेतना नहीं रहती। सम्यक्त्व छूटा, इसकी पहिचान है कि शुद्धकी उपलब्धि नहीं रही। शुद्धकी उपलब्धि दो प्रकारसे है—एक प्रतीतिके रूपमें, एक उपयोगके रूपमें। तो प्रतीतिके रूपसे भी शुद्धको उपलब्धि न रही। मैं आत्मा सबसे निराला केवल एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं, इस प्रकारकी प्रतीति न रहे तो वहाँ शुद्धोपलब्धि नही रहती। ऐसी शुद्धोपलब्धि होनेपर भी उपयोगमें ६ पदार्थ आये या अन्य कुछ आये तो ऐसी स्थितिमें भी उपयोगमें शुद्ध की उपलब्धि नहीं है, फिर भी उसकी प्रतीतिमें शुद्धकी उपलब्धि है और भान भी उसे अपने आपको सबसे विविक्त चैतन्यस्वरूपको समझनेका बना हुआ है। इस कारणसे ज्ञानचेतना है, सम्यक्त्व है, लेकिन जहां प्रतीतिसे ऐसी शुद्धोपलब्धि न रहेगी वहाँ न सम्यक्त्व रहेगा, न ज्ञानचेतना। यह दूसरा सारांश भी उक्त प्रकरणसे निकला।

एकः सम्यग्दृगात्माऽसौ केवलं ज्ञानवानिह।
ततो मिथ्यादृशः सर्वे नित्यमज्ञानिनो मताः ॥२२८॥

सम्यग्दृष्टिके ही ज्ञानवत्त्वकी सिद्धि—एक सम्यग्दर्शन वाला यह आत्मा ही ज्ञानवान कहा जाता है और बाकी शेष सभी सम्यग्दृष्टिपनेसे रहित अज्ञानी कहा गया है। लोकमें सम्यग्ज्ञान इस ज्ञानीका भी कहा जाता। जैसे कि लोग घरको घर जानते, चौकीको चौकी जानते। जो वस्तु है बाल्टी, बर्तन वगैरह इन सबको उसी प्रकार जाने, इसे भी लोकमें सम्यग्ज्ञान कहते हैं और जहाँ बताया गया है संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय न हो तो वह सम्यग्ज्ञान है। जो चौकी है, उसे चौकी ही जान रहे। उसमें कोई कोई सन्देह नहीं कर रहा कि यह चौकी है या और कुछ तो यह संशयरहित ज्ञान हुआ, चौकी ही है अन्य चीज नहीं है, उसे और चीज नहीं मान रहे तो यह विपर्ययरहित हुआ और जान ही रहे हैं तो अनध्यवसाय का वहाँ काम ही नहीं है, तो संशय, विपर्यय, अनध्यवसायसे रहित यह ज्ञान चल रहा है इसे लोकमें सम्यग्ज्ञान कहते हैं। लेकिन मोक्षमार्गमें सम्यग्ज्ञान कहेंगे आत्माके स्वरूपके सम्बंधमें संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय न होनेको। जैसे आत्मा है या नहीं, आत्मा रागी है अथवा शुद्ध है आदिक किसी प्रकारके संशय करना यह संशय ज्ञान है, और इस शरीरको ही समझना कि यह मैं आत्मा हूं—यह विपर्ययज्ञान है। नहीं है यह आत्मा और उसे समझ रहे कि यह आत्मा है तो यह हुआ विपर्ययज्ञान और आत्माके सम्बंधमें कुछ जाननेकी इच्छा भी न होना, कुछ समझ सी भी न रहना, ऐसी स्थितिको कहते हैं अध्यवसाय। तो आत्माके विषयमें संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय न हो तो वह सम्यग्ज्ञान है। कारण यह है कि जिसके आधारसे आत्मा

का उद्धार होगा ? कौनसा साधन है जिससे उद्धार हुआ है। जब इस ही बातका पता नहीं है तो वहाँ सम्यग्ज्ञान नहीं कहा गया है। दूसरी बात यह है कि लोकमें चौकी, पुस्तक, चटाई आदिक पदार्थोंको जान रहे हैं, चटाईको चटाई ही जानते, चौकीको चौकी ही जानते तो लोक के हिसाबसे संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय ये नहीं हैं लेकिन ऐसा जानकर भी इसका तथ्य तो नहीं समझ पाया। चौकीमें क्या बात है, किस स्वरूपसे बनी है, क्या गुण है, क्या शक्ति है, क्या इसका शुद्ध रूप है अथवा यह द्रव्य क्या है, इन बातोंका पता नहीं है। इस कारण लोक में इन पदार्थोंको ऐसी पर्यायोंके रूपसे जानकर भी वास्तविक ज्ञान इन पदार्थोंका होना नहीं है, जहाँ स्वरूपमें विपर्ययपना न हो उसके भेद और अभेदके सम्बंधमें विपर्ययपना भी न हो, उनके कारणोंमें भी विपर्ययपना न हो, इस प्रकारका जो ज्ञान हो उसे ही सम्यग्ज्ञान कहेंगे। जैसे इस चटाईको अमुक पुरुषने बनाया, यहाँ उसे कारणका ही सही बोध नहीं है। यह चटाई अपने आरम्भक परमाणुओंसे (चाकू, सींक, सूत आदिकसे) बनी हुई है इसका उसे बोध ही नहीं है। तो कारणका ही इसे बोध नहीं है, स्वरूपका भी बोध नहीं है। ये एक-एक अणु भी अनन्त अणु मिलकर ये स्कंध बने हैं। इनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श शक्ति है। उसकी जो व्यक्त पर्यायें हैं वे ही हमको इन्द्रिय द्वारा दिखती हैं आदिक किन्हीं भी बातोंका भान नहीं है, इस कारण लोकमें जिन पदार्थोंको समझा गया है उनके बारेमें भी सम्यक्ज्ञान नहीं है। इस श्लोक में कह रहे हैं कि एक सम्यग्दृष्टि पुरुष ही सम्यग्ज्ञानी है, शेष सभी मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी ही माने गए हैं।

क्रिया साधारणी वृत्तिर्ज्ञानिनोऽज्ञानिनस्तथा।
अज्ञानिनः क्रिया बन्धहेतुर्न ज्ञानिनः क्वचित् ॥२२९॥

ज्ञानी और अज्ञानीकी क्रियामें साधारणता होनेपर भी बन्धाहेतुत्व और बन्धहेतुत्व— ज्ञानी और अज्ञानीकी बाहरी क्रियायें साधारण हैं अर्थात् वही ज्ञान ज्ञानी कर रहा है, वही क्रिया अज्ञानी कर रहा है, फिर भी उनकी क्रियाके साधारण होनेपर भी अन्दरमें अंतर बहुत पड़ा हुआ है। जैसे सुबह आप सभी लोग जल्दी ही शौचादिक क्रियाओंसे निवृत्त होकर स्नान करते हैं, प्रायः करके सभी लोग इन क्रियावोंके लिए सुबहका समय उपयुक्त समझते हैं। तो जो ज्ञानी लोग हैं वे तो इस दृष्टिसे नहाते कि हमको मन्दिर जाना है, पूजा पाठ करना है आदि, और अज्ञानी जन ऐसी दृष्टि रखकर स्नान करते कि हमको अभी अनेक लोगोंके बीच बैठना है सो हम अच्छे लगें, उन सभी लोगोंकी दृष्टिमें साफ सुथरे जंचें, इस दृष्टिको रखकर वे तेल साबुन आदिसे शरीरको बहुत-बहुत मल-मलकर बड़ी देर तक नहाते हैं। बादमें उस शरीरका शृङ्गार करते हैं, तो देखिये—यहां ही एक कार्यमें दो पुरुषोंके भावोंमें फर्क पाया जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी अज्ञानीकी हर एक क्रियामें यही बात परखी जा सकती है।

ज्ञानी पुरुष भी श्रावक अवस्थामें घरमें रह रहा है। घरके बीच पुत्र स्त्री आदिक सभीका सम्बंध है, उनसे वार्तालाप भी है, पोषणकी भी व्यवस्था है, दूकान भी करता है पर उसका चित्त कहाँ रहता है ? यह जन्ममरणका संकट मेरेपर बड़ा संकट है, इससे छूटनेमें ही भलाई है, यह उसकी प्रतीति नहीं छूटती, वह बराबर बनी हुई है, यह विकल्प, यह कषाय, यह विषयभाव ये ही मुझपर विपत्ति हैं, ऐसा भान है और फिर भी परिस्थिति ऐसी है कि वह करना पड़ता है। तो यों ज्ञानी और अज्ञानीकी क्रिया बाहरमें एक प्रकारकी हो रही है फिर भी अज्ञानीकी क्रिया तो बन्धका कारण है और ज्ञानीकी क्रिया बन्धका कारण नहीं है। उसका अनन्त संसार छिद गया। अब जन्ममरणकी परम्परा बनी रहे, इस प्रकारका बन्ध उसके नहीं होता है। तो ज्ञानीकी वृत्ति बाहरमें समान हो फिर भी जो बन्ध है, शान्ति है, क्लेश हैं, जो कुछ भी होता है वह सब अन्तरङ्ग भावोंके अनुसार होता है, बाहरी क्रियाके अनुसार नहीं होता। हाँ बाहरी क्रिया किसी-किसी प्रकारके भावका व्यञ्जक बन जाता है। तो बाहरी क्रिया सामान्य व्यञ्जक बन सकता है, पर वहाँ विशेष विश्लेषण कराने वाली व्यञ्जकता नहीं है, क्योंकि ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंकी क्रिया देखनेमें एक साधारणसी लग रही है।

आस्तां न बन्धहेतुः स्याज्ज्ञानिनां कर्मजा क्रिया।
चित्रं यत्पूर्वबद्धानां निर्जरायै च कर्मणाम् ॥२३०॥

ज्ञानियोंकी कर्मजा क्रियामें पूर्वबद्ध कर्मनिर्जराहेतुत्व—ऊपर श्लोकमें यह बताया गया है कि ज्ञानियोंके कर्मसे होने वाली क्रिया बंधका कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष किसी भूमिकामें बाहरी क्रिया ऐसी ही कर रहा है जैसी कि सभी जन करते हैं। सभी लोग नहाते हैं, यह ज्ञानी श्रावक भी प्रतिदिन नहाता है, उसने अपना एक कर्तव्य समझ रखा है इस स्थितिमें इतनेपर भी भेद तो है अन्तरमें, और इतना ही क्या ? कर्मविपाकवश कर्मोदयकी प्रेरणासे इसे अनेक कार्योंमें भी लगना पड़ता है, दूकान है, घर है और भोगोपभोग हैं, इनमें भी प्रवृत्त होना पड़ता है। इतनेपर भी भीतर जो उसके विविक्त शुद्ध ज्ञानकी प्रतीति हुई है उसके बलसे वह पृथक् रहता है। तो ज्ञानीकी क्रिया बन्धका कारण नहीं है, सो यह बात ठीक है, पर इसके आगे और भी देखिये—आश्चर्य तो इस बातका है कि ज्ञानीकी वह क्रिया केवल पूर्वमें बँधे हुए कर्मोंकी निर्जराका ही कारण है। यह बात कैसे बनी ? ज्ञानी सम्यग्दृष्टि गृहस्थावस्थामें रहकर उपभोग भी कर रहा है, फिर भी उसके उपभोग निर्जराके लिए ही हैं, ऐसा कथन इस तरह बनता है कि चूँकि कर्मविपाक है, उस प्रकारका परिणमन हुआ है, उपभोग परिणाम बना है, इतनेपर भी उस उपभोगसे वह विरक्त है, उससे पृथक् अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपका उसे भान है, इस कारणसे जो उदय आया है वह तो निर्जराके लिए ही आता है, हर एकके आता है। अज्ञानी जीवके भी जो कर्मोदय होता है वह भी तो निर्जराके लिए ही

होता है, अर्थात् जो उदयमें आया उस कर्मकी तो निर्जरा ही है और निर्जराका ही नाम उदय है। उदयका अर्थ है अपना समय पाकर कर्मका खिरना। कर्मप्रकृतिकी जब स्थिति पूर्ण होती है या उदीर्णा आदिक करके जब उस स्थितिकी अन्तिम सीमा आ जाती है तो वह खिरेगा और ऐसे खिरनेके समय ये जीवमें रागादिक भाव बनते हैं। इसीका नाम उदय है। तो उदय तो निर्जराको ही कहते हैं। निर्जराके लिए ही उदय होता, किन्तु अज्ञानी जीवकी तो यह वृत्ति बनी कि उस उदयकालमें, उस विभावपरिणाम कालमें, उस विभावमें अपनेको जोड़कर उस विभावको ही आत्मीय बनाकर बेसुध हुआ है सो वह अनन्त कार्माणवर्गणाओंका बंध कर लेता है और उसका बन्ध होता है अनन्त संसारकी परिपाटी बनाने वाला। लेकिन ज्ञानी जीव उस उपभोगसे विरक्त है, निराला रहता है, इस कारण उसके नवीन बन्ध नहीं होता, इस दृष्टिसे वह निर्जराके लिए ही माना गया है। नवीन बन्ध भी जो अनन्त संसारविषयक न हो उसकी मुख्यता है, साधारण बन्धको यहाँ बन्ध नहीं माना है।

यस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनां ज्ञाननिर्वृताः।
अज्ञानमय भावानां नावकाशः सुदृष्टिसु ।।२३१।।

ज्ञानियोंके ज्ञानमय भावका सद्भाव व अज्ञानमय भावका अनवकाश—ऊपरके श्लोक में यह बताया गया है कि ज्ञानियोंके कर्मोदयवश होने वाली क्रिया बन्धका कारण नहीं है सो तो बात है ही, पर आश्चर्य इस बातका है कि ज्ञानियोंकी वह कर्मजा क्रिया बँधे हुए कर्मकी निर्जराके लिए ही है, तो इस निर्णयका हेतु इस श्लोकमें बता रहे हैं। चूंकि सम्यग्ज्ञानियोंके ज्ञानमय ही भाव होता है, क्योंकि ज्ञानियोंका जो भाव होता है वह ज्ञानसे रचा गया है। यहाँ ज्ञान लेना है भेदविज्ञान, परमोपेक्षा सहित ज्ञानसे तो जहां परम उपेक्षा भेदविज्ञानकी वासना हो, भावना हो ऐसी भावनाकी भूमिकासे गर्भित हुआ जो भाव है वह ज्ञानमय भाव कहलाता है, और मिथ्यादृष्टियोंके अज्ञानमय भावोंका स्थान नहीं है। वहां अज्ञानमय भाव नहीं आ सकता। कहावतमें कहते है कि पंडित हो वह शत्रु भी हो तो भी भला है और मूर्ख हो वह मित्र हो तो भी भला नहीं है और मूर्ख हो वह मित्र हो तो भी भला नहीं है। पंडितके मायने जो मंद कषाय है, भेदबुद्धि वाला है, जिसको विवेक है ऐसा कोई शत्रु भी बन जाय तो भी वह दूसरेके प्राणघातके लिए न हो सकेगा। वह सम्हलेगा, क्योंकि उसके पास विवेक है। कारण-वश थोड़ा क्रोध है वह इतना फल नहीं दे सकता कि प्राणघात करे या बरबादी कर दे और कोई मूर्ख मित्र हो, वह मित्र है किन्तु उसमें मूर्खता ऐसी है कि ऐसी बात कह डालेगा मित्रता के ही कारण कि वही बात उसकी बरबादीका कारण हो सकती है। तो ऐसे ही यहां परमार्थ पथमें समझिये कि ज्ञानियोंके ज्ञानमय ही भाव होता है। वे भाव ज्ञानसे रचे हुये ही होते हैं, उनमें अज्ञानमय भावोंका अवकाश नहीं है, इस कारण शुद्ध ज्ञानकी मात्र होनेसे सम्यग्दृष्टिकी

क्रिया निर्जराका हेतुभूत होती है।

ज्ञानीकी क्रियामें पूर्वबद्धकर्मनिर्जराहेतुत्वकी दो युक्तियां—इस प्रकरणको दो दृष्टियोंसे परखिये कि ज्ञानीकी प्रवृत्ति निर्जराके लिए होती है। पहिली दृष्टि तो यह है कि चूंकि उसके सम्यग्ज्ञान है, अन्तःप्रकाश है, भेदविज्ञान है, अतः वह रागमें राग नहीं रखता, क्रियामें राग नहीं रखता, कर्मविपाकवश हो रहा है परिणमन, काय सम्बन्धी क्रिया भी है। मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति भी है, रागविकार भी यथासम्भव है। लेकिन इन किसीमें भी उसका विश्वास नहीं, रुचि नहीं। इस कारण उससे हटा हुआ रहता है ऐसा हटा हुआ रहनेमें इस ज्ञानीके बंध नहीं होता और उन विकारोंके कारण जो कुछ बंध होता है वह बंध इतना अल्प है कि उसको बन्धन संज्ञा यहां नहीं दी गई है। दूसरी दृष्टिसे यहां देखना है कि सम्यग्दृष्टिके बन्ध नहीं होता तो इसमें उस पुरुषको सम्यग्दृष्टिके नाते देखा है तो सम्यग्दृष्टिके नाते भाव मिला सम्यग्ज्ञान तो सम्यग्ज्ञानके द्वारा बन्ध तो नहीं होता। जैसे कोई पुरुष पुजारी है, सेठ भी है, पंडित भी है तो जब उसकी दूकानपर लेनदेनका कोई व्यवहार करता है तो वहां यदि कोई यह कह बैठे कि पुजारी जी अमुक सामान लावो तो वहां वह बात अनुचित-सी लगती है। वह कह भी सकता है कि अरे यहां पुजारी लेनदेन नहीं कर रहा है। यहां तो सेठ लेनदेन कर रहा है। तो वही पुरुष पुजारी भी है, सेठ भी है लेकिन उस प्रसंगमें सेठ है, पुजारी नहीं, क्योंकि सेठकी प्रक्रियामें ही वह व्यवहार चल रहा है। तो एक पुरुष सम्यग्दृष्टि भी है, रागी भी है, राग परिणाम होनेसे वह सकर्मा भी है, बन्धनबद्ध भी है, लेकिन जब उसे रागी है इस नातेसे देखेंगे तो वह दिखेगा और उतना ही राग दिखेगा जितने अंशमें है, जितने अनुभागमें है। वहां उसकी बात करे और जब उसको सम्यग्दृष्टि कहकर उसकी बात बता रहे हो तो सम्यग्दृष्टित्व के नाते ही जीभ हिलाना, रागके नातेसे जीभ न हिलाना, क्योंकि यहां सम्यग्दृष्टिकी चर्चा है। तो इस दृष्टिसे देखा जाय तो यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि सम्यग्दृष्टिके कतई बन्ध नहीं होता। इस तरह दोनों ही दृष्टियोंका समन्वय करते हुए यहां यह निर्णय करना चाहिए कि सम्यग्ज्ञानियोंके ज्ञानमय ही भाव होता है, क्योंकि वे सब भाव ज्ञानसे रचे गए हैं और उनमें अज्ञानमय भावका स्थान नहीं है।

वैराग्यं परमोपेक्षाज्ञानं स्वानुभवः स्वयम्।
तद्द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्तः स एव च ॥२३२॥

ज्ञानियोंके मुख्य दो लक्षण—सम्यग्ज्ञानी पुरुष चूंकि स्वयं वैराग्यरूप है और स्वानुभव रूप है। वैराग्य क्या है? परमउपेक्षारूप ज्ञानपरिणमन, और स्वानुभव अपने आपके उस शुद्ध ब्रह्मस्वरूपकी प्रतीति और यथासमय अनुभूति यह भी सम्यग्दृष्टिके है। तो ज्ञानीके जब वैराग्य और स्वानुभव दोनों उत्तम तत्त्व हैं तो समझना चाहिए कि वह तो जीवनमुक्त ही है,

अर्थात् उसको अब कोई शंका नहीं है। किसी प्रकार उसे क्षोभका स्थान नहीं है। वह निराकुलतासे प्रीति रख रहा है, तो वह तो जीवनमुक्त है। जीता हुआ भी इन विपदाओंसे वह मुक्त है। वह जीवनमुक्ति सापेक्ष है। जैसे अज्ञानी जन रम रहे हैं तो वे बन्धनबद्ध हैं। उनके मुकाबले देखा जाय सम्यग्दृष्टिको तो वह मुक्त ही है, अर्थात् उन सर्व बंधनोंसे विषयोंसे, कषायोंके जालसे छूटा हुआ ही है। इस श्लोकमें वैराग्यका विशेषण दिया है परमोपेक्षा ज्ञान। यह विशेष एक दार्शनिक विषयका स्मरण कराता है। जहाँ यह पूछा गया कि ज्ञानका फल क्या है? तो उत्तर मिला कि ज्ञानका फल है हान, उपादान और उपेक्षा। साक्षात् फल तो अज्ञाननिवृत्ति है और साक्षात् फलसे सम्बंधित फल है हेय पदार्थोंका त्याग करना, उपादेय पदार्थका ग्रहण करना और उपेक्षा होना। तो उपेक्षा होना यह ज्ञानका अभिन्न फल है। क्योंकि अन्य दार्शनिक ज्ञानका फल ज्ञानसे अतिरिक्त ही मानते हैं, ज्ञानरूप ज्ञानका फल नहीं मानते। जैसे ज्ञानका फल है घड़ा बना लिया, और कुछ कर लिया, इस तरहसे ज्ञानके फल अन्य-अन्यरूप माना करते हैं, लेकिन वस्तुतः ज्ञानका फल ज्ञानसे भिन्न नहीं हो सकता। हेय पदार्थका त्याग वह भी ज्ञानसे अलग चीज नहीं है। बाह्य वस्तुको एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें फेंक देना यह अध्यात्ममें त्याग नहीं बताया। अध्यात्ममें त्याग तो तत्सम्बंधी विकल्प था, उस विकल्पका परिहार कर दिया तो वह ज्ञानरूप ही तो पड़ा। बाहरमें उपादेय चीजको ग्रहण कर लिया। दूर किसी अन्य क्षेत्रमें चीज रखी थी, वहाँसे हटकर निकट क्षेत्रमें रख ली, इसको अध्यात्ममें ग्रहण नहीं बताया, किन्तु उस पदार्थके विषयमें यह अच्छी है, सुहावनी लगे, उसको भीतरमें ममता रूपसे या अपने प्रयोजनरूपसे ग्रहण कर लिया इसको उपादेय कहा है। तो यह भी ज्ञानस्वरूप है, और जो परम उपेक्षा है, न रागमें, न द्वेषमें, न हेयमें, न उपादेयमें। जैसा जो कुछ है वैसा ही ज्ञान रहना इसीको तो परम उपेक्षा कहते हैं। तो यह परम उपेक्षा अथवा वैराग्य ये ज्ञानस्वरूप ही हैं। तो जितने भी हमारे सम्वरके उपाय हैं, कल्याणके उपाय हैं वे सब ज्ञानस्वरूप ही पड़ते हैं, उनको भेददृष्टिसे, नाना व्रतोंके रूपमें बना दिया गया है लेकिन वस्तुतः वे सब काम ज्ञानरूप ही पड़ते हैं। तो सम्यग्दृष्टिके ऐसा वैराग्य और ज्ञान बर्तता रहता है, इस कारण वह तो जीवनमुक्त है। उसको बद्ध बताना, उसका बंधन बताना यह इस दृष्टिमें उचित नहीं बैठता है। जब जिस आत्माकी जिस गुणकी मुख्यता लेकर स्तुति की जा रही हो उस समय उस गुणके नातेसे ही उसमें सब निरखनेकी बात होती है। इस तरह ज्ञानीका चिह्न बताते हुए पूर्वोक्त विवेचनसे ही यह पुष्ट किया है कि ज्ञानीकी क्रिया बन्धका हेतु नहीं है और निर्जराके लिए है वह किस कारणसे है, इसका जो कारण उक्त श्लोकमें बताया है उसीकी पुष्टिमें ज्ञानके इन दो लक्षणोंको कहकर उसका ही समर्थन किया गया है।

ज्ञानी ज्ञानैकमात्रत्वात् पश्यत्यात्मानमात्मवित् ।
बद्धस्पृष्टादिभावानामस्वरूपादनास्पदम् ।।२३३।।

ज्ञानीकी ज्ञानैकपात्रता, आत्मवेदिता व बद्धस्पृष्टादिभावानास्पदता—ज्ञानी तो ज्ञानैकमात्र है अर्थात् ज्ञानका ही अद्वितीय पात्र है । ज्ञान इस ज्ञानीके आधारमें ही तो है और जिस जीवने एक ज्ञानको ही अपना आधार समझा, ज्ञानमय आत्मस्वरूपका ही आश्रय लिया, अन्य आश्रय नहीं लिया जा रहा है तो वह तो ज्ञानका ही एक मात्र पात्र बन रहा है । जो परिणमन किसी परका विषय लेकर, आश्रय लेकर हुआ करता है उस परिणमनको केवल एक ज्ञानके ही आधारसे हुआ है ऐसा नहीं कहा जा सकता, किन्तु जिस परिणमनको किसी परका आश्रय नहीं है ऐसे ही परिणमनमें शुद्ध वस्तुके आधारसे हुआ है यों कहा जायगा । यद्यपि विकारपरिणमनमें भी आत्माका आधार कुछ न हो ऐसा नहीं है, हुआ तो उसी भूमिकामें, लेकिन केवल आत्माके ही आधारसे हुआ, रंचमात्र भी परका किसी भी ढंगसे, विषयरूपसे, निमित्तरूपसे, किसी भी प्रकार से आश्रय नहीं हुआ । तब तो उसका आधार मानना ठीक है किन्तु यह रागपरिणमन अनेक विकार ये आत्मभूतिमें होते हैं । उनकी निष्पत्ति परका आश्रय करके, निमित्त करके, विषय बनाकर इन सब स्थितियोंमें होती है, इस कारण उसे ज्ञान एक पात्र न कहेंगे, पर ज्ञानीका जो ज्ञान है वह तो ज्ञानैक पात्र है वही आत्माको जानने वाला है । जाननेका काम कर रहा है ज्ञानगुण । ज्ञानोपयोगमें जाननेकी वृत्ति जग रही है । यही ज्ञानोपयोग जब अन्य पदार्थोंके जाननेकी वृत्ति न करके ज्ञानके ही स्वरूपको जाननेकी वृत्ति करे ऐसी स्थितिमें यह ज्ञानी वास्तवमें आत्मरहस्यको जान रहा है । तो ऐसा ज्ञानी आत्माको जानने वाला है वही आत्माको देखने वाला है । ऐसा ज्ञानी बद्ध स्पष्ट आदिक भावोंके स्वरूपको पानेका साधनभूत नहीं है, अर्थात् वह अपनेको न बद्ध देख रहा है, न स्पष्ट देख रहा है । तो ये बद्ध स्पष्ट आदिक भाव आत्मतत्त्वमें प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं होते । जब यह ज्ञानी ज्ञानको ही भोग रहा है, स्थिति हुई इसकी स्वानुभूतिकी, जहाँ उपयोगमें ज्ञानोपयोगमें उस ज्ञानस्वरूपका ही ज्ञान हो रहा है वहाँ ज्ञान ही ज्ञात हो रहा या उस बँधा या छुवा या अन्य क्षेत्र, काल, पिण्ड आदिक ये उस ज्ञानमें नहीं हैं, जहाँ तो केवल एक ज्ञायकभावमय स्वकी अनुभूति है, बद्ध स्पष्टत्वभावका वहाँ स्थान नहीं है । ऐसी ज्ञानीकी स्थितिको देखकर अन्य ज्ञानी इसका विवरण करता है कि बद्धत्वभाव स्पष्टत्व भाव ये जहाँ स्वरूपमें प्रतिष्ठा नहीं पा रहे हैं, ये सब ऊपर ऊपर ही तिर रहे हैं अर्थात् है आत्मामें बंधन, स्पर्श आदिक भी हैं, ये सब होते हुए भी चूँकि इनका उसमें प्रवेश नहीं है अर्थात् ये स्वभावमय नहीं बन जाते हैं तो उस अन्तरङ्गकी दृष्टिसे इनको कहते हैं कि ये ऊपर ऊपर तैरते हैं ।

विकारोंका उपरितरण व स्वभावाप्रतिष्ठितत्वका तात्पर्य—ऊपर तैरनेका अर्थ यह न

लेना कि आत्मा परिपूर्ण जितना प्रदेशवान है वह तो नीचे ज्योंका त्यों स्वरक्षित है, वहाँ कोई आँच नहीं, वे तो ऊपर ही ऊपर तैर रहे हैं । ऐसा नहीं है जैसे पानीमें तेल डाल दिया जाय तो तेल पानीके ऊपर-ऊपर ही तैरता है और पानी गर्म कर दिया जाय तो गर्मी भी पानीके ऊपर-ऊपर तैरती है । बात दोनों हैं लेकिन तेलका ऊपर-ऊपर तैरना तो बिल्कुल बाहरी बात है । उस तरहकी बात न समझिये कि ज्ञानीपर राग ऊपर-ऊपर तैरते हैं या आत्मापर राग ऊपर-ऊपर ही तैर रहे हैं, किन्तु जैसे पानी गर्म हो गया, थोड़ा गर्म हुआ या अधिक गर्म हुआ, कितना ही गर्म हो जाय लेकिन वह गर्मी पानीके स्वभावमें प्रवेश नहीं कर गयी, इसका सबूत क्या ? यदि गर्मी पानीके स्वभावमें प्रवेश कर गई हो, जैसे कि गर्मी अग्निके स्वभावमें प्रवेश किए हुए है तो वह पानी कभी ठंडा हो ही नहीं सकता, और यदि गर्मी निकल जाय पानीमें से तो पानीका अस्तित्त्व समाप्त हो जायगा, क्योंकि अब तो गर्मीका पानीके स्वभावमें प्रवेश मान लिया गया है, तो उस मामलेमें जैसे हम यह कह सकते हैं कि गर्मी पानीके ऊपर तैर रही है पर उस ऊपरका कितना अर्थ है ? यदि कोई भूलमें इसका उन्हीं शब्दोंमें अर्थ मान ले कि गर्मी तो पानीके ऊपर तैरती है तब तो हम उस पानीके भीतर घुस जायें, ऊपर न रहें तो जलेंगे नहीं । तो उसका यह अर्थ नही है, किन्तु स्वरूपमें प्रवेश नहीं है उस दृष्टिसे यह बात कही है कि यह गर्मी पानीके ऊपर तैर रही है, और ऐसी बातपर ज्ञानी जीवके लिए ही क्या देखें—सर्व जीवोंके लिए देख सकते हैं, उनके प्रत्येक विकार उन सबके ऊपर तैर रहे हैं । किसीके स्वरूपमें प्रतिनियत नहीं हैं । तो इसी तरह ये बद्धभाव, स्पष्टभाव इनका भी इस आत्मामें स्थान नहीं है । यहां आत्मा ज्ञानमात्र स्वीकार किया जा रहा है, चैतन्यस्वरूप स्वीकार किया जा रहा है । तो उस स्वरूपमें किसी अन्यका, भावका, परभावका प्रवेश नहीं है । इस कारण यहाँ अब कर्मविपाकवश कर्मजा क्रिया हुई हो या कर्मजभाव हुआ हो; मन, वचन, कायकी चेष्टा हुई हो, वह सबका सब इस आत्माके स्वरूपसे बाहर है । इसके स्वरूपमें उसकी प्रतिष्ठा नहीं है । तो ऐसे ज्ञानीके जो स्वरूपदृष्टिसे अपनेको निरख रहा हो उसका बंधन कहना अथवा कर्मभारसे बोझल बताना या आकुलतामय बताना यह फबता नहीं है । ज्ञानके नातेसे ज्ञानीका वर्णन हो रहा है । वहाँ न बन्धका हेतुपना है और न कर्मभारका बोझ है ।

ततः स्वादु यथाध्यक्षं स्वमासादयति स्फुटम् ।
अविशिष्टमसंयुक्तं नियतं स्वमनन्यकम् ।।२३४।।

सम्यग्दृष्टिके स्वसंवेदनानुरूप स्वाद (अनुभवन)—सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आपको जिस प्रकार प्रत्यक्ष पाता है उसी प्रकार वह स्वाद लेता है । यद्यपि वह बात सभीके लिए कही जा सकती है कि प्रत्येक प्राणी अपने आपको जिस स्वसम्वेदन प्रत्यक्षमें उपलब्ध करता है वह उस प्रकारका स्वाद लेता है किन्तु इस सामान्य कथनमें सुसम्वेदनका अर्थ स्वानुभव नहीं

अर्थात् शुद्ध चैतन्यमात्र रूपसे अपने आपका सम्वेदन नहीं करता, किन्तु जिस किसी भी प्रकार से अपने आपकी उपलब्धि होना सुसम्वेदन है, इस रूपसे तो प्रत्येक प्राणीका प्रत्यक्ष हो रहा है। प्रत्यक्षका अर्थ स्पष्ट शुद्ध रूपसे जाना जा रहा है यह नहीं, किन्तु 'मैं' के रूपसे सबको अपनी प्रतीति बनी है। कोई शरीरको ही 'मैं' समझ रहा, विषयकषायके भीतर परिणाम होता है उन्हें "मैं" समझ रहा। कैसा भी समझे कोई, ज्ञानी पुरुष अपनेको अबद्ध, अस्पृष्ट, चिन्मात्र को 'मैं' समझ रहा। तो "मैं" की समझ सबमें है, इस कारण सब जीवोंमें जिस प्रकार "मैं" को अनुभवमें किया उस प्रकारका स्वाद आता है। जिसने विपरीत रूपसे "मैं" का अनुभव किया उसको विपरीत स्वाद आता है। अतः यह तो एक साधारण कानून है कि जो जिस प्रकार अपनेको अनुभव करता है उसको उस प्रकारका स्वाद आता है, पर ऐसी साधारण बात पर्यायाश्रित रूपसे यों नहीं कही गई है कि अपने आपका प्रत्यक्ष होना उसीमें रूढ़ है कि जो अपने आपका सही रूपसे प्रत्यक्ष करे, इस आधारसे यह कहा जा रहा है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आपको किस प्रकार प्रत्यक्षमें अनुभवता है, ग्रहण करता है, उस प्रकारका स्वाद आता है। अपने आपको किस तरह अनुभव करता है—इसका विशेष विवरण तो आगेके श्लोकोंमें कहेंगे पर संकेत रूपसे यहाँ ही कहा जा रहा है कि अपनेको अविशिष्ट विशेषतासे रहित असंयुक्त परके मेलसे रहित और नियत एवं अनन्य अभिन्न रूपसे अपनेको प्रत्यक्ष पाता है तो उसको स्वाद इस ही प्रत्यक्षके अनुरूप आता है। अब बतलाते हैं कि इस सम्यग्ज्ञानीको अपने आत्माका अवलम्बन किस प्रकार आता है?

अथाबद्धमथास्पृष्टं शुद्धं सिद्धपदोपमम्।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निःसङ्गं व्योमवत् सदा ॥२३५॥
इन्द्रियोपेक्षितानन्तज्ञानदृग्वीर्यमूर्तिकम्।
अक्षातीतसुखानन्तस्वाभाविकगुणान्वितम् ॥२३६॥
पश्यन्निति निजात्मानं ज्ञानी ज्ञानैकमूर्तिमान।
प्रसङ्गादपरं चैच्छेदर्थात्सार्थं कृतार्थवत् ॥२३७॥

ज्ञानी पुरुषका अबद्ध व अस्पृष्टके रूपमें स्वात्मावलोकन—सम्यग्ज्ञानी पुरुष अपने आपको इस प्रकार देखता है कि "मैं" अबद्ध हूं। "मैं" के कहते ही जो असंख्यातप्रदेशी अपनी गुण पर्यायोंका आधारभूत आत्मवस्तु है वह संकेतमें आया है और उसको ही लक्ष्यमें लेकर यहां ज्ञानीका चिन्तन चल रहा है कि मैं अबद्ध हूं। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपके आधार में है, अतएव सभी पदार्थ दूसरेसे अबद्ध हैं, किसीका स्वरूप किसी अन्यसे बँधा हुआ नहीं है, ऐसा यह मैं अबद्ध हूं। यद्यपि व्यवहारदृष्टिसे जीवोंके कर्मका बन्धन देखा जा रहा है, अर्थात् बँधे तो हैं जीवके साथ, वे असत्य नहीं हैं, सम्बंध है लेकिन व्यवहारनयसे यह परखा जाता है।

यह इसलिए कहा गया कि निश्चयनयका विषय दो पदार्थोंका निरखना नहीं होता और बंधन दो पदार्थोंके अथवा द्वैतके बिना होता नहीं है, इस कारण कहा जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि बन्धन झूठ है, है बन्धन, पर वह व्यवहारका बन्धन है, अर्थात् भिन्न द्रव्यका। इस द्रव्यके साथ निमित्तनैमित्तिक भाव है, किन्तु यहाँ तो स्वरूपको देखा जा रहा है। मैं अबद्ध हूं कर्मबन्धनसे, शरीरबन्धनसे, अन्य बंधनसे रहित हूं। ज्ञानी पुरुष अपने आपको निरख रहा है कि मैं अस्पृष्ट हूं, किसीसे छुवा हुआ नहीं हूं, एक तो स्वरूपदृष्टिसे देखा जाय तो कोई पदार्थ किसी पदार्थसे छुवा हुआ नहीं रहता है। यद्यपि सभी अपने आपके स्वरूपमें तन्मय हैं, किसी का अन्य स्वरूपसे स्पर्श नहीं है। फिर दूसरा प्रकार यों भी देखा जा सकता है कि आत्मा अमूर्त है। रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित है। उसमें पिण्ड नहीं है, आकाशवत् अमूर्त है, तो ऐसा आत्मा जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है वह किसी दूसरी वस्तुसे छुवा कैसे जायगा? अमूर्त पदार्थ किसी दूसरे अमूर्तसे तो छुवा ही क्या जायगा? वहाँ तो स्पर्शकी बात ही नहीं है। स्पर्श गुण, स्पर्श पर्याय पुद्गल द्रव्यमें होता है, सो अमूर्तका अमूर्तके साथ स्पर्श होता नहीं और अमूर्तका मूर्तके साथ भी स्पर्श होता नहीं, क्योंकि दोनों मूर्त हों, दोनों स्पर्शवान हों तो उनमें परस्पर छूनेकी बात आयी तो इस स्थूल दृष्टिसे भी यह समझा जा सकता है कि आत्मा उत्कृष्ट है। तो स्वरूपदृष्टिसे और बाहरकी सम्बंधदृष्टिसे भी आत्मा अन्यसे असम्पृष्ट है। यद्यपि कर्मका जीवके साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, पर जैसे कोई स्पर्शवान पदार्थ स्पर्श वाले पदार्थसे छुवा रहता है, जैसे कि चौकीपर पुस्तक रखी है, यह छुई हुई है, इस तरहसे मोटी दृष्टिका छूना भी नहीं है और स्वरूपदृष्टिसे भी छूना नहीं है। तो अन्तःस्वरूपको जब निरख रहा है ज्ञानी तो उसका यह निर्णय यथार्थ है कि मैं असम्पृष्ट हूँ।

ज्ञानी पुरुषका शुद्ध व सिद्धपदोपमके रूपमें स्वात्मावलोकन—ज्ञानी पुरुष अपने आपको शुद्ध निरखता है। शुद्धका अर्थ है केवल। अपने स्वरूपमात्र, सर्व परपदार्थोंसे सर्वथा भिन्न अपने एकत्वमें तन्मय अपने आपको निरख रहा है। ऐसा निरखनेमें जहां कि केवल स्वरूप ही देखा जा रहा हो तो उपयोग भी मलिन पर्यायमें आसक्त व्यामुग्ध रूप नहीं रहता है और उस स्थितिमें यथासम्भव पर्यायरूपसे भी शुद्धका अनुभव होता है। तो ज्ञानीका चिन्तन है कि मैं शुद्ध हूं, और इस तरह भी चिन्तन करता है कि मैं शुद्ध पदकी उपमा वाला हूं अर्थात् सिद्ध समान हूं। जब पहिले केवल देखा, अपनेको केवल एकत्वगत निरखा तो इस स्थितिमें कुछ उपयोगकी निर्मलता हुई और उस एकताकी दृष्टिसे भी सिद्धमें समानता दृष्टगत हुई। उस स्थितिमें इसका चिन्तन है कि मैं सिद्ध समान स्वरूप वाला हूं। जैसे सिद्धप्रभु सबसे विविक्त और अपने आपके एकत्वगत हैं इसी प्रकार मैं भी सबसे विविक्त और अपने एकत्वमें गत हूं। जिस प्रकार सिद्ध प्रभु अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द-

रूप समृद्धिसे सम्पन्न हैं उसी प्रकार मैं सहज अनन्त ज्ञान, सहज अनन्त दर्शन, सहज अनन्त आनन्द और सहज अनन्त शक्ति समृद्धिसे हूं, अर्थात् सही स्वभाव मेरेमें भी है। स्वभावसे मैं उस ही समान हूं इस तरह अपने आपको सिद्धकी उपमा रूपमें चिन्तन कर रहा है। एक यह भी यहाँ निरखा जा सकता है कि जैसा मुझे आगे होना है उस रूपसे अभी भी तो अपनेमें निरखा जा सकता है। जैसे कि मनुष्य जिस पदपर पहुंचेंगे, जिस स्थितिमें पहुंचेंगे या गृहस्थी में पहुंचेंगे या किसी अफसरके रूपमें पहुंचेंगे। जिस स्थितिमें पहुंचनेकी उनकी आशा हो जाती है और निर्णय भी हो जाता है, पक्का भी मालूम हो जाता है तो भविष्यमें उन घटनाओंमें जिस प्रकार अपनेकी अनुभव होगा उस प्रकारकी अनुभूति, उस प्रकारके ख्याल वर्तमानमें भी करने लगते हैं। तो यहाँ ये निकट भव्य जीव जिन्होंने अपना निर्णय बनाया है और दिखने भी लगा है कि निकट कालमें ही मेरेको अनन्त ज्ञानादिक समृद्धियाँ उत्पन्न होंगी। मैं सिद्ध होऊँगा, अष्ट कर्मोंसे रहित हो जाऊँगा। जैसा मैं केवल अपनेमें सत् हूं उस प्रकार मेरी अवस्था होगी, ऐसा जिनका निःशंक रूपसे दृढ़ निर्णय है उस तरहसे अभीसे ध्यान चलता है और उस रूप यहाँ भी यथायोग्य अपनेमें अनुभव उत्पन्न करता है। तो यों भी सम्यग्दृष्टि जीवने अपने आपको सिद्धोपम विचारा है।

ज्ञानी पुरुषका शुद्ध स्फटिकवत् स्वच्छतारूपमें आत्मावलोकन—सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आपको शुद्ध स्फटिकके समान स्वच्छ निरख रहा है, जहाँ अपनेमें एक ज्ञानज्योति प्रतिभास स्वरूप ही विदित हो रहा है। मैं ज्ञानीको छोड़कर और क्या हूं? और एक स्वच्छता है, प्रतिभास है, जानन है उसके सिवाय और मैं क्या हूं? वही तो मैं सर्वस्व हूं। इस तरह अपनी अन्तर्दृष्टिके बलसे जिन्होंने अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव किया है ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुष शुद्ध स्फटिकके समान अपनेको स्वच्छ निरख रहे हैं। अमूर्त तो यह है ही आत्मा और अमूर्त होने पर यह किस रूपमें दृष्टिमें आयगा सो भी अनुमान कर लीजिए। यह किसी पिण्डरूपसे न आयगा। जहाँ कालिमा हो, अस्वच्छता हो, मल चढ़ा हुआ हो इस ढंगसे नहीं है यह आत्मा, किन्तु यह अमूर्त है। तो जहाँ रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं हैं, अमूर्त है, ऐसा स्वरूप तो मल रहित है ही, साथ ही इसमें चेतना है। अन्य अमूर्त पदार्थोंसे इस आतमद्रव्यमें यह अधिकता है कि यह चैतन्यस्वरूप है। तो अमूर्त होकर चैतन्यस्वरूप हो ऐसे आत्मद्रव्यकी क्या सहज स्थिति होगी? इस प्रकार दृष्टिमें जब स्वरूप भानमें होता है तो वहाँ तो स्वच्छता दृष्टिगत होती है और ऐसे ही दृष्टिबलसे इस सम्यग्दृष्टि पुरुषने अपने आपका यों अनुभव किया है कि मैं शुद्ध स्फटिकके समान स्वच्छ हूं। जैसे स्फटिक मणि अत्यन्त स्वच्छ श्वेत निर्मल रहता है, कदाचित् कोई अन्य उपाधि निकटमें लगी हो लाल पीला आदिक वहाँ प्रतिबिम्ब है। वहाँ लाल पीलापना पाया जा रहा है, किन्तु जो लोग स्फटिकके सही स्वरूपको जानने वाले हैं वे

उस समय भी यह जान रहे हैं कि यह स्फटिक मणि तो स्वच्छ ही है। इस तरह जिसने अपने आत्माके सहज स्वरूपका अनुभव किया है उस जीवके पूर्वबद्ध कर्मविपाकवश रागादिक भी बने तो ऐसी रागादिक छायाके समयमें भी यह ज्ञानी पुरुष विपाकके रूपसे यहाँ जान रहा है कि मैं शुद्ध स्फटिकके समान हूं, अर्थात् स्वच्छ हूं।

ज्ञानी पुरुषका आकाशवत् निःसङ्गरूपमें स्वात्मावलोकन—ज्ञानी पुरुष अपने आपको अन्तर्दृष्टिसे निरख रहा है। वहाँ यह देख रहा है कि मैं आकाशकी तरह निःसंग हूँ। आकाश में कौनसा परिग्रह लादा जा सकता है जो आकाशके साथ घुलमिल जाय? यद्यपि आकाशमें ही यह सब परिग्रह पड़ा है, ले कहाँ जायेंगे? ये समस्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल आदिक सब आकाशमें ही तो हैं, और विशेषतया पुद्गल जिनको कि लोग संग्रहरूप कहा करते हैं वे भी आकाशमें ही तो हैं, लेकिन आकाशने क्या इन्हें संग्रहा? चीजोंको उठाकर कहीं ले जाय तो क्या आकाश प्रदेश चिपककर संग जाते हैं? अरे आकाश तो निरपेक्ष है, जहां है तहाँ ही अवस्थित है। वहाँ कुछ भी आये जाये मगर संग नहीं रहता है। तो आकाश की तरह यह मैं आत्मा भी अमूर्त हूं। इस अमूर्त आत्मामें संग क्या आयगा? हाँ इतनी बात यहाँ गड़बड़ीकी भी हो जाती है व्यामोहमें कि चूंकि इसका चैतन्य है और कर्मउपाधिका अनादिसे बन्धन चला आ रहा है और वहाँ यह अशुद्ध पर्यायमें चला आ रहा है। यहाँ ऐसी योग्यता है कि अपने उपयोगको अपने स्रोतसे निकालकर अर्थात् बाह्यदृष्टि करके ये विकल्प करें तो उन विकल्पोंका संग बना, वे विकल्प संग हो गए, लेकिन वे विकल्प भी तो मेरे स्वरूप नहीं, मेरे स्वभाव नहीं, मेरे ही आधारसे मेरे ही अपादानसे परकी अपेक्षा बिना, सम्बन्ध बिना होता हो ऐसा तो नहीं है, अतः रागादिक रूप ही मैं नहीं, वे विभाव मेरे नहीं। मैं तो एक शुद्ध चिन्मात्र हूं। उस स्वरूपको दृष्टिमें लेकर यहाँ निरख रहा है ज्ञानी कि मैं आकाशवत् निःसंग हूं। यह ज्ञानी पुरुष अपने आपका जिस रूपसे प्रत्यक्ष करता है उस रूपसे स्वाद लेता है, ऐसा उक्त श्लोकमें जो बताया है उसके ही स्पष्टीकरणमें यह सब चिन्तन बताया जा रहा है कि ज्ञानी पुरुष अपने आपको कैसा अनुभवता है, उसे अपना सम्वेदन प्रत्यक्ष किस भाँति हो रहा है।

ज्ञानी पुरुषका इन्द्रियातीत अनन्त ज्ञान दर्शन वीर्य सम्पन्नताके रूपमें आत्मावलोकन—ज्ञानी पुरुष निरखता जा रहा है कि मैं इन्द्रियातीत अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तआनन्दकी मूर्ति हूं अर्थात् अनन्त स्वाभाविक गुण वाला हूं। सिद्ध प्रभुमें जो अनन्त ज्ञानादिक प्रकट हुए हैं वे क्या कहीं बाहरसे लाकर प्रकट हुए हैं? वे सब उन निर्मल परिणामोंके आवरक घातक कर्मोंके अभाव होनेपर स्वयं ही अपने आपमें प्रकट हुए हैं अथवा स्वभावदृष्टिसे यह परख लीजिए कि वे सब आत्मामें ही थे, स्वभावमें ही थे, उस ही प्रकारका

स्वरूप है लेकिन जब आवरण पड़ा है तो वह तिरोहित था। आवरण मिटा कि वह प्रकट हो गया। तो जो द्रव्य शुद्ध है, जीव है, वही द्रव्य, वैसा ही द्रव्य तो मैं हूं। वही शक्ति, वही स्वभाव मेरेमें भी है। उस ही स्वभावरूप हूँ। तो भले ही कर्म आवरणकी दशामें आवरण हो रहा है इन अनन्त गुणोंके विकासका, लेकिन आवरण होकर भी बात वही है जैसी कि सिद्ध प्रभुमें है। तो इस अन्तःस्वभावकी दृष्टिको लेकर यह ज्ञानी चिन्तन कर रहा है कि मैं इन्द्रियातीत, अनन्त ज्ञानादिक स्वाभाविक गुण वाला हूं। जब तक अपने स्वभावकी महिमाका परिचय नहीं होता तब तक स्वभावकी ओर दृष्टि न जायगी। स्वभावकी ऐसी ही अपूर्व महिमा है कि जिस प्रकार सिद्ध प्रभुकी व्यक्त महिमा बन रही है वही महिमा मेरे स्वरूपमें है। तो ऐसे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्द—इन चार महागुणोंसे सम्पन्न हूं। जैसा जो जीव अपनेको निरखता है उस प्रकारसे वह अपनेमे अनुभव, स्वाद, फल प्राप्त करता रहता है। स्थूल रूपसे यहीं देख लो—यह मनुष्य सुखी भी है, दुःखी भी है। जब अपने दुःखोंकी ओर दृष्टि देता है तो उसे सुख नहीं मालूम होता कि मैं कितनी अच्छी स्थितिमें हूं, उसे दुःख ही दुःख नजर आते हैं। जरा-जरासी बातें भी दुःखरूप प्रतीत होने लगती हैं और जब वे सब अपनी सुखमय उत्कृष्ट स्थितिको निरखता है तो उसे यहाँ कोई दुःख नहीं मालूम होता है। और यों ही लगता है कि यह आया है, यह जा रहा है, मैं कुछ भी दुःखी नहीं हूं। मैं तो बहुत समृद्धिवान हूं। तो इसी प्रकार जब इस ज्ञानीने अपनेको अनन्तचतुष्टयसम्पन्न देखा तो यही अनुभव कर रहा है कि जिसमें उसे ऐसा ही निर्मल आनन्द जग रहा है।

ज्ञानी जीवका अतीन्द्रियसुखाद्यनन्तस्वाभाविक गुणान्वित रूपमें स्वात्मावलोकन—यह ज्ञानी जीव अपने आत्माका किस प्रकार अवलोकन करता है, यह प्रसंग चल रहा है। यह पुरुष अपने आपको अतीन्द्रिय अनन्त सुख स्वाभाविक गुणोंसे युक्त अनुभव करता है। जब यह अपने विशुद्ध सत्त्वपर दृष्टि देता है तो वहां इसे यही देखनेमें आता है कि यह तो मैं निराकुल स्वभाव हूं। मेरेमें विकल्प, आकुलता होनेका स्वभाव ही नहीं है। जिसका स्वभाव नहीं है वह यहां ही से कैसे बता सकते हैं? किसी परका आश्रय करनेपर यह इसमें भूमिका बन जाती है आकुलताके लिए किन्तु आकुलता इस आत्माका स्वभाव नहीं है, और जब स्वभाव नहीं है तो इसकी निराकुल दशा हुई तो वह निराकुलता कितनी है इसकी यहां सीमा नहीं हो सकती। तब उसे यह कहेंगे कि अनन्त है। एक तो प्रकृतिरूपसे अनन्त है और दूसरे अविनाशी रूपसे भी अनन्त है, जिसके यह निराकुल दशा प्रकट हो जाती है पर्याय होनेके कारण प्रतिक्षण सदृश निराकुलता परिणमन होनेपर भी इसका कभी अभाव नहीं हो सकता। ऐसी अनन्त निराकुल स्थितिसे मैं सहित हूं। यद्यपि वर्तमानमें ज्ञानीके यह स्थिति प्रकट नहीं हुई किन्तु जब स्वभावमें निरखते हैं तब उसे आकुलता नजर न आनेके कारण इस ही ढंगसे प्रतीति

होती है, क्योंकि ऐसा उसका स्वभाव है। निराकुल स्थितिमें सीमा नहीं हो सकती। कारण कि वह समस्त आकुलताओंसे रहित स्थिति है। वहां विषमता होती ही नहीं और जहां विषमता नहीं है वहां उसकी सीमा भी नहीं की जा सकती। सीमा जितनी भी बना करती है विषम परिणतियोंमें बना करती है। जो शुद्ध स्वाभाविक समपरिणमन है उसमें अनुभागकृत, शक्तिकृत सीमा नहीं की जा सकती है। यों ज्ञानी जीव अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द नामक स्वाभाविक गुणसे अन्वित अपने आपको देखता है।

ज्ञानमूर्ति आत्मद्रष्टा पुरुषके प्रसङ्गवश अन्येच्छा होनेपर भी अतत्परताके कारण कृतार्थताका ही अनुभवन—यह ज्ञानी जीव अपने आत्माको अबद्ध, अस्पृष्ट आदि रूपमें देखता हुआ रहता है। प्रायः किसी प्रसङ्गवश प्रयोजनसे अन्य पदार्थकी भी इच्छा करता है, तो करे, लेकिन वास्तवमें यह तो कृतार्थकी तरह है, उस पदार्थमें उसको व्यासक्ति नहीं है, क्योंकि यह तो एक ज्ञान मूर्ति वाला हुआ है। इसे ज्ञानमें यह प्रतीति है, भान है कि मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूं, इस ज्ञानस्वरूप निज तत्त्वमें किसी दूसरी वस्तुका प्रवेश नहीं है। तब उसको आकुलता और क्षोभका प्रसंग ही क्या है? ऐसा अपने आपको निरखते हुए यह ज्ञानी पुरुष ज्ञानमूर्ति कहलाता है। ऐसा ज्ञानमूर्ति सम्यग्दृष्टि जीव अविरत या देशसंयत या प्रमत्तविरतकी स्थितिमें प्रयोजन माफिक किसी वस्तुकी इच्छा भी करे तो भी वह कृतार्थकी ही तरह है, क्योंकि उसके अन्तः यह निर्णय है कि जगतमें कुछ भी कार्य मेरे करने योग्य नहीं है, अतएव मैं उन सबसे निरत ही रहूंगा। इस निर्णयके कारण ,उसके किसीमें भी अन्तः इच्छा नहीं उत्पन्न होती है।

ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम्।
न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम् ॥२३८॥

ऐहिक वैषयिक सुखकी सुखभासता व दुःखरूपताका स्मरण—सम्यग्ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार कर रहा है कि सांसारिक जितने भी सुख हैं वे वैषयिक हैं। किसी परविषयका आश्रय करके उत्पन्न हुए हैं, इस कारण सुख नहीं हैं, किन्तु सुखाभास हैं और सुखाभास भी क्या कहें, निःसंशय वह सब दुःखरूप ही हैं। सर्व परपदार्थोंमें विविक्त अपने आपके स्वरूप एकत्वमें यह गत आत्मा किन्हीं भी बाह्य वस्तुओंपर दृष्टि करे और वैसे ही रागद्वेषकी बात करके अपने आपमें क्षोभका परिणमन पाये और उस स्थितिमें समझे कि मैं दुःखी हूँ, मेरे मौज है तो उसकी ऐसी दशा है कि जिससे बरबादी तो हो रही है किन्तु अपनी बरबादी नहीं समझते और उसी बरबादीसे मोह किया जा रहा। यों समझिये कि जैसे कोई अपने ही घातका साधन खुद जुटाये ऐसा कोई लोकमें हो तो उसे विवेकी नहीं कहते, इसी प्रकार ये संसारी प्राणी खुदके घातका साधन खुद जुटाते हैं तो इन्हें विवेकी कैसे कहा जायगा? तो जितने भी

ऐहिक सुख हैं वे सब वैषयिक हैं, सुखाभास हैं। और इतना ही नहीं, किन्तु वे निःसंशय दुःखरूप ही हैं। किस तरह वे दुःखरूप हैं—इस सम्बन्धमें आगे विवरण आयगा, पर संक्षेपतः यहाँ यह निर्णय रखना कि जैसे दुःख दुःखरूप है इसी प्रकार संसारका सुख भी दुःखरूप है।

तस्माद्धेयं सुखाभासं दुःखं दुःखफलं यतः।
हेयं तत्कर्म यद्धेतुस्तस्यानिष्टस्य सर्वतः ॥२३६॥

दुःखरूप, दुःखफलरूप सुखाभासकी हेयता व अनिष्ट सुखाभासके हेतुभूत कर्मकी भी हेयता—चूंकि वह सुखाभास है, दुःखरूप है, दुःखका कारण है, इस कारणसे वह सारा सुखाभास हेय है, त्यागनेके योग्य है। सुखाभास ऐहिक सुख दुःखरूप है। यह बात तो उस सुखके भोगते समय कुछ विवेक जगायें तो स्वयं भी परिचय कर सकते हैं, पर पर है, ऐसा भान रखते हुए फिर उस सुखकी मीमांसा की जाय तो वहाँ विदित होगा कि सिवाय क्षोभके यहाँ और कोई फल नहीं है। वैषयिक सुखोंमें अनन्त काल बिता दिया लेकिन किसी सुखसे यहाँ अब तक अघाया नहीं जाता। जैसे कि ज्ञान प्रकाश नहीं होता है। तो यह इन सांसारिक सुखोंको भोगकर अपना कौनसा काम निकाल लेगा, अपना क्या पार पा लेगा? इन सुखों मौजोंमें यह रोता ही रहता है, भरा पूरा नहीं रहता। तृप्ति हो, अनाकुलता हो, धीरता हो, ऐसी स्थिति आये उसीको ही तो कहेंगे कि यह भरा पूरा आत्मा है और जहाँ क्षोभ है, आकुलता है उसे कहेंगे कि यह रीता पुरुष है। तो इन सुखोंको भोगकर भी कोई भरपूर नहीं बन सकता, किन्तु रीता और दीन हीन ही रहा। तो यह सांसारिक सुखाभास हेय है। यह हेय है इतना ही नहीं, किन्तु इसका जो कारणभूत कर्म है वह भी हेय है। ये विषयसुख सर्व ओरसे अनिष्ट करने वाले हैं और इन विषय सुखोंका कारणभूत कर्मबन्धन भी अनिष्टका ही हेतु है। इस कारण ये सब कर्म भी हेय हैं। कर्मका कैसा आच्छादन है कि मूर्त होनेके कारण इनका आत्माके साथ गठजोड़ा भी नहीं बनता कि काठ बन जायें या ये छू लें, पकड़ लें, फिर भी ये कर्म इस जीवके साथ ही रहते हैं। एक क्षेत्रावगाही हैं, इनका निमित्तनैमित्तिक भाव है, सो कर्ममें इस तरहके विपाकके सम्बन्ध बनाये रहनेकी प्रकृति कब तक है जब तक कि कर्मके फलमें इस जीवकी रुचि है। जिस क्षण कर्मके फलमें राग न रहेगा, कर्मफलसे उपेक्षा बन जायगी, समस्त वैषयिक सुखोंमें वैराग्य बनेगा तो जैसे धूलभरी गीली धोतीमें जब गीलापन न रहेगा, सूख जायगी तो वह धोती रजकणमें कहाँ तक चिपटेगी? थोड़ासा झड़का कि वह सब गिर जायगी। तो जैसे उन रजकणोंके चिपकानेका, बन्धनका, लगाये रहनेका कारण है धोतीकी गिलाई, इसी तरह समझना चाहिए कि इन कर्मोंके विपाकका, बन्धनका, साथ बने रहनेका, कर्मफल देते रहनेका सबका साधन है कर्मफलमें रागका होना। सम्यग्दृष्टि जीवको न कर्ममें राग है और न कर्मफलमें राग है। इस वैराग्यके बलसे पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा वहाँ भी

होती है और शारीरिक क्रिया भी बनें तो वह भी निर्जराका ही कारण बनती है।

तत्सर्वं सर्वतः कर्म पौद्गलिकं तदष्टधा।
वैपरीत्यात्फलं तस्य सर्वं दुःखं विपच्यतः ॥२४०॥

विपरीत विपाकमय, दुःखफलरूप पौद्गलिक कर्मकी अष्टविधता—ये समस्त कर्म पौद्गलिक हैं और ८ प्रकारसे कहे हैं। कार्माणवर्गणा जाति नामके पुद्गल स्कंध जिनमें यह योग्यता है कि जीवके कषाय भावोंका निमित्त पाकर कर्मरूप परिणम जाय और और जीवके साथ बन्धनको प्राप्त हो, ऐसे ये कर्म जीवके सुख दुःखके कारणभूत होते हैं। कर्मके पर्यायवाची अनेक शब्द लोकरूढ़िमें प्रचलित हैं, भाग्य, तकदीर, दैव, किस्मत आदिक, लेकिन इनके सम्बंध में इनका सही स्वरूप क्या है—यह निर्णय लोगोंके नहीं है। भाग्य क्या है, तकदीर क्या कहलाती है? किसीका ख्याल बनता है कि कोई ईश्वर मस्तकमें रेखायें खींच देता है तकदीरके रूपमें, किसीका ख्याल है कि यों तकदीर दे देती है। क्या भाग्य है, क्या तकदीर है, इसका निर्णय अन्य लोगोंके यहाँ नहीं पाया जाता, किन्तु जैनदर्शनने इसका स्पष्ट निर्णय किया है कि वह कर्म, किस्मत, तकदीर, भाग्य दो प्रकारका है—१–भावरूप २–द्रव्यरूप। तो भावरूप तो जीवके विभाव कहलाते हैं और द्रव्यरूप ये पौद्गलिक स्कंध हैं कार्माणवर्गणा जातिके। जीवके कषाय भावका निमित्त पाकर ये सूक्ष्म कार्मावर्गणा स्कंध जो अप्रतिघात हैं, इतने सूक्ष्म हैं कि जिन्हें यों अमूर्तवत कह लीजिए। जब पहाड़से, बज्रसे, किसीसे इनका प्रतिघात नहीं हो सकता तो इन्हें सूक्ष्म तो कहेंगे ही। जहाँ स्कंधोंका प्रकरण आया है वहाँ इन कार्माणवर्गणाओं को सूक्ष्म बताया गया है। तो ऐसे सूक्ष्म पौद्गलिक स्कंध स्वतः ही कर्मरूप परिणम जाते हैं जब तक कि जीवके कषायभावका निमित्त प्राप्त होता है। ऐसे ये पौद्गलिक कर्म ८ प्रकारके कहे गए हैं—इनकी मूल प्रकृति ८ प्रकारकी है। प्रकृति कहते हैं स्वभावको। किस रूप फलके ये कारण बनेंगे उस स्वभावके नातेसे इसकी प्रकृतियाँ कहलाती हैं। इसी कारण कर्मका दूसरा नाम प्रकृति भी है। ये कर्म आठ प्रकारके हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनकी प्रकृति नामके अनुरूप है। ये सभी कर्म दुःखफल वाले हैं।

कर्मकी विपरीत विपाकताका दिग्दर्शन—जैसे कि कुछ दार्शनिक मानते हैं कि दो ही तत्त्व हैं—प्रकृति और पुरुष। और जितनी विषमता है लोकमें ठाटबाट है, जीवकी विषमता, अचेतनकी विषमता इन सबका कारण वह प्रकृति है। और दृष्टि समन्वयसे यह बात तथ्यमें भी आती है कि कितनी विषमतायें हैं जीवमें अथवा अचेतनमें, ये सब कर्मप्रकृतिके निमित्तसे हुई हैं। जो संचेतन है प्राणी अथवा कर्मप्रकृतिके उदयसे यह बात हुई यह तो स्पष्ट है, पर जो पत्थर, भींत, चौकी, कलम आदिक दिख रहे हैं अचेतन पदार्थ; इनके कायका, शरीरका

निर्माण भी तब हुआ जब वहाँ जीवका सम्बन्ध था, और उस उस प्रकारकी प्रकृतिका उदय चल रहा था, तब शरीरका ढांचा आदिक ये सब चीजें बनीं। तो इस तरह भी ये सब प्रकृति के उदयके कारण हैं। तो प्रकृतिका इतना बड़ा प्रताप है, फैलाव है तो ऐसे ये पौद्गलिक कर्म ये सभीके सभी विपरीत फल देने वाले हैं, क्योंकि चेतनासे विपरीत हैं। इनकी प्रकृति विपरीत है, इनका फल भी विपरीत है। सो जब इतना उल्टा विपाक होता है, उदयकालमें आता है तो सभी फल दुःखरूप ही होते हैं। बताया गया है कि तीर्थंकर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उस सम्यग्दृष्टिकी सीमामें हो सकने वाले संक्लेश परिणामयुक्त सम्यग्दृष्टिके होता है। उसका अर्थ यह है कि वह बहुत काल तक अभी संसारमें रहेगा। तीर्थंकरकी स्थिति अधिक बँध गई, वह सूचना है कि इस सम्यग्दृष्टिके दर्शनविशुद्धि आदिक परिणाम तो तीर्थंकरप्रकृतिके बन्धके अनुकूल हुए, सो तीर्थंकर प्रकृति तो बँध गई, किन्तु परिणाममें, अवस्थामें जितना संक्लेश रूप हो सकता उतना संक्लेशरूप कर डाला। उसका फल यह है कि यह जल्दी मुक्त न होगा। तो जब ऐसी शुभ प्रकृतियोंमें भी स्थितियोंकी अधिकता होनेकी सूचना जब किसी रूपमें ही मिल रही है तब सब प्रकृतिओंकी बात तो स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि उनका विपाक है वे दुःखरूप ही होते हैं।

चतुर्गतिभवावर्ते नित्यं कर्मैकहेतुके।
न पदस्थो जनः कश्चित् किन्तु कर्मपदस्थितः ॥२४१॥

चतुर्गतिमय संसारमें प्राणियोंकी अपदस्थता व कर्मपदस्थता—चतुर्गति संसार रूप चक्रमें पर्यटन करते हुए, घूमते हुये ये जीव अपने स्वरूपमें स्थित नहीं हैं, किन्तु कर्मस्वरूपमें स्थित हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप जो अपना स्वरूप है उस स्वरूपमें स्थित नहीं हैं, वहाँ इसकी दृष्टि और परिणति नहीं है, वहाँ यह तृप्त नहीं हो पाता है, किन्तु कर्मके उदयसे प्राप्त हुए जो रागद्वेष और अन्य साधन इन ही में वह तृप्त रहता है, इन ही में एकाकार अभेद रूप से अपनेको लगाये रहता है। इस तरह यह जीव कर्मपदमें स्थित है। कर्मके उदयसे उत्पन्न हुये जो पद हैं उन पदोंमें रम रहा है, इस कारण इसे परसमय कहा। जो परसमय है वह संसारमें भ्रमण करता है, तो यह स्थिति इस जीवकी जो बनी है इसके होनेमें उपादान तो वह स्वयं है, स्वयं ही उस प्रकार परिणम रहा है और निमित्त वहाँ कर्मका उदय है। कर्म के पदमें यह जीव कब तक स्थित रहेगा? जब तक कि यह विदित न कर ले कि यह स्वपद नहीं है यह पर पद है, इस पर पदमें न रमना चाहिये। स्वपद ही रमणके योग्य है। तो स्वपदका भान न होनेसे यह जीव कर्मपदमें रम रहा है। जैसे किसी सेठके पुत्रकी जायदाद सरकारने कोर्ट कर ली हो और उस लाखोंकी जायदादके एवजमें ५००) रु० मासिक भेजती हो तो वह बालक ५००) रु० मासिकमें कब तक रमेगा, जब तक कि उसे अपनी जायदादका

भान न हो । यों ही इस स्वपदका भान न होनेके कारण यह जीव इस कर्मपदमें (परपदमें) रमता है ।

स्वस्वरूपाच्च्युतो जीवः स्यादलब्धस्वरूपवान् ।
नाना दुःखसमाकीर्णे संसारे पर्यटन्निति ॥२४२॥

अलब्धस्वरूप स्वरूपच्युत जीवका संसारभ्रमण—यह जीव नाना दुःखोंसे भरे हुए संसारमें भूलते हुए अपने स्वरूपसे च्युत हो रहा है और अपने स्वरूपको नहीं पाया है, इस प्रकारकी स्थितिमें बना हुआ है । इस श्लोकमें ३ बातें कही गई हैं—(१) यह जीव दुःखमय संसारमें घूम रहा है । (२) यह अपने स्वरूपसे च्युत है, (३) इसने अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं किया । दार्शनिक पद्धतिसे इसमें कार्यकारणभाव बताया जाय तो इनका उल्टा विशेषण हो जायगा । (१) इस जीवने अपने स्वरूपको नहीं पाया । (२) अपने स्वरूपसे च्युत हुआ, (३) नाना दुःखमय संसारमें घूम रहा । अब इसमें पूर्व बात कारण है और उत्तर बात कार्य है । यद्यपि ये तीनों बातें एक साथ हो रही हैं फिर भी एक साथ होते हुएमें भी कार्य-कारणभाव परखा ही जाता है । जैसे एक साथ दीपक और प्रकाशकी निष्पत्ति हुई लेकिन दीपक कारण बताया गया, प्रकाश कार्य बताया गया । एक साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान निष्पन्न होते हैं लेकिन सम्यग्ज्ञान कारण बताया गया और सम्यग्ज्ञानको कार्य कहा गया । तो इस जीवने अपना स्वरूप नहीं पाया । यही कारण है कि अपने स्वरूपसे च्युत हो गया । जब अपनेमें अपना आनन्दधाम, विश्रामधाम हमारी दृष्टिमें नहीं है तब यह स्वरूपसे च्युत हो गया, तो पहिला विशेषण कारणरूपी है और दूसरा यह विशेषण कार्यरूप हैं, और जब इस जीवने अपना स्वरूप नहीं पाया और स्वरूपसे च्युत हो गया तो यह संसारमें घूमता रहा है । इससे यह भी शिक्षा निवृत्तिकी लेना कि हमें यदि यह चाहिये कि संसारमें घूमना बन्द हो जाय, जन्ममरणकी परम्परा हमारी दूर हो जाय तो उसका जो कारण है उस कारणको मिटा दीजिये । संसारमें परिभ्रमणका कारण है अपने स्वरूपसे च्युत मत हो, परिभ्रमण मिट जायगा । अपने स्वरूपसे च्युत न होनेकी बात बनेगी अपनी स्वरूपच्युतिका कारण मिटानेसे । स्वरूप च्युतिका कारण है, इसने अपने स्वरूपको नहीं पाया । तो अपने स्वरूपको पा लिया जाय तो वे बाधायें दूर हो जायेंगी और अपने स्वरूपको हम पायें, इसके लिए यही प्रयत्न करना है कि वस्तुस्वरूपका अभ्यास करें और जिस प्रकार जो पदार्थ है उस तरहका चिन्तन रखें । निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान । अर्थात् स्वको स्व और परको पर जान लेना यही उपाय है स्वरूपप्राप्तिका, और स्वरूप प्राप्त होनेपर स्वरूप उष्टता समाप्त हो जायगी और स्वरूप प्राप्त हो, स्वरूप च्युति हमारी समाप्त हो तो संसारका परिभ्रमण दूर हो जायगा ।

ननु किञ्चिच्छुभं कर्म किञ्चित्कर्माशुभं ततः ।
क्वचित्सुखं क्वचिद्दुःखं तत्कि दुःखं परं तृणाम् ॥२४३॥

शुभ अशुभ कर्मके कारण सुख दुःख दोनोंके होनेपर भी केवल दुःखके ही बतानेके कारणकी जिज्ञासा—शंकाकार कहता है कि कोई कर्म तो शुभ बताये गए हैं और कोई कर्म अशुभ बताये गए हैं। तो कर्म दो प्रकारके कहे गए हैं—(१) पुण्यरूप याने शुभकर्मका उदय होता है तब जीवको सुख प्राप्त होता है और जब अशुभ कर्मका उदय होता है तो जीवको दुःख मिला करता है, और मनुष्योंमें दोनों ही कर्म पड़े हुए हैं—शुभ कर्म भी हैं और अशुभ कर्म भी हैं। तब यहाँ दोनों ही हैं, इनका एकान्त क्यों कहा जा रहा है ? और किन्हींको सुख भी है किन्हींको दुःख भी है। जब शुभ अशुभ कर्म सभीमें पाये जा रहे हैं तो उनमें यह विभाग कैसे बनाया कि दुःख ही दुःख है, सुख नहीं है ? अरे किन्हींको सुख है और किन्हींको दुःख है। यह ग्रन्थकारके उस मूल कथनके विरोधमें शंका की जा रही है जहाँसे यह बात उठायी कि पौद्गलिक कर्म सभीके सभी चूँकि वे विपरीततासे अपना विपाक किया करते हैं इस कारण दुःखरूप ही हैं, इसके विरोधमें यहाँ शंका की गई है कि सारे कर्म दुःखरूप नहीं हैं, किन्तु जो पाप हैं, अशुभ हैं उन्हें ही दुःखरूप रहना चाहिये और जो शुभ हैं, पुद्गल कर्म हैं वह तो सुखके हेतुभूत हैं। इस कारण संसारी जीवोंमें दुःख ही पाया जा रहा है, यह एकान्त ठीक नहीं, किन्तु किन्हींको सुख है, किन्हींको दुःख, ऐसा कहना चाहिये। अब इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं—

नैवं यतः सुखं नैतत् तत्सुखं यत्र नाऽसुखम् ।
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तच्छुभं यत्र नाऽशुभम् ॥२४४॥

असुखहीन सुखको ही सुख बताते हुए उक्त जिज्ञासाका समाधान—शंकाकारकी उक्त शंका यों संगत नहीं है कि सुखका और दुःखका सही स्वरूप नहीं जाना। सुख और दुःख ये दोनों दुःखरूप हैं—इस बातका शंकाकारने ध्यान नहीं रखा। तो शंकाके उत्तरमें कहा जा रहा है कि सुख तो नहीं कहलाता है जहां थोड़ा भी दुःख न हो। जहाँ असुख नहीं है सुख वहां ही है। अब इस परिभाषासे निरख लो कि स्वरूपसे च्युत रहनेकी स्थिति अपने स्वरूपको न पानेकी स्थिति तब तक है जब तक शुभकर्म भी बँध जाय। पुण्यकर्मके फलमें तो उसके उदयमें मिलेगा क्या ? कोई इन्द्रिय और मनके विषयकी साधना। उस समय यह अज्ञानी जीव जिसने अपने स्वरूपको नहीं प्राप्त किया, स्वरूपभृष्ट है तो बाह्य पदार्थोंको आश्रयभूत करके क्षोभ ही उत्पन्न करेगा, वहाँ शान्ति न मिलेगी। तो जहाँ दुःख रंचमात्र भी न हो सुख वही है। अब पहिले मोटे रूपमें भी देख लीजिये—गृहस्थीमें लोग इन्हें सुख बतलाते हैं—स्त्री भी है, पुत्र भी है, घर द्वार भी है, कमाई भी खूब हो रही है, बड़े-बड़े आरामके साधन हैं आदिक

लेकिन जरा उन धनिकोंकी २४ घंटेकी दिनचर्या तो देखो तब पता पड़ेगा कि वे सुखी नहीं हैं। तो सुख तो उसका नाम है जहाँ रंचमात्र भी दुःख न हो। पापकर्मके उदयमें दुःख होता है। वह तो सबको स्पष्ट है किन्तु शुभकर्मके उदयमें भी परको आश्रयभूत करनेकी इस जीवकी वृत्ति होती है, इसकी परमें आशा लगी है। बस दुःख यहीसे शुरू हो गया, फिर परके विषय में नाना विकल्प किया, दुःख यह हो गया। तो शुभ कर्मके उदय भी दुःखके फल वाले हैं ऐसा निर्णय करना चाहिये।

अधर्महीन परिणतिको धर्म बताते हुए उक्त समाधानका पोषण—दूसरी बात इसीकी पुष्टिके लिए कही जा रही है कि धर्म भी वह है जहाँ अधर्म नहीं है। रूढ़िमें कहते ही हैं लोग कि धर्म करो तो सुख होगा। तो उनके धर्मकी परिभाषा पोचली है और उनके सुखकी परिभाषा भी पोचली है। धर्म उनका है शुभ भाव। शुभ कहते हैं मन, वचन, कायकी ऐसी चेष्टाओंको जिनमें जीवकी हिंसा न हो, अमुक प्रकारसे दूसरोंका दुःख मिटे, यही भाव उनके धर्मके अथवा पुण्यके हैं। इन स्थितियोंमें भी जब इस जीवने अपने ज्ञानानन्द घन स्वरूपकी दृष्टि नहीं कर पायी तो ऐसे अज्ञानी जीवकी जो बाह्यमें धर्मक्रिया होती है वह वास्तवमें धर्म नहीं है। धर्म तो उसे कहते हैं जहाँ रंच भी अधर्म न हो। अधर्म है मिथ्यात्व और कषाय। जहाँ मिथ्यात्व तो भरा पूरा पड़ा ही हुआ है, क्योंकि अपने स्वरूपकी दृष्टि नहीं है, स्वरूपसे चिगकर बाह्यका ऐसा दिख रहा है तो वहाँ धर्म कहाँ रहा? जहाँ अधर्म रंच भी न हो उसका नाम है धर्म। अधर्म है रागद्वेषादिक विकारोंका परिणमन और धर्म है ज्ञातादृष्टा रहनेरूप परिणमन।

अशुभहीन तत्त्वको शुभ बताते हुए उक्त समाधानका पोषण—उक्त शंकासमाधानकी पुष्टिमें तीसरी बात कहते हैं कि शुभ भी वह कहलाता है जहाँ रंच भी अशुभ न हो। शंकाकारने यह बताया था कि कोई कर्म शुभ है, कोई कर्म अशुभ है। यहाँ तो यह संकेत दिया जा रहा कि सारे ही कर्म अशुभ हैं, शुभ उनमें कोई है ही नहीं। शुभ और अशुभ तो उन कर्मोंमें प्रयोजनवश उपेक्षासे विभाग बनाये गए हैं। जब सभी कर्म पौद्गलिक हैं, सभी कर्म अज्ञानरूप हैं, सभी कर्म किसी न किसी प्रकारके बन्धनके हेतुभूत हैं तो किसको शुभ कहा जायगा? शुभके मायने जो मंगलरूप है, कल्याणरूप है। कहते हैं ना कि शुभं अस्तु, मायने शुभ हो, मंगल हो, कल्याण हो। तो आत्माका शुभ काम हो, मंगल काम हो ऐसे कर्मका करण कौन कर्म है? तो कर्म भी शुभ अशुभ हैं। वास्तवमें शुभ तो वह कहलाता जहाँ अशुभपना रंच भी न हो। इस तरह इस श्लोकमें यह समाधान दिया गया है कि शंकाकारका यह सोचना कि किसीको सुख है संसारमें और किसीको दुःख है, क्योंकि उनके शुभकर्म और अशुभ कर्मका बन्ध है, उदय है, सो यह बात यों सही न रही कि उन शुभ कर्मोंका जो विपाक होता

है वह विपरीत रूपसे होता है । आत्मा तो है ज्ञानस्वरूप और कर्मका फल होता है अज्ञान रूप, तो कैसे यह कहा जायगा कि कोई कर्म सुख देता है । सभी कर्म अशुभ हैं । सभी कर्म दुःखके हेतुभूत हैं, और सभी कर्मोंके भाव अधर्मरूप हैं । तब यह निश्चित हुआ कि संसारमें घूम रहा यह जीव स्वरूपसे च्युत है, अपने स्वरूपको इसने पाया नहीं है, और नाना दुःखोंको यह सह रहा है ।

इदमस्ति पराधीनं सुखं बाधापुरस्सरम् ।
व्युच्छिन्नं बन्धहेतुश्च विषमं दुःखमर्थतः ।।२४३।।

सांसारिक सुखकी दुःखरूपताका चित्रण—यह इन्द्रियसे होने वाला सुख पराधीन है, अब उसके सुखके विषयमें बताया जा रहा है कि वास्तवमें दुःखरूप है । उक्त श्लोकमें यह समाधान दिया गया कि सुख संसारमें कहीं नहीं । जिसे सुख समझा जा रहा हो वह सुख नहीं है, किन्तु दुःख ही है । तो सारे संसारके सुख दुःखरूप ही हैं, इस बातका समर्थन इस श्लोकमें किया गया है । ये सारे वैषयिक सुख स्पर्शनइन्द्रिय, रसनाइन्द्रिय, घ्राणइन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, श्रोत्रइन्द्रिय और मनइन्द्रियके विषयभूत जो भी भोगोपभोग हैं इनका आश्रय करके, इनका विषय करके जो सुख जीवके होता है वह पराधीन है । पहिले तो कर्मका उदय चाहिए । उस उदयके बिना सांसारिक, वैषयिक सुख नहीं मिलता, फिर उन कर्मोंके उदयके विपाक होनेके लिए नोकर्म चाहिए, कोई आश्रयभूत पदार्थ चाहिये । उस आश्रयभूत पदार्थका समीप रहना, न रहना, बिछुड़ना, कुछ होना यह तो इसके आधीन है नहीं । तो कितनी पराधीनतायें हैं जिनमें कि यहाँ सुख माना जा रहा है ? विरुद्ध है सुख, इतनेपर भी कोई यदि ऐसा गम खाये कि है विरोध तो रहने दो, सुख तो मिल जायगा । थोड़ा विरोध हो जायगा तो हो जाने दो, पर कुछ मौज तो मिलेगा । तो कहते हैं कि अरे ये सांसारिक सुख बाधासहित हैं । अगर ये सुख बाधारहित होते और परके आधीन होते तब भी यह कर्तव्य हो जाता कि पावो ये वैषयिक सुख, भले ही पराधीन हों, क्योंकि वे सुख मिलेंगे तो ज्योंके त्यों रहेंगे, उसमें कोई बाधा न आयगी, लेकिन ऐसा होता कहाँ है ? ये सांसारिक सुख तो पराधीन हैं और बाधासहित हैं, इन सुखोंके बीच क्षण-क्षणमें अनेक बाधायें रहती हैं । जो लोग कुटुम्बमें रहकर स्त्री, पुत्र, बान्धव आदिकका सुख मानते हैं उनको उन्हींकी वजहसे, उनके ही कारणसे कितनी प्रकारकी बीचमें बाधायें आती रहती हैं । कभी वे लोग नाराज होकर कटुक वचन कह देते हैं । कहीं किसीकी आशाकी पूर्ति न कर सके तो रूठे-रूठे रहते हैं,····। तो घर कुटुम्बमें रहकर भी जिनमें सुख माना जा रहा है उनके बीच भी देखो कितनी बाधायें भरी हुई हैं, और फिर कोई यदि ऐसा भी सोच ले कि चलो रहने दो, सुख पराधीन भी रहें और बाधासहित भी रहें, पर जितनी देर बाधा न रहे उतनी देर तो मौज लूटनेको मिल जायगा । ये ग्रंथकार

महाराज उस सुखसे हमें मना क्यों कर रहे हैं···? तो तीसरा विशेषण बताया है कि ये सांसारिक सुख शांत हैं, अर्थात् अन्तसहित हैं, विच्छुन्न होते हैं। जिस समय जो सुख मिला वह दूसरे क्षण भी न ठहर सकेगा, विनाशीक है। इस कारण ऐसे इन सांसारिक सुखोंमें रति नहीं करना चाहिये। और ऐसे सुखोंके कारणभूत कर्मको भी दुःखका हेतु ही समझना चाहिये। इतनी खराबियाँ सुखोंमें होनेपर भी और भी खराबियाँ बतला रहे हैं कि सुख मिला, पराधीनता भी सही, व्याकुल भी हुए, नष्ट भी हो गए, पर एक बाधा और दे गए, वे बंध करा गये आगेके लिए, तो ये सुख बन्धके कारणभूत भी हैं। इतनी तक भी खैर नहीं है कि चलो रच लें, पिट लें, जो बने सो बने, खेल खत्म हो गया, यहाँ तक ही बात नहीं है। वह आगेके लिए भी बन्धन करा जायगा, जकड़ा जायगा। तो यों वह बन्धका हेतु भी है। इस तरहसे वह सुख महाविषम क्लेशरूप है, और बड़े उतार चढ़ाव वाला है, सदा क्षोभको उत्पन्न करने वाला है, इस कारणसे यह सुख जो है वह दुःखरूप ही है, यह इसका सारांश निकला।

भवार्थश्चात्र सर्वेषां कर्मणामुदयः क्षणात्।
बज्राघात इवात्मानं दुर्वारो निष्पिनष्टि वै ॥२४६॥

कर्मोदय द्वारा बज्राघातकी तरह जीवका निष्पेषण—उक्त कथनका सारांश यह है कि अशुभ कर्मोंका उदय एक क्षणमात्रमें बज्रपातकी तरह आत्माको बुरी तरहसे पीस देता है। पिसना किसे कहते हैं यदि इसका ठीक स्वरूप जानना है तो जो नहीं पिसे हैं ऐसे प्रभुके स्वरूपको देखें तो विदित होगा कि इसका नाम पिसना है। जिन कर्मोंसे पिस रहे उन्हीं कर्मोंको अपना रहे, पर उन्हें यह ज्ञात नहीं होता कि हम इन कर्मोंसे पिस रहे हैं। जो स्वरूप अरहंत का है, जो आनन्दमय है, जो सर्व परसे विविक्त हैं, जिनमें जरा भी क्षोभ नहीं है ऐसी स्थिति जो प्रभुमें गुजर रही है उसको निरखिये तो ध्यान आयगा कि पिसना इसका नाम है। यह मैं आत्मा इस तरह कर्मोंके वश होकर पिस रहा हूं, अथवा अपने आपकी अनुभूतिसे भी समझमें आयगा। जब स्वानुभूतिका आनन्द जिसे प्राप्त होगा तो उस आनन्दको मुकाबले रखकर समझ पायगा कि पिसना इसको कहते हैं। ये जो रागद्वेष विकल्प, विचार, क्षोभ, आकुलता आदिक हो रहे हैं इनमें उस स्वरूपकी दृष्टि नहीं हो सकती। इसीका नाम पिसना है। तो ये कर्म उदयकालमें ही क्षणमात्रमें ही उदय भी एक क्षणको होता है और फल भी एक क्षणको मिलता है। तो क्षणमात्रमें ही समस्त कर्मोंका उदय बज्रपातकी तरह चोट पहुंचाता है और इसको पीस डालता है। जहाँ ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्ति पूर्ण हो गया, यह अपने विकासमें न रह सका, विकृत हो गया, इसको पतासा ही नही चल रहा तो इससे बढ़कर पिसना और क्या कहलायेगा? तो सभी कर्म दुःखरूप हैं और ये कर्म इस आत्माको बज्रपातकी तरह पीस डालते हैं।

व्याकुलः सर्वदेशेषु जीवः कर्मोदयाद्ध्रुवम् ।
वन्हियोगाद्यथा वारि तप्तं स्पर्शोवलब्धितः ॥२४७॥

अग्नियोगसे संतप्त जलकी भांति कर्मोदयसे जीवके सर्व प्रदेशोंमें व्याकुलता—उक्त श्लोकमें यह बताया गया था कि अशुभ कर्मका उदय बज्राघातकी तरह इस जीवको पीस डालता है । तो उसीकी पोषणामें यह कहा जा रहा है कि कर्मके उदयसे यह जीव सर्व प्रदेशों में व्याकुल है और इस तरह व्याकुल है, इस तरह खौल रहा है जैसे कि अग्निके सम्बन्धसे तप्त होकर जल खौला करता है । तो वहाँ जैसे बज्राघातकी तरह पीसनेकी बात कही गई थी तो इस श्लोकमें अग्निके सम्बन्धसे खौलते हुए जलकी बात बतायी जा रही है । जैसे गर्म करनेपर जल खलबला जाता है, उसे कहीं स्थिरता नहीं रहती है, इसी प्रकार यह जीव भी सर्व प्रदेशोंमें व्याकुल रहता है, संतप्त रहता है, सर्व प्रदेशोंमें खलबला जाता है । तो इसी तरह कर्मोंका उदय इस जीवके लिए दुःखका हेतुभूत है । यह सब प्रसंग चल रहा है शंकाकारकी उस शंकाके समाधानमें तो यह शंका की गई थी कि जब शुभकर्म भी हैं, अशुभ कर्म भी हैं और शुभकर्मके फलमें सुख होता है तथा अशुभकर्मके फलमें दुःख होता है तब केवल जीवोंके दुःख ही क्यों बताया गया है कि इन जीवोंके केवल दुःख ही है । सुख भी तो है । समाधानमें बताया जा रहा कि यहाँके ये वैषयिक सुख सुख नहीं हैं, बल्कि सुखकी स्थितिमें भी यह जीव पिसा हुआ रहता है, खलबलाता हुआ रहता है, सर्व प्रदेशोंमें व्याकुल रहता है । ऐसा ही कर्मोदयका और जीवकी व्याकुलताका निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है । अब यहाँ भी देख लीजिये—पानी जो आगके सम्बन्धसे गर्म हुआ तो आगकी कोई चीज पानीमें न पहुंच सकी, पानी और आगमें भिड़ंत नहीं हो पायी, लेकिन ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि उसके उस तरहके सम्बन्धको पाकर पानी खलबला जाता है । तो यहाँ भी देखिये—जीवमें कर्म स्पर्शको प्राप्त नहीं हो सकते, जीवमें कर्मकी गाँठ बँध जाय ऐसी बात नहीं है, फिर भी एक सम्बन्ध है निमित्तनैमित्तिक भावरूपमें कि कर्मके उदयमें यह जीव इस तरह सर्वप्रदेशोंमें व्याकुल हो रहा है ।

साताऽसातोदयादुःखमास्तां स्थूलोपलक्षणात् ।
सर्वकर्मोदयाघात इवाघातश्चिदात्मनः ॥२४८॥

सर्वकर्मोदयाघातसे चिदात्माका आघात—यह जो कथन किया गया है कि सातावेदनीयका उदय हो अथवा असाता वेदनीयका उदय हो उससे दुःख ही होता है । यह तो एक सांसारिक कल्पना अपेक्षासे जीवोंको समझा गया है । साता कर्मके उदयसे जीवको दुःख होता है और असाता कर्मके उदयसे जीवको दुःख होता है, किन्तु इस दृष्टिसे देखिये कि सुखके मायने

तो हैं कि जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे और दुःखके मायने हैं कि जो इन्द्रियोंको असुहावना लगे। यह सुख इन्द्रियोंको सुहावना तो लगता है मगर उस सुहावनेमें व्याकुलता, संताप कितना बसा हुआ है ? उसको अगर देखते हैं तो यह कहना होगा कि वह भी दुःख ही है। तो इस तरह स्थूलदृष्टिसे यहाँ बात आयी कि चाहे शुभ कर्मका उदय हो, चाहे अशुभ कर्मका उदय हो, दोनों ही स्थितियोंमें जीवको दुःख होता है। यह एक मोटा लक्षण बताया और वस्तुतः तो समस्त कर्मोंका ही उदय जीवात्माको उस तरह घात पहुंचाता है जिस तरह कि बज्रकी चोट पहुंचाती है। जो ग्रन्थोंमें वर्णन है कि साताके उदयसे सुख और असाताके उदय से दुःख प्राप्त होता है तो यह तो एक लोगोंके ख्यालके मुताबिक बात बतायी गई है। अथवा सुखका अर्थ इतना ही है कि जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे, पर दुःख, क्लेश, संताप, शोक, चिन्ता आदिक तो सभी लोगोंमें हैं और सबसे कठिन दुःख तो है तृष्णाका। उसमें लगना, आसक्त होना, सो यह सब साताके उदयकी करामात है। जिन जीवोंके जिस तरह जितनी साताका उदय है मोह अवस्थामें जीवको उतनी ही तृष्णा बढ़ी हुई है व्यक्त रूपमें। अभी जंगलमें रहने वाले भीलसे कोई प्रसन्न होकर कहे कि तुम्हें जो मांगना हो सो मांग लो, तो उसकी मांग रहेगी अधिकसे अधिक एक दो माहकी भोजनव्यवस्थाकी, और अगर किसी धनिक से कोई कहे कि भैया तुम्हें जो चाहिए सो माँग लो, तो शायद वह तो यही कह देगा कि तुम्हारे पास जो कुछ हो सब हमें दे दो। तो जिन मोहियोंके साताका उदय है उनको तो तृष्णा बहुत बढ़ी हुई होती है। कैसे उन्हें कहा जायगा कि ये सुखी हैं, आराममें हैं ? तो इससे यह सिद्ध हुआ कि साता कर्मके उदयसे भी दुःख है और असाता कर्मके उदयसे भी दुःख है, लेकिन इससे भी बढ़कर बात देखिये—केवल साता और असाताकी ही बात न समझिये—किन्तु सारे कर्मोंके उदयमें जीवको दुःख है। बज्राघातकी तरह ये कर्म उसे चोट पहुंचाते हैं जिससे यह जीव सर्वप्रदेशोंमें व्याकुल रहता है।

आस्तां घातः प्रदेशेषु संदृष्टेरुपलब्धितः।
वातव्याधेर्यथाध्यक्षं पीड्यन्ते ननु सन्धयः ॥२४६॥

वातव्याधिसे अस्थिसन्धिपीडाकी तरह सुदृष्टियोंके प्रदेशोंमें भी आघात—उक्त श्लोक में यह सूचना दी थी कि साता और असाता इन दोनोंके उदयसे दुःख होता है, क्लेश होता है, संताप होता है, व्याकुलता बनती है। उसके बाद उस ही श्लोकमें यह बता दिया था कि केवल साता और असाताके उदय ही पीड़ाके कारण नहीं हैं, किन्तु जितने भी कर्म हैं सभी कर्म इस जीवको चोट पहुंचाने वाले हैं। यह तो कथा थी मोहियोंकी। अब इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि इतने तक ही इसकी गनीमत नहीं है कि मोहियों तक ही सारे कर्मोंसे दुःख हैं किन्तु उससे भी अन्तरङ्गमें देखिये तो सम्यग्दृष्टि जीवके भी कर्मके उदयसे प्रदेशमें घात हो

रहा है। यह यहाँ तीसरी बात कही जा रही है, और उक्त श्लोककी दो बातोंसे भी और गहरे चलकर देखना है। सम्यग्दृष्टिकी नीचली भूमिकामें जिसके अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय चल रहा है, संज्वलन कषायका भी उदय चल रहा है ऐसे जीवोंके प्रदेशोंमें कर्मका आघात चल रहा है और इस तरह चल रहा है कि जैसे वातव्याधि होनेके कारण देहकी संधियोंमें घुटना आदिकमें जैसी पीड़ा पहुंचती है, अन्तर्व्यथा रहती है इस तरह अन्तः पीड़ा सम्यग्दृष्टिके उन प्रदेशोंमें भी पड़ी हुई है। सम्यग्दृष्टिके विजय तो भेदविज्ञानसे हो रही है, पर पीड़ाकी बात कहो, आघातकी बात कहो तो जिस कर्मका उदय जितने आघातका कारण है वहाँ उतना आघात हो रहा है। अब यहाँ एक भेदज्ञान बलकी बात है कि वहाँ उपयोग नहीं देते हैं, उस रूप अपनेको अनुभव करने वाला नहीं मानते हैं, स्वभाव नहीं मानते हैं, पर न मानकर भी कुछ हो ही रहा है। तो उन प्रदेशोंमें कर्मका आघात है। जिस तरह वात रोगकी वजहसे शरीरके घुटने, कमर आदिककी हड्डियाँ अन्दर ही अन्दर जो पीड़ा देती हैं उनका अनुभव वही पुरुष करता है जिसके बात रोग है। वह तो बेचारा उस दर्दकी वजहसे चिल्लाता है, हैरान होता है पर देखने वाले लोग नहीं समझ पाते हैं कि इसको कहाँ क्या दर्द है ? कहीं कोई फोड़ा फुंसी आदिक हो, या और भी कोई ऊपरी रोग हो तो उसे तो देखकर जान सकें कि कहां क्या वेदना है, पर जो वेदना संधियोंके जोड़में है उसका कोई क्या अन्दाज करे, उसकी कोई क्या पहिचान करे ? इसी तरहकी वेदना सम्यग्दृष्टिके प्रदेशमें भी कर्म द्वारा होती रहती है।

न हि कर्मोदयः कश्चित् जन्तोर्यः स्यात्सुखावहः।
सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ॥२५०॥

कर्मोदयमें सुखावहताका अभाव—उक्त समाधानके सारांशमें कह रहे हैं कि ऐसा कोई भी कर्मोदय नहीं है जो जीवको सुख पहुंचाने वाला हो। १४८ प्रकारकी कर्मप्रकृतियाँ हैं, उन कर्मप्रकृतियोंका उदय इस जीवके आनंदका कारण हो सकता है क्या ? जीवका आनंद तो जीवका जो शुद्ध आत्मद्रव्य है उसके आधारसे ही हो सकता है। किसी कर्मके आधारसे जीवका आनन्द प्रकट नहीं होता है। यद्यपि जितनी ही शुभ प्रकृतियां ऐसी हैं जिनका नाम सुनकर लोगोंको जो थोड़ा बहुत धर्मके नामपर लग रहे हैं, तृष्णा जग जाती है कि मेरेको तो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध हो और उसके लिए जानबूझकर भावना करें, यत्न करें तो लोगोंको तृष्णा भी बन जाती है, मगर तीर्थंकर प्रकृतिका उदय होनेपर क्या आनन्द गुणका विकास है ? उसके उदयमें जो हो रहा है सो हो रहा है। मेरे आत्मामें क्या अभ्युदय हो रहा है, हो गए तीर्थंकर, दिव्यध्वनि खिर गई, जीवोंका भाग्य है, उनका वचनयोग है, मगर स्वरूपतः देखो कि उस उदयसे उस जीवके, जिसके उदय चल रहा है, ज्ञानमें आनंदमें, किसमें विशेषता

आती है ? ज्ञान और आनन्दमें जो अनन्तता आयी है वह तीर्थङ्करके उदयके कारण नहीं आयी । ज्ञानावरणके क्षयसे और मोहनीय कर्मके क्षयसे वे बातें प्रकट हुई हैं । तो इस तरह अन्य भी शुभ प्रकृतियोंके मर्मको देख लीजिये—साताका उदय तो प्रकट ही एक दुःखरूपको बता रहा है कि वहाँ क्लेश है, तृष्णा लगी है, चिन्ता लगी है, । जिन जीवोंको साताका उदय होनेपर भी कष्ट नहीं है, व्याकुलता नहीं है तो यह न समझना कि साताके उदयसे अनाकुलता है, उसका कारण दूसरा ही है । दूसरेका अभाव होना, भेदविज्ञानका जगना इसमें अनाकुलता चल रही है । साताका उदय अनाकुलताका हेतुभूत नहीं है । इस तरह सिद्ध हुआ कि कोई भी ऐसा कर्मोदय नहीं है जो इस जीवको सुख पहुंचाने वाला हो । जीवके लिए तो सारे ही कर्म विलक्षण, विपरीत स्वरूप वाले हैं । याने जीव तो चैतन्य है, कर्म जड़ हैं, इतना विपरीत स्वरूप है, फिर उस जड़का विपाक इस जीवकी समृद्धिके लिए कैसे हो सकता है ? चाहे शुभकर्म हों, चाहे अशुभकर्म हों, वे इस जीवके लिए दुःखदायी ही हैं । यहां तक शङ्काकारकी उस पूर्ण शङ्काका समाधान चला है कि सभी जीवोंको मनुष्योंको केवल दुःख ही है इस संसारमें कर्मके विपाकसे । इस तरह पुद्गल कर्मके विपाकसे इस जीवका संसारमें परिभ्रमण हो रहा है और उसका कारण यह है कि इसने अपना स्वरूप पाया नहीं और अपने स्वरूपसे च्युत हो गया है ।

तस्य मन्दोदयात् केचित् जीवाः समनस्काः क्वचित् ।
तद्वेगमसहमाना रमन्ते विषयेषु च ॥२५१॥

कर्ममन्दोदयमें समनस्क जीवोंकी विषयरमणविपदा—उस कर्मका मन्द उदय होनेसे जिस कर्मकी चर्चा बहुत चलायी गई है कि सारे कर्म दुःखरूप हैं, दुःखका ही फल देते हैं, उन कर्मोंका मन्द उदय होनेसे कोई मनसहित जीव कर्मके वेगको न सहन कर सके तो विषयोंमें रमने लग जाता है । यहाँ कर्म बातपर प्रकाश डाला गया है, और देखा जाता है कि संज्ञी जीवोंके, मनुष्योंके नाना प्रकारके विषयभोग सामग्री होती है, विषयोंमें रमते हैं, मौज मानते हैं तो कर्म तो वहाँ बड़ी स्थितिके पाये जाते हैं और अनुभाग भी इनका बहुत ज्यादा तक हो सकता है, लेकिन यहां इस बातका निर्देश किया गया है एक भीतरी दुःखको देख करके कि तीव्र पीड़ा तो असंज्ञी जीवोंकी है । एकेन्द्रिय आदिकके तीव्र उदय है, तीव्र पीड़ा है, और इन संज्ञी जीवोंके जो इतनी तृष्णा रख रहे हैं, विषयोंमें रम रहे हैं उनके क्लेशकी अपेक्षा देखा जाय तो इनके मंद उदय है । यह बात क्लेशको मुकाबलेमें रखकर कही गई है । जैसे कुछ लोग सन्देह करने लगते हैं कि निगोदिया जीवोंको क्या क्लेश है ? वहाँ देखो मन है, विचारते हैं, विकल्प बनाते हैं, दूसरोंकी प्रतिकूल चेष्टाओंको सहन नहीं कर पाते हैं, बड़ा तीव्र क्लेश होता है, इससे बड़ा क्लेश निगोदियोंको क्या होता होगा ? तो इससे संकेत यह मिल रहा है

कि उनको इन संज्ञी जीवोंसे भी बहुत कठिन क्लेश है, और इसके लिए यह दिखानेका उपाय बताया है कि जैसे कोई पुरुष किसी संदूकमें बन्द कर दिया जाय, छिद्र न हो या जमीनमें ही गड्ढा खोदकर किसीको उसके अन्दर कर दिया जाय और ऊपरसे उसे मिट्टी डालकर बिल्कुल पूर दिया जाय तो उसे अन्तरङ्गमें जो वेदना होती है उसको देखने वाला व अनुभवने वाला कौन है ? इस तरहसे समझिये, इससे असंख्याते गुनी पीड़ा नारकी जीवोंकी होती है। इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है कि उस कर्मका मन्द उदय होनेसे कोई जीव संज्ञी बनता है। पहिले तो यह बात देख लीजिए कि मनसहित जीव बने तो कर्मका मंद उदय बना तब बना, तीव्र उदयमें तो नहीं बन सकता। यह प्रमाणित करता है कि सैनी जीवके मन्द उदय चल रहा है और असंज्ञी जीवोंके तीव्र उदय चल रहा है। तो जहाँ मन्द उदय चल रहा हो ऐसी स्थितिमें विवेक तो यह है कि उपाय बना लेवें कि संसारके संकटोंसे निकलनेकी स्थिति हो जाय। जैसे नदीमें से कोई निकल रहा है और नदीका वेग तेज हो रहा है तो उस समयका विवेकीका कर्तव्य है कि शीघ्र ही नदी पार कर जावे, नहीं तो तीव्र वेग आ जानेपर अपना कल्याण नहीं है। इसी तरह कर्मोंका मन्द उदय भी है हम आपके, यह बात बिल्कुल स्पष्ट है, अन्यथा संज्ञी मनुष्य न बन सकते थे। अच्छे कुलमें आये हैं, उत्तम जैन शासनका समागम मिला है, और क्या इससे बढ़कर बात चाहते ? हम आप मंद कषाय वाले हैं, इसका यही प्रमाण है कि जो ऐसे श्रेष्ठ समागम प्राप्त कर लिए हैं। अब हम आपका कर्तव्य है कि इन विषयोंमें न रमें। लेकिन यह जीव ऐसे उदयमें संज्ञी जीव होकर भी उस कर्मके वेगको सहन नहीं कर सकता है तो यह विषयोंमें रमने लगता है।

केचित्तीव्रोदयाः सन्तो मन्दाक्षाः खल्वसंज्ञिनः।
केवलं दुःखवेगार्ता रन्तु नार्थानपि क्षमाः ॥२५२॥

तीव्रोदयमें असंज्ञियोंकी दुःखवेगार्तता—जो कोई तीव्र उदय वाले हैं, जैसे मन्द इन्द्रिय वाले दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, असंज्ञी ऐसे मनरहित और मन इन्द्रिय वाले जो जीव हैं वे भी सताये हुए हैं, वे मनके वेगसे पीड़ित हो रहे हैं। पदार्थोंमें रमण करने की भी उनके शक्ति नहीं प्रकट हुई है, उनमें संस्कार है। संज्ञायें चार हैं—(१) आहार, (२) भय, (३) मैथुन, (४) परिग्रह। एकेन्द्रियमें भी, विकलत्रयमें भी तो संज्ञा ज्वरसे वे अन्तः पीड़ित बने रहते हैं और इन्द्रियविकास नहीं है, मन भी प्राप्त नहीं है तो वे विषयोंमें इस प्रकार रमण नहीं कर पाते, तो यह तो उनकी आन्तरिक पीड़ा हुई कि संज्ञायें बनी हैं, मलिनता बनी है फिर भी वे अपना न मन बना पाते हैं, न विषयोंमें रमण कर पाते हैं। तो ऐसे असंज्ञी जीवोंमें तो बहुत ही कठिन पीड़ा है और उनका तीव्र उदय समझना चाहिये। यदि हम आप मन्द उदयसे मनुष्य हुए, अच्छी संगतिमें आये और अब भी न चेतें तो उसका फल

यही होगा कि जो इन असंज्ञी जीवोंका बताया जा रहा है । तो ये असंज्ञी जीव तो और भी अधिक कर्मोंकी चोटसे पीड़ित हैं ।

यद्दुःखं लौकिकी रूढ़िर्निर्णीतेस्तत्र का कथा ।
यत्सुखं लौकिकी रूढ़िस्तत्सुखं दुःखमर्थतः ।।२५३।।

लोकरूढ़ि वाले सुखमें अर्थतः दुःखरूपता— शङ्काकार कह रहा था कि जैसे आचार्य देव कह रहे थे कि संसारमें दुःख ही दुःख है, सुख नहीं है । लेकिन देखो आपने ही तो बताया है कि कोई कर्म शुभ होता है, कोई अशुभ याने पुण्यकर्म और पापकर्म, फिर यह कैसे कह रहे हैं कि संसारमें दुःख ही दुःख है ? अरे दुःख भी है और सुख भी है । उसके समाधानमें कहा जा रहा है कि दुःख तो दुःख है ही, पर सुख भी दुःख ही है, क्योंकि सुख क्या कहलाता ? जो इन्द्रिय विषयोंमें रम गया, इन्द्रियोंको कुछ सुहावना लग गया, अच्छा रूप दिख गया, मनमें मौज मान लिया, अच्छी सुगंध आ गयी, अच्छा मिष्ट स्वादिष्ट भोजन करके मौज मान लिया आदि, ये ही तो सुख कहलाते हैं दुनियामें, लेकिन यह तो देखो कि इन सांसारिक सुखोंसे पहिले कितना दुःख करना पड़ता है ? सुखोंके बाद भी कितना दुःख मिला करता है । पहिले हुए सुखोंकी बात तो जाने दो, जिस समयमें ये सुख भोगे जा रहे हैं उस समयमें भी यह जीव अन्दरमें विह्वल रहता है । इस बातकी खूब परख करके देख लो । जिस समय विषय भोगा जा रहा हो, जिस समय भी यह सांसारिक सुख भोगनेके लिए प्रवृत्त होता है उस ही समय यह आकुलितसा हो जाता है अन्यथा अनन्त आनन्दका धाम यह आत्माराम भगवान जो कि अरहंत और सिद्धके समान अपना स्वरूप रख रहा है इसको क्या जरूरती थी इन पराधीन वैषयिक सुखोंकी ? इसे कोई चोट लगी है, कोई आघात हुआ है, कर्मके विपाकका कोई ऐसा तीव्र वेग है कि उसे यह सह नहीं सकता । सो विषयोंमें लग जाता है । विषयोंमें कहाँ शान्ति है, कहाँ सुख है ? अपने आत्मामें एकत्वका परिचय हो जाय तो आनन्द तो वहाँ बसा हुआ है । जहाँ परसे भिन्न मैं एक अपने ज्ञानदर्शनस्वरूप हूं, इस ही में मैं रमता हूं, इस ही में मैं रहता हूँ, यही मेरा सर्वस्व है, ऐसा अपने आपकी ओर उपयोग आये तो आनन्द तो वहाँ मिलेगा ।

बाहरमें कहीं आनन्द नहीं है, और मोटे रूपसे भी यह बात सोच लीजिये कि जो कुछ समागममें आज मिला है यह सदा तो न रहेगा । यह एक बहुत मोटी बात कही जा रही है । घर द्वार, धन दौलत, कुटुम्ब, स्त्री पुत्रादिक तथा यह देह भी ये सदा तो न रहेंगे । जो बात इनपर कुछ वर्षों बादमें बीतने वाली है उसका अभीसे चित्रण कर लीजिए, और आदत भी तो आप सबकी ऐसी ही बनी हुई है । कई वर्ष आगेकी बातोंका प्रोग्राम अभीसे बना डालते हैं—मुझे इतने वर्ष बाद अमुक काम करना है । इतने वर्ष बाद अमुक । तो ये विचार

छोड़कर एक इस ही बातका विचार कर लीजिए कि अभी कुछ वर्षों बाद यह देह भी जलाकर भस्म कर दिया जायगा । धन दौलत भी सब छूट जायगी, परिजन मित्रजन आदिकके समस्त समागम भी छूट जायेंगे....। अरे जिस देहका इतना पोषण किया जा रहा है, जिन पर-देहोंको अपना कुछ सम्बन्धी माना जा रहा है वही देह जलाकर भस्म कर दिये जायेंगे । अभी जो परिजन आपसे बड़ा प्रीतिका व्यवहार कर रहे हैं वही लोग आपके मरण हो जानेपर अहंकार भावसे आपको अर्थीपर रखकर उठा ले जायेंगे और श्मशानमें ले जाकर जला देंगे । तो यहाँके दिखने वाले इन मायामयी दृश्योंसे अपनी दृष्टि हटाकर अपने आपके ज्ञानानंदस्वरूपकी ओर अपनी दृष्टि लानी होगी । हाँ यहाँ कुछ परिस्थितियां हैं ऐसी जिससे परदृष्टि रखनी होती है पर सदा निर्णयमें यही बात रहनी चाहिये कि यह मेरे लिए हितरूप बात नहीं है । जिसे संसारमें लोग सुख कहते हैं वह तो वस्तुतः दुःख ही है ।

बड़े शौकसे आप पढ़ते हैं महापुरुषोंके वैभवकी घटनायें । श्री रामचन्द्रजी राज्य करने वाले थे, अथवा उनका राज्याभिषेक होनेको था, उससे पहिले भी लोगोंका विशेष आकर्षण श्री रामकी ओर था । श्री राम सभी लोगोंके बीच बड़े शोभायमान हो रहे थे । उनकी रोजकी घटनाओंको भी देखिये—उनके पुण्यका उदय था । लेकिन उस पुण्यके उदयसे उनकी आत्मा को लाभ क्या मिला ? अरे लाभ तो उसे कहा जाय जिससे आत्मशान्ति मिले । अब उनके जीवनकी बात देखो—उन्हें उनके जीवनमें शारीरिक सुख भी क्या मिला ? (यह तो उनके ऊपरी दुःखकी बात कह रहे हैं) बचपनके दिन यों ही गए । जब कुछ बड़े हुए, सीता स्वयंवर हुआ तबकी घटना देखो, जिसपर देवतासिद्ध है ऐसे धनुषको उठाकर तोड़नेकी बात आयी । बादमें राज्याभिषेक होनेका समय था तो हुक्म सुना दिया कि भरतको राज्य मिलेगा और श्री रामको १४ वर्षोंका बनवास करना होगा । सो वन चले गए । उसी बीच सीताहरण हो गया । फिर उसमें विह्वल रहे । रावणसे युद्ध किया । विजय भी मिली । फिर श्रीराम मित्रों को राज्य देनेके चक्करमें रहे, किस मित्रको कहाँका राज्य दें, कितना राज्य दें, क्या दें ? फिर लोकापवाद हुआ, फिर सीताको जंगलमें छुड़वाया, उस समयके दुःखोंका भी ध्यान दीजिए । बादमें अपने ही पुत्र लवण तथा अंकुशसे युद्ध करना पड़ा । फिर सीताकी अग्निपरीक्षाके दुःख देखिये, और जिस समय लक्ष्मणका मरण हुआ उस प्रसंगमें लक्ष्मणके मरे हुए शरीरको ६ माह तक लादे-लादे फिरे और कितना विह्वल रहे । यों बाह्य सुखोंकी दृष्टिसे देखिये—श्री राम ने अपने जीवनमें कौनसा सुख पाया ? लेकिन यह बात कभी न भूलनी चाहिये कि जिसे अपने आत्मस्वरूपका भान हुआ है, जिसकी दृष्टि विशुद्ध है वह कठिनसे कठिन प्रसंगोंमें भी अंतरंगसे विह्वल नहीं होता । वह तो एक ऊपरी-ऊपरी दुःख उसकी दृष्टिमें रहता है । तो बात यह कह

रहे थे कि पुण्यके उदयसे पाये हुए ये सुख भी वस्तुतः दुःखरूप ही हैं। इतना ही नहीं ये सांसारिक सुख नष्ट भी हो जाते हैं, और ये सुख जितनी देर ठहरते हैं उतने समयके बीच भी बीच-बीच भी अनेक दुःख आते रहते हैं। याने जितनी देरको सुख साधन मिले हैं उतनी देर भी ठीक-ठीक निपट जायें सो भी बात नहीं, और ये आगेके लिए भी पापकर्म बाँधनेमें कारण बनते हैं। ये सांसारिक सुख कल्पित सुख हैं, वस्तुतः दुःखरूप ही हैं।

कादाचित्कं न तद्दुःखं प्रत्युताच्छिन्नधारया।
सन्निकर्षेषु तेषूच्चैस्तृष्णातङ्कस्य दर्शनात् ॥२५४॥

तृष्णारोगके कारण संसारी प्राणियोंमें दुःखकी निरन्तरता—कहा जा रहा है कि संसारमें दुःख ही है सो इतना ही नहीं कि कभी-कभी दुःख मिलें, बल्कि ये दुःख सदा बने रहा करते हैं। जब तक कर्मका सम्बन्ध है, कर्मका विपाक है तब तक किसी न किसी रूपमें दुःखका सम्बन्ध रहता है और मोहनीय कर्मका जहाँ तक उदय है वहाँ तक तो दुःख है ही, कितने ही अंशमें हो। अब यों तो किसीके बुखार चढ़ा हो, मानो १०२ डिग्री बुखार चढ़ा है तब तो बुखारका पता अच्छी तरहसे पड़ जाता है, पर यदि ८०-८५ अथवा ६० डिग्री बुखार हो तब तो बुखारका पता नहीं पड़ता, परन्तु इतने डिग्री बुखार होता नहीं है क्या? होता तो जरूर है, पर उसका पता नहीं पड़ता। होता तो १, २, ३ आदिक डिग्री भी बुखार है, क्योंकि अगर १, २, ३ डिग्री बुखार कुछ हो ही नहीं तो ये ६८, ६६, १०० डिग्री आदिक कहाँसे हो जायें? तो जैसे कुछ न कुछ बुखार रहनेपर भी यहाँ हम आप उस बुखारका मोटे रूपसे भान नही करते, इसी प्रकार ये मोही जीव मोहजन्य दुःखसे पीड़ित भी होते रहते हैं फिर भी मोटे रूपसे उसका कुछ ध्यान नहीं देते। तो ये दुःख क्यों बन रहे हैं? इसका कारण यह है कि इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें इस जीवकी लालसा लगी हुई है, तृष्णा लगी हुई है। जिसको तृष्णा है उसको तो सदा दुःख है। जैसे प्यासके दुःखकी बात देखिये—थोड़ी प्यास लगी हो तो वह भी एक दुःख ही है और अधिक प्यास लगी हो तो वह भी एक दुःख ही है। भूखकी वेदनासे भी कठिन वेदना प्यासकी होती है। देखा होगा कि गर्मीके दिनोंमें थोड़ी-थोड़ी देरमें प्यास लगती रहती है। अभी पानी पिया, पेट बिल्कुल भरा है, फिर भी प्यास सताने लगती। प्यासकी वेदनाके चार विभाग हैं—(१) मंदतर, (२) मंद, (३) तीव्रतर, (४) तीव्र। जब कि भूखकी वेदनाके केवल दो ही विभाग हैं—(१) मंद और (२) तीव्र। तो जैसे पेटमें जगह खाली न होनेपर भी प्यासकी वेदना सताने लगती है, तो दुःख तो वहाँ है ही, चाहे थोड़ा ही दुःख हो। प्यासकी वेदनाका दुःख एक बार मिटा लेनेपर भी जैसे कुछ न कुछ बना ही रहा करता है इसी प्रकार तृष्णाकी वेदनाका दुःख है। जिसे तृष्णा है वह निरन्तर दुःखी रहता है। तृष्णा करके चाहे कितना ही कुछ संग्रह करता जाय, फिर भी वह कभी सन्तुष्ट

नहीं हो पाता, निरन्तर दुःखी रहता है।

आनन्दस्वभाव आत्माके लाभके लिये—अन्तर्दृष्टिसे देखा जाय तो यहाँ मनुष्योंको कोई क्लेश नहीं है। सभीके पास आजीविका चलानेके लिए साधन मिले हुए हैं। आज आप सबको पुण्यके उदयसे पवित्र जैनशासन भी मिला हुआ है, आजीविका चलानेके लिए तो कोई अड़चन है नहीं, सो आप सबका कर्तव्य है कि अपना जीवन संतोषवृत्तिसे बितायें, परवस्तुओंके प्रति तृष्णा कर करके तो कुछ भी लाभ न मिल पायगा। देखिये—यहाँ आप सभी लोगोंके पास कोई कमी तो नहीं है, घरपर सब प्रकारके साधन मौजूद हैं, फिर भी सुख शान्तिका अभ्युदय नहीं हो पाता तो इसका मूल कारण यही है कि तृष्णा लगी हुई है। अरे इन परवस्तुओंकी क्या तृष्णा करना, ये तो थोड़े ही समयमें विघट जाने वाली हैं। अच्छा तो यह है कि पुण्यके उदयसे जो कुछ भी धन दौलत प्राप्त हो उसके कुछ विभाग कर लें—जैसे उसका कुछ भाग आजीविकाके लिए, कुछ भाग ऊपरी खर्चके लिए, कुछ भाग दानके लिए, कुछ भाग बचतके लिए आदि, इस प्रकारका विभाजन बनाकर संतोषवृत्तिसे रहें, धार्मिकतासे विशेष प्रीति रखें तो यह एक लाभकी बात होगी। अगर जीवनमें शान्ति चाहिए, सुख चाहिये तो उसका सीधा उपाय यही है कि ज्ञानाभ्यासमें लग जायें। जो ज्ञानी जन हैं उन्हें भी ज्ञानाभ्यासमें रहना चाहिये। जिनके जितने ज्ञानकी योग्यता है उन्हें उतना ज्ञानाभ्यास करना चाहिए। शान्ति पानेके लिए मार्ग तो यही एक है—ज्ञान और ध्यान (ज्ञानाभ्यास)। ध्यानमें तो हम आपकी विशेष वृत्ति बन नहीं पा रही है तो ज्ञानाभ्यासमें विशेष वृत्ति तो रह सकती है। अध्ययन करें, स्वाध्याय करें, चर्चा करें, लेकिन सभी स्थितियोंमें उद्देश्य यही रहना चाहिये कि मुझे तो वीतराग बनना है, आनन्द वहाँ ही है, उस वीतराग विज्ञानकी प्राप्तिके लिए ही हमारा प्रयास है, अन्य उद्देश्य नहीं है। बात यह रहनी चाहिए। अगर यह बात न रहेगी तो उससे पद-पदमें झगड़ा भी होगा इस धर्मचर्चाके नामपर। इस पर्यायमें आत्मीयताकी बुद्धि होनेके कारण चैन न मिलेगी। तो ज्ञानाभ्यास करके वस्तुका स्वरूप जानकर, सबसे निराला अपने आपको पहिचानकर अपने आपमें तृप्त होओ।

अपने आत्माको प्रभुसम ज्ञानानन्दघनस्वभाव जानकर स्वभावका आश्रय लेकर आत्महित करनेका अनुरोध—अपने आत्मामें क्या विधि नहीं है ? जो बात अरहंत और सिद्धमें है, जिनकी हम पूजा उपासना करते हैं, जिनके नामपर हम बड़े-बड़े उत्सव किया करते हैं वे तो यहाँ आते नहीं, वे तो आपसे मिलते नहीं, लेकिन उनका नाम ही इतना प्रभावक है, उनका स्मरण ही इतना प्रभावशाली है कि कल्याणार्थी पुरुष इस प्रयोगमें लगे रहते हैं। तो जो बात अरहंत और सिद्ध भगवानमें है वही बात, वही स्वरूप, वही स्वभाव हम आपमें प्रत्येकमें है, क्योंकि द्रव्य वही है, जाति वही है, चेतन। चेतन होता है ज्ञानदर्शनात्मक।

आनन्दस्वरूप वह स्वभाव मेरा वही है जो अरहंत और सिद्धका है । उन्होंने दी अपने आपपर दृष्टि, उन्होंने अपना ही आश्रय लिया, तो वे हो गए प्रभु । वे हो गए सदाके लिए संकटमुक्त, आनन्दमय । और यहाँ हम आपने लिया है या मोहियोंने लिया है आश्रय परपदार्थोंका, सो वे दुःखी होते हैं । तो करनेका काम यह ही है और इसके लिए तो बड़ा यत्नशील होना चाहिए । अगर एक ओर तो हजार रुपयोंका या लाख रुपयोंका नुक्सान हो रहा हो और एक ओर आत्मदृष्टि न रहती हो तो बताओ इन दोनोंमें अधिक टोटेकी बात कौनसी रही ? अरे यहाँ की यह बाह्यविभूति तो एक असार चीज है, उसकी हानि होनेमें अपनी हानि न समझें, अपनी हानि समझें अपने आपकी ओर दृष्टि न रहनेमें । यह बात तो तत्त्वज्ञानका रुचिया पुरुष ही भली भाँति समझ सकेगा कि हानि किसमें अधिक है ? अगर आत्माके अकल्याणमें हानि अधिक न होती तो सुकुमाल, सुकौशल जैसे पुरुष या बड़े-बड़े राजा महाराजा चक्रवर्ती आदि अपने अटूट सांसारिक वैभवको छोड़कर वीतरागताका आलम्बन क्यों लेते ? तो अपनी हानि समझें आत्माके अकल्याण होनेमें, न कि यहाँके धन वैभवके नुक्सान होनेमें । बड़े प्रयत्नपूर्वक सारा बल लगाकर अपने आप इस आत्मकल्याणकी ओर आना चाहिए, इसीसे ही जन्ममरण की ये परम्परायें मिट सकेंगी अन्यथा तो अभी तक जैसा संसारमें परिभ्रमण करते चले आये वही चलता रहेगा ।

इन्द्रियार्थेषु लुब्धानामन्तर्दाहः सुदारुणः ।
तमन्तरा यतस्तेषां विषयेषु रतिः कुतः ॥२५५॥

इन्द्रियविषयोंमें लुब्ध प्राणियोंके अन्तर्दाहकी विषयरतिबीजरूपता—उक्त गाथामें कह रहे हैं कि यहाँ जीवोंको दुःख क्यों है ? तो जीवोंको जो यहाँ सर्वदा दुःख बना रहता है, उसका कारण यह है कि इन्द्रियसम्बंधी विषयोंमें लोभ बना हुआ है, और जो जीव इन्द्रियके विषयोंके लोभी हैं उनके अन्तरङ्गमें दाह निरन्तर बनी रहती है । क्योंकि विषयसम्बंधी इच्छा है । उसकी ओर ध्यान गया है, वही चित्तमें रहता है, तो वह अन्तर-दाह पैदा किया करता है । अब वह अन्तर-दाह जब हुआ तो उसको सह न सके । उस दाहको मेटनेका उपाय यही सूझा कि भोगोपभोग करो । सो अब ऐसी कुछ दाह होनेपर विषयोंमें लीनता हो जाती है । यदि यह अन्तर्दाह न होती तो विषयोंमें लीनता क्यों होती ? जैसे किसीके शरीरमें यदि फोड़ा फुंसी आदिकका कोई रोग न हो तो वह मलहम पट्टी वगैरह क्यों करेगा ? तो जैसे फोड़ा फुंसी आदिकके होनेपर उसका वेदन न सह सकनेके कारण वहाँ जरूरी काम करने पड़ते हैं इसी प्रकार इन्द्रियविषयोंके लोभी व्यासक्तिके कारण यह अन्तर्दाह सहते हैं और उनकी विषयों में प्रीति होती है और इसी कारणसे विषयाभिलाषी पुरुषोंको निरन्तर अन्तर्दाह बनी रहा करती है ।

दृष्यते रतिरेतेषां सुहितानामिवेक्षणात् ।
तृष्णाबीजं जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् ।।२५६।।

जोकोंके दुष्टरुधिरपानरति होनेकी तरह विषयलुब्धोंका तृष्णावश विषयोंमें रमण––जो इन्द्रियके विषयोंके सेवनहार हैं ऐसे पुरुषोंके जो विषयोंमें प्रीति देखी जाती है सो वे इस तरहसे उनमें आसक्त होते हैं कि इस ही में वे अपना हित समझते हैं । अपना हित, अपना बड़प्पन, अपना सौभाग्य, इन इन्द्रियविषयोंके सेवनमें मानते हैं । इसीसे उन विषयोंसे अधिक प्रीति करते हैं । सो इसका कारण एक तृष्णा ही है । तृष्णाका जब वेग है तब वे हित अहित कुछ नही सोच सकते और उन अहितकारी कार्योंमें ही लीन हो जाते हैं । जैसे जोंक यदि गाय भैंस आदिके स्थानमें लग जावे तो भी वह खराब खूनको ही पीती है, दूधका ग्रहण नहीं करती है । जोंकका उस खराब खूनको ग्रहण करनेका कारण मूलमें उसके प्रति तृष्णा है । इसी प्रकार ये मोही संसारी प्राणी संसारकी इन दिखने वाली मायामयी चीजोंको निरखकर उनके प्रति उपेक्षाभाव नहीं लेते, उनसे प्रीति करते, उनको अपनानेकी बुद्धि करते, उनका सेवन कर मौज मानते, इन इन्द्रियविषयोंमें रति करके उनका सेवन करते और उनके ही पीछे निरन्तर आकुलित रहा करते हैं । इन संसारके दुःखोंसे बचना है तो इन विषयोंकी रतिका परित्याग करना चाहिये ।

शक्रचक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम् ।
तृष्णाबीजं रतिस्तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी ।।२५७।।

पुण्यशाली इन्द्र चक्री जनोंके भी तृष्णावशविषयरति होनेसे सुखका अभाव––संसारके ये साधारण प्राणी विषयोंमें प्रीति कर रहे हैं तृष्णाके कारण तो इसमें आश्चर्य क्या है ? उनके तो अज्ञान ही लगा है, मोह ही लगा है और इन्हें किसी बातका परिज्ञान नहीं है । इस कारण उन्होंने जहाँ अपना हित समझा उसीमें उनकी प्रीति बनी । तो इसमें आश्चर्य क्या है ? पर देखो तो सही कि इन्द्र और चक्रवर्ती जैसे पुण्यवान पुरुष भी तो इस तृष्णाके कारण उन विषयोंमें रति करते हैं । तो देखिये पुण्यशालियोंके भी इस तृष्णाके कारण सुख कहाँ रहा ? पुरुदेवचम्पूमें बताया है कि जिस समय श्रीमती और बज्रजंघ इन दोनोंके जीव स्वर्गमें थे जब वे लौकान्तिक देव थे तो वहाँसे मरण करके एक देशके राजाके घर श्रीमती उत्पन्न हुई और बज्रजंघ अन्य देशके राजाके घर उत्पन्न हुआ । लेकिन एक बार श्रीमतीको जातिस्मरण हुआ किसी कबूतर कबूतरीके जोड़ेको निरखकर तो वह उदास हो गई, मूर्च्छित हो गई । सचेत होनेके बाद धाईने उसकी उदासीका कारण समझ लिया कि इसको किसीकी विशेष याद आ रही है । धाई द्वारा पूछे जानेपर श्रीमतीने अपनी सब बात उससे बता दी । तो धाईने ऐसा उपाय रचा कि जिससे श्रीमतीका इष्टपति इसे मिल जावे । उसने अनेक प्रकार

के चित्र बनवाये। उनमें से एक चित्र ऐसा भी बनवाया जो कि उस श्रीमतीके पूर्वभवके पति ललितांगदेवकी शक्लका था। ऐसा चित्रपटमें बनाया और भी अनेक चित्र वैसे बना दिये। उस ललितांगदेवके ललाटपर कोई एक चिह्न बना हुआ था। उस चिह्नके होनेका कारण यह था कि उस ललितांगदेवके ललाटपर उसकी ही देवीने किसी घटनामें उससे रूठकर लात मारी थी, यह चिह्न भी बनाया। उस चित्रपटको मन्दिर जी के चबूतरेपर रखकर बैठ गई। वहाँ बहुतसे लोग आये हुए थे। राजपुत्र बज्रजंघ भी उस समय आया हुआ था। धाईने ललितांगदेवका चित्र इसीलिए बनाया था कि आने वाले लोगोंमें से कोई ऐसा भी व्यक्ति आ जायगा जिसे इस चित्रको देखकर जातिस्मरण हो जायगा, तब उसीके साथ इस श्रीमतीका विवाह कर दिया जायगा। सो जब बज्रजंघने उस ललितांगदेवका चित्र देखा, उस चित्रमें ललाटपर बने हुए चिह्नको देखा तो उसको जातिस्मरण हो गया। बज्रजंघसे धाईने उस चिह्न का कारण पूछा तो धाईको बताया कि यह चिह्न इस तरह बन गया था कि मुझ ललितांग देवके ललाटपर उसकी ही स्त्रीने लात मारी थी। बस बज्रजंघको सर्व कुछ भान हो गया और श्रीमतीके साथ उसका विवाह कर दिया गया। तो इस घटनाके कहनेका प्रयोजन यह है कि ऐसे-ऐसे बड़े देव भी इस तृष्णाके कारण, इस मोहके कारण ऐसी-ऐसी विडम्बनाओंमें पड़ जाते हैं तब फिर साधारण संसारी प्राणियोंकी तो बात ही क्या है? अगर ये मोही मलिन प्राणी ऐसी दुर्दशामें पड़ जावें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? जिन जीवोंको विषयोंमें प्रीति है उनको तो प्राकृतिक दुःख लगे हुए हैं। यदि प्राकृतिक दुःख न होते इस तृष्णाके कारण, तो विषयोंमें वे व्यापार ही क्यों करते? जैसे कानकी दवा बताई गई है बकरेका मूत। अब जिसके कानमें फोड़ा फुंसी हो गया हो वही तो बकरेका मूत कानमें डालेगा। जिसके कानमें कोई बीमारी ही नहीं उसको डालनेकी क्या जरूरत? अरे जब कोई पीड़ा उत्पन्न होती है तभी तो उसके दूर करनेका व्यापार किया जाता है। तो इन संसारी जीवोंको अन्तः पीड़ा है, इसी कारण इनकी विषयोंमें प्रवृत्ति होती है। अगर पीड़ा न होती तो ये इन विषयोंमें प्रवृत्त ही क्यों होते? इन विषयोंमें इनकी आसक्ति है, प्रवृत्ति है, लीनता है, इसी कारण ये प्रकृत्या ही निरन्तर दुःखी हैं।

सर्वं तात्पर्यमत्रैतद् दुःखं यत्सुखसंज्ञकम्।
दुःखस्यानात्मधर्मत्वान्नाभिलाषः सुदृष्टिनाम् ॥२५८॥

वैषयिक सुखकी दुःखरूपता, दुःखकी अनात्मधर्मता व सुदृष्टियोंकी अनभिलाषता—उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि संसारमें जिसे लोग सुख कहा करते हैं वह भी दुःख ही है और दुःख इस मुझ आत्माका स्वभाव नहीं, इस कारण ज्ञानी पुरुषोंके इन विषयोंमें अभिलाषा नहीं होती है। आत्माका स्वभाव है चैतन्य और आनन्द ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। उस

आत्मस्वभावका ही रुचिया है ज्ञानी पुरुष । जहाँ दुःखका स्वभाव नहीं है उस दुःखको यह कैसे चाहेगा ? साथ ही उसके यह निर्णय बन चुका है कि संसारमें सारी अवस्थायें दुःखरूप हैं । ये समागमके आधार बज्रकी तरह चोट पहुंचाने वाले हैं, ऐसा निर्णय होनेके कारण उनको विषयोंमें प्रीति नहीं होती । तो ज्ञानीका अन्तःनिर्णय, अन्तःवृत्ति इस तरह होती है, इतनेपर भी ज्ञानीके कदाचित् कुछ विषयवृत्ति बने तो चूँकि अभिलाषा नहीं, भीतरमें श्रद्धा नहीं, हित नहीं और वृत्ति हो गई, इसी कारण उसे अध्यात्मशास्त्रमें अकर्ता कहा गया है । जो भावपूर्वक करे उसको तो कर्ता कहते हैं और जिसका भाव और कुछ हो और करनेमें कुछ आ जाय तो उसे अकर्ता कहते हैं । तो सम्यग्दृष्टिका भाव तो स्वभावकी ओर बना है, इस कारण वह बाह्य प्रवृत्तियोंका कर्ता नहीं है ।

वैषयिके सुखे न स्याद्रागभावः सुदृष्टिनाम् ।
रागस्याज्ञानभावत्वात् अस्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ॥२५९॥

सुदृष्टियोंके वैषयिक सुखमें रागभावका अभाव तथा अज्ञानमयता होनेसे विषय रागका मिथ्यादृष्टियोंमें सद्भाव—सम्यग्दृष्टि जीवको वैषयिक सुखोंमें प्रीति नहीं होती है । देखिये—आत्माका हित करने वाला ज्ञान और वैराग्यभाव है, अन्य भाव नहीं । ज्ञान रहे ज्ञाताद्रष्टा रहे, रागद्वेष न आये, ऐसा केवल एक मान लिया, जाननहार हो गए, प्रयोजन तो आत्माका मुख्य है अपने स्वभावमें लगनेका । बाहरी बातें कुछ प्रयोजनभूत नहीं है । यह गल्ती न होनी चाहिये । कहीं श्रद्धा बिगड़ जाय और अपने आपके स्वभावकी प्रीति न रहे, तो यह तो विपत्ति है, विडम्बना है । और यदि अन्तःसावधानी है तिसपर भी पूर्वबद्ध कर्मविपाकसे प्रवृत्ति बन जाय कुछ इतनेपर भी चूँकि उसका भीतरमें आशय खराब नहीं है इस कारण वह ज्ञानी ही कहलाता है, निरपराध ही कहलाता है । अपने स्वभावसे हटेगा तो वह पराधीन होगा, ऐसा ज्ञानी पुरुष विषयजन्य सुखमें रागभाव नहीं करता, क्योंकि राग अज्ञानभाव है, वह भी जाना जा रहा है और उसका तथ्य यही है कि रागमें ज्ञान नहीं है । जो रागद्वेषके भाव होते हैं वे जाननहार भाव नहीं हैं, वे तो जड़वत् हैं, आत्माके चारित्रगुणके विकृत परिणमन हैं । उनमें चेतनेकी, जाननेकी समझ नहीं पड़ी हुई है, तो ऐसे इन रागभावोंको अज्ञानरूप समझता है और अज्ञानभावोंमें अज्ञानमय भाव सम्यग्दृष्टिके होता है । सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आत्मा और एक रागभाव, यह आत्मा रागमें एकत्व करे तब कहना चाहिये कि यह अज्ञानमय भाव वाला बन गया, क्योंकि खुद तो है ज्ञानरूप और ज्ञान है अज्ञानरूप तो ज्ञान अज्ञानरूप है, होता रहे राग, पर रागमें अपनी एकत्वबुद्धि कर ले तो वह जीव अपराधी है । अज्ञानी बन गया । जो पुरुष रागके साथ एकत्व करता है अर्थात् राग है ऐसा ही मैं हूं, वही मेरा स्वरूप है, इस प्रकार रागके साथ जो एकता बनाये हैं उन्हें कहते हैं अज्ञानी । और इसे कहते हैं अज्ञानमय

भाव । तो अज्ञानमयभाव सम्यग्दृष्टिके नहीं होते हैं । इस कारण यह समझना चाहिये कि रागभाव मिथ्यादृष्टिके ही होता है । यहां शिक्षा यह लेनी चाहिये कि हमारा उद्देश्य, हमारा लक्षण, हमारी दृष्टि एक इस अन्तस्तत्त्वके लिए ही होनी चाहिए । यही उसका मुख्य ध्येय है । इसका ही आलम्बन मुझे पार करेगा । यही मेरा सर्वस्व है । माता, पिता, देव शास्त्र इन सबका यही एक मेरा सर्वस्व है, इस ही में देवत्व है, इसीमें गुरुता है । मैं अपने आत्मस्वभाव का आलम्बन करूँ, अन्य-अन्य बातोंका ज्ञाताद्रष्टा रहूं कि हाँ ये भी चल रही हैं, ये भी हो रही हैं, तो ऐसी वृत्ति ज्ञानी जीवके जग गई है, इस कारण उसे इन विषयोंमें राग नहीं होता, प्रवृत्ति होगी मगर वह राग नहीं है । जिसे रागमें एकता होती है, जिसे रागी कहा जाय, कर्ता कहा जाय, वह भाव अज्ञानमय है, ज्ञानी पुरुषके नहीं है, इस कारण कहना चाहिये कि रागभाव मिथ्यादृष्टिके ही होता है ।

सम्यग्दृष्टेस्तु सम्यक्त्वं स्यादवस्थान्तरं चितः ।
सामान्यजनवत्तस्मान्नाभिलाषोऽयं कर्मणि ॥२६०॥

सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वरूप अवस्थान्तर होनेसे सामान्यजनकी तरह कर्ममें अभिलाषाका अभाव—सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यक्त्व गुण प्रकट हो गया है । जहाँ केवल पर्देके हटने भरकी बात ही तो थी । आत्मा निष्पन्न वहींका वहीं सहज ही सत् है । एक दृष्टिकी बात है, दृष्टि न कर सका था लेकिन अब दृष्टि बन गई है तो इसके लिए एक नई अवस्था बन गई है । समयसारमें एक जगह प्रश्न किया गया कि आत्मा तो सदा ज्ञानमय है, फिर ज्ञानकी उपासना करो, ऐसा उपदेश क्यों दिया जा रहा है ? जब स्वयं ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानसे अलग नहीं है, तो ऐसा उपदेश क्यों किया जाता है कि ज्ञानकी उपासना करो ? उसके उत्तरमें कहा गया है कि यद्यपि आत्मा ज्ञानमय है लेकिन इसकी इसपर दृष्टि तो नहीं है । ज्ञानकी उपासना करो—इसका अर्थ है कि ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करो । अपना वैभव, अपना निधान, अपने सुखका निदानकरण सब कुछ अपने आपमें स्वतः स्वभावतः पड़ा हुआ है, लेकिन इस ओर दृष्टि न होनेसे अज्ञानी बना हुआ है । अब देखिये—बाहरमें कहीं कुछ किसीसे लेनदेन तो नहीं है । सब जीव अपने-अपने भावके अनुसार परिणमते हैं । किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका मेरेमें प्रवेश नहीं है । स्वतंत्र बात है । इतना होनेपर भी गुजर क्या रहा है ? इस मोही जीवको अपनी तो बिल्कुल सुध नहीं है, और केवल भ्रमके कारण कुछसे कुछ मनकी बात सोचकर बाह्य पदार्थोंकी ओर ही आकृष्ट रहता है । चूंकि सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यक्त्व गुण प्रकट हुआ है, एक नई अवस्था प्रकट हुई है इस कारण सामान्य मनुष्योंकी तरह सम्यग्दृष्टिकी क्रियामें अभिलाषा नहीं होती । साधारण जन, मोही जन, लौकिक जन जिन क्रियाओंमें आसक्त रहते हैं—यह मेरी है, यह मेरी चीज है, यह मैंने किया, मैंने भोगा आदि, जैसे वहाँ साधारण जनों

को लिप्सा रहती है वैसी लिप्सा ज्ञानी जनोंको नहीं रहती है, क्योंकि उनका यह निर्णय हो गया है कि मेरा कहीं कुछ नहीं। उनके लिए तो सारा संसार उनसे विपरीत हो गया है, उनकी किसी बाह्यसे प्रीति ही नहीं रहे, वे तो एक अपनी आत्मसाधनामें ही निमग्न रहना चाहते हैं।

उपेक्षा सर्वभोगेषु सद्दृष्टेर्दृष्टरोगवत्।
अवश्यं तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गजः ॥२६१॥

सम्यग्दृष्टिकी भोगोंमें उपेक्षा—सम्यग्दर्शन गुणके होनेपर जो स्वानुभूति प्रकट होती है, स्वानुभूतिका अर्थ यह मैं हूं और जो सहज ज्ञानमात्र भाव है तन्मात्र मैं हूं ऐसी अनुभूति उसके हुई है जिससे कि उस ज्ञानीने अपने आत्माका सहज सत्यस्वरूप सुसम्वेदन ज्ञानसे प्रत्यक्ष पाया है। अब उस जीवको कदाचित् जघन्न भूमिकामें सम्पर्कमें रहना पड़ रहा है, गृहस्थीमें रहना पड़ रहा है और वहाँ रहकर भोगोपभोगसे बचा तो नहीं जा सकता है। तो वहाँ उन भोगोंको रोगकी तरह समझकर उनसे उपेक्षा बनाये रहता है। जैसे कोई रोगी पुरुष रुग्ण दशामें उस रोगका इलाज भी करता है, अपना आराम भी चाहता है और आराम चाहकर इलाज चाहता हुआ भी आराममें कहीं विघ्न आये तो उसपर वह रोष भी करता है, औषधिका पान भी बड़े रागपूर्वक करता है। अगर कदाचित् दवा कडुवी हो तो उसको भी वह आँखें मींचकर बड़े शौकसे पी जाता है। दवा मिलनेमें कदाचित् देर हो जावे तो वह झुंझलाने भी लगता है····उस रुग्ण पुरुषकी सेवामें भी बहुतसे लोग हाजिर रहा करते हैं, अच्छे साफ स्वच्छ कमरेमें बड़े आरामसे रहता है, फिर भी जरा उसके अन्तरङ्गसे पूछो कि क्या तुम ऐसी ही स्थिति सदाके लिए चाहते हो? तो शायद उसका यही उत्तर होगा कि हम ऐसी स्थिति सदा के लिए नहीं चाहते। हम तो इस रागको मेटने भरके लिए ये सब चीजें चाहते हैं। मान लो कोई दवा मीठी है तो क्या वह ऐसा चाहता है कि ऐसी दवा मुझे सदा पीनेको मिलती रहे? ····नहीं चाहता। वह तो मात्र रोगको मिटानेभरके लिए उसका उपयोग करता है। ठीक यही स्थिति ज्ञानी पुरुषोंकी हुआ करती है। उन्हें कर्मविपाकवश अनेक प्रसंगोंमें लगना पड़ता है, राग भी दिखाना पड़ता है, लेकिन अन्तरङ्गसे वे उन्हें चाहते नहीं, उनसे तो सदा हटते रहने का भाव रहता है। ज्ञानी पुरुषोंको भी कर्मविपाकवश भोगसाधनोंके बीच रहकर भोग भोगने पड़ते हैं लेकिन उनको उनकी अभिलाषामें हितबुद्धि नहीं रहती है। तो यों ज्ञान और वैराग्य के कारण सम्यग्दृष्टि जीवको भोगोंसे उपेक्षा होना स्वाभाविक है।

अस्तु रूढिर्यथा ज्ञानी हेयं ज्ञात्वाऽथमुञ्चति।
अत्रास्त्यावस्थिकः कश्चित् परिणामः सहेतुकः ॥२६२॥

वैषयिक सुखोंको हेय जानकर छोड़नेकी ज्ञानिवृत्तिकी सहेतुकता—ज्ञानी पुरुष सांसा-

रिक पदार्थोंको हेय जान करके छोड़ देता है अथवा छोड़ना इसी विधिसे हुआ करता है। पहिले हेय समझमें आये तब तो छोड़ना होता है, और इस छोड़नेको यदि अध्यात्मदृष्टिसे परख लिया तो वस्तुतः हेय जान लिया और उसकी उस ओर प्रवृत्ति चित्तमें न रही तो वही उसका छोड़ना हुआ। निश्चयसे वस्तुविषयक विकल्पका छूटना ही छूटना कहलाता है। कोई पुरुष इन बाहरी चीजोंको बाहरी दिखावेमें तो छोड़ दे, पर भीतरमें उन चीजोंके प्रति हेय बुद्धि न बने तो वह छोड़ना नहीं कहलाता, जैसे सम्यग्दृष्टि पुरुष इन विषयसुखोंको, सांसारिक समागमों को हेय जानकर छोड़ देता है। हेय इस तरह जाना कि यह मैं स्व हूं और ये सब पर हैं, इन विषयोंसे मेरेमें कुछ आता नहीं है और मेरा इन विषयोंमें कुछ जाता नहीं है। मैं स्वतंत्र हूं, इनसे अलग हूं, ये सब बाहरी पदार्थ मेरेसे अलग हैं, यह तो जाना कि ये पृथक् हैं और साथ ही यह भी जाना कि इनके सम्बन्धमें यदि विकल्प बनाऊँ, अपना उपयोग उलझाऊँ तो इससे मेरा अहित ही है, लाभ कुछ नहीं। ऐसे निर्णयसे इस ज्ञानी पुरुषने वैषयिक सुखोंको हेय जाना है, तो वह हेय जान करके छोड़ देता है, सो यह बात तो प्रसिद्ध है, भली प्रकार बतायी भी जा चुकी है, लेकिन इसमें हेतु क्या है ? तो कोई परिणाम है ऐसा सयुक्त सहेतुक जिससे कि यह ज्ञानी पुरुष इतना विवश हो जाता कि परपदार्थोंको, परभावोंको छोड़ देता है। जैसे ज्ञानी पुरुष अपने आपके स्वरूपको ग्रहण न करनेमें विवश है, कर ही नहीं सकता, इसी प्रकार वह बाह्य पदार्थोंको न अपनानेमें भी विवश है, उन्हें अपना ही नहीं सकता, तो उसमें हेतु है कोई विशिष्ट परिणाम, इसका कारण है कि ज्ञानी पुरुष विषयसुखोंको छोड़ देता है, बाहरी समागमोंको त्याग देता है।

सिद्धमस्ताभिलाषत्वं कस्यचित्सर्वतश्चितः।
देशतोप्यस्मदादानां रागभावस्य दर्शनात् ॥२६३॥

वैषयिक सुख रागत्यागका कारण अस्ताभिलाषता—ज्ञानी पुरुष इन वैषयिक सुखों को और परपदार्थोंको हेय जानकर छोड़ देता है, तो इसमें कारण क्या है, प्रेरणा किस बात की मिली, कौनसा अद्भुत परिणाम हुआ जिस परिणामके कारण इन सब सुखोंको छोड़ देता है ? वह परिणाम है अस्ताभिलाषता, अर्थात् अभिलाषाओंका अस्त (खत्म) हो जाना। अभिलाषा तो अज्ञानी जीवोंको रहती है। जैसे मैं ऐसा मकान बनवाऊँ, मैं ऐसी दूकान बनवाऊँ, मैं अपनी ऐसी पोजीशन बनाऊँ, मैं इस प्रकारके भोग साधन जुटाऊँ आदि,····पर ज्ञानी जनोंको रंच भी इस प्रकारकी अभिलाषायें नहीं रहती हैं। ज्ञानी तो जानता है कि मेरा स्व तो मेरा आत्मा ही है, मेरा यहाँ अन्य कुछ नहीं। मैं जिस स्वक्षेत्रमें बस रहा हूं बस वही मेरा सब कुछ है, वही मेरा निजी गृह है। मेरे निजी गृहमें होने वाली परिणतियाँ बस यही मेरा कुल है, मेरे ही भाव, मेरे ही गुण, बस यही मेरी समृद्धि है, वैभव है। इस सही बोधके कारण

ज्ञानी पुरुष किसी भी परभावमें, परपदार्थमें अभिलाषा नहीं करता। सभी पदार्थोंकी अभिलाषासे ज्ञानी पुरुष परे हो गया है। यही कारण है कि वह सांसारिक विषयोंके सुखको छोड़ देता है। जैसे भोजन करते-करते जब पेट भर जाता है तो वह पुरुष उस भोजनको छोड़ देता है। उसकी ओर तो फिर वह देखना भी नहीं चाहता। कोई अगर जबरदस्ती भोजन देने लगे तो वह झुंझलाने भी लगता है। क्या करे, उसके पेटमें जगह ही नहीं रही, उसको उस भोजन-विषयक अभिलाषा नहीं रहती। यों ही समझिये कि सम्यग्दृष्टि जीवको जिसको समस्त बाह्य पदार्थोंके प्रति अरुचि हो गयी है, जिसको बाह्यपदार्थविषयक अभिलाषा ही नहीं रही है, वह समस्त बाह्य पदार्थोंको छोड़ देता है। वह तो ज्ञानानुभवसे ही तृप्त है, इस कारण बाह्य पदार्थ तो उसे आफत लगते हैं। किसका सम्बन्ध, किसका विकल्प, किसमें दृष्टि ? उसके लिये ये सब आपत्तियाँसी जंचती हैं इस कारण इन्हें छोड़ देता है। यह पुरुष अनभिलाषी हो गया। कोई पुरुष भरपेट भोजन कर चुकनेके बाद कहे कि अच्छा लो हमने इस भोजनको छोड़ दिया, लो पेटमें जगह न होनेसे छोड़ना पड़ा हो थोड़ी देरके लिये तो उसने छोड़ा कहाँ ? अरे वह तो अभी भोजन करनेका संस्कार बनाये हुए है। कभी-कभी तो लोग यों कह भी देते हैं कि बस अब अधिक न परोसना, शामको ले लेंगे। तो संस्कार अभी गया कहाँ, और न भी उपयोगमें आये शामके भोजनकी बात लेकिन वासनामें वह बात पड़ी हुई है। भोजनको उसने छोड़ा कहाँ है ? किन्तु एक ऐसी स्थिति है कि पेट तो भर चुका है, पेटमें और भोजन जाये तो कैसे जाये, कोई उसका चारा ही नहीं है, लेकिन उसकी अभिलाषा समाप्त नहीं हुई है। अभिलाषा तो ज्ञान और वैराग्यके बलसे समाप्त हो सकती है। ज्ञान और वैराग्यके बिना अभिलाषा दूर नहीं होती। यों तो किसी जंगलमें रहने वाले भील वगैरहको कोई देखकर कह सकता है कि अरे यह तो बहुत सन्तुष्ट है। देखो एक साधारण झोंपड़ीमें रहकर थोड़ेसे परिग्रहके बीच रह रहा है, पर जरा बाहरी दृष्टिसे विचार तो कीजिए। अरे वह सन्तुष्ट कहाँ है ? उसकी तो यह अभिलाषा है कि मुझे अधिकसे अधिक जितना वैभव मिल सकता हो उतना मिल जावे। तो क्या उसे कह सकेंगे कि इसके अभिलाषा नहीं है ? अरे संस्कार उसके ऐसा ही बना हुआ है कि मुझे दुनियाका सारा वैभव मिल जाय। पर जो ज्ञानी पुरुष होता है वह यहाँ समस्त लौकिक वैभवको हेय जानकर छोड़ देता है।

दृष्टान्तपूर्वक अस्ताभिलाषताकी सिद्धि—यद्यपि पुण्यके उदयसे ज्ञानीको भी सुखसाधन प्राप्त होते हैं, उनके प्रति एक देश रागभाव भी उसके चलता है, पर उसके अभिलाषा पर-पदार्थविषयक नहीं रहती है। जैसे जिसने कोई एक देश व्रत लिया है—मान लो ब्रह्मचर्याणुव्रत लिया है तो उसका एक स्त्रीके अतिरिक्त अन्य समस्त स्त्रियोंकी अभिलाषा दूर हो गई है। और यदि अन्य स्त्रियोंकी अभिलाषा दूर नहीं हुई है तो वह अणुव्रती भी नहीं है। महा-

व्रत ग्रहण करनेपर तो तद्विषयक सर्वअभिलाषायें समाप्त हैं। आप सबके तो एक देशत्याग करनेको रह गया है, तो देखा जा रहा है कि बहुतसे रागभावका त्याग चल रहा है, एक देश-त्याग नहीं हो पाया, तो इससे सिद्ध है कि किसीके बिल्कुल भी राग न हो, और सम्यग्दृष्टिकी तो प्रतीतिमें किसी भी परवस्तुके प्रति राग नहीं है। तभी कहा है कि परमाणुमात्र भी जिसके राग है उसके सम्यक्त्व नहीं है। उसका अर्थ है कि प्रतीतिमें, श्रद्धामें एक परमाणुमात्रके प्रति भी राग है तो समझिये कि उसका भी ज्ञान ढका हुआ है, सम्यक्त्व नहीं होता है। जैसे कई लोग ऐसे देखे जाते हैं कि अपने घरमें मौजसे रहते हैं, मान लो एक ही स्त्री है, तो उसको यह कहा जा सकता है कि इसके बन्ध नहीं है या दुनियाभरका राग नहीं है अथवा इसके ज्ञानप्रकाश बना हुआ है, इसको अन्य किसी स्त्रीके प्रति राग नहीं है।····अरे एक भी स्त्री का, पुत्रका अथवा किसी भी एक वस्तुका यदि प्रीतिपूर्वक राग है, उससे अपना भला मानने की श्रद्धा सहित राग है तो सम्यक्त्व नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीवके सर्व अभिलाषायें अस्त हो गयी हैं, यही कारण है कि वह वैषयिक सुखोंको, परपदार्थोंको हेय जान करके छोड़ देता है।

तद्यथा न मदीयं स्यादन्यदीयमिदं ततः।
परप्रकरणे कश्चित्तृप्यन्नपि न तृप्यति ॥२६४॥

ज्ञानी आत्माके अस्ताभिलाषत्व परिणामका दिग्दर्शन—पूर्वोक्त निर्णयका यह वर्णन किया जा रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीवको इन सारे बाहरी पदार्थोंके प्रति यह निर्णय है कि ये पदार्थ मेरे नहीं हैं, ये अन्य-अन्यके हैं। जैसे घड़ी, चौकी, दरी आदिक जो कुछ भी पदार्थ दिख रहे हैं ये मेरे नहीं हैं। ये जिन स्कंधोंसे निर्मित हैं, इनकी जो निजी चीज है, पिण्ड है बस वही है, ये खुद खुदके स्वामी हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुष जान रहा है। तो जिसने जान लिया कि ये मेरे नहीं हैं, ये परपदार्थ हैं, परके हैं तो उसे उसमें अभिरुचि ही न जगेगी और एक साधारण दृष्टिसे देखो तो जैसे जिन लोगोंका यह ख्याल बन गया है कि यह मेरा घर है और ये सब दूसरेके हैं ऐसा जब भाव मनमें बना है तो दूसरेके घरको हड़पनेकी चाह तो कभी नहीं होने लगती, क्योंकि जान रहा है कि ये सब दूसरेके हैं, मेरे नहीं हैं। तो अभिलाषा शान्त होने की पद्धति तो यही है कि यह ज्ञान बने कि ये मेरे नहीं हैं। ये सब पर हैं, सम्यग्दृष्टिको सर्व वस्तुओंमें यह ज्ञान बना हुआ है कि ये मेरे नहीं हैं, ये परके हैं, पौद्गलिक हैं, ऐसा ज्ञान उसके है, इस कारण उसे कभी अभिलाषा नहीं लग रही है, किन्तु अन्तः अभिलाषा शान्त हो गई है अर्थात् किसी भी वस्तुमें रुचि नहीं जग रही है, ऐसा होने पर भी कर्मविपाक ऐसा विचित्र है कि कर्मोदयमें यह सम्यग्दृष्टि जीव भी जघन्न पदमें यह किसी कार्यमें लग जाता है, परके प्रकरणमें आ जाता है और वहाँ आकर कभी तृप्त भी होता है लेकिन वह तृप्त होता हुआ भी तृप्त नहीं है। जैसे विवाहके अवसरपर गानेके लिए पास

पड़ौसकी महिलायें बुला ली जाती हैं, कोई नर्तकी भी बुला ली जाती है तो वे अपना नाच गाना सभी कुछ करती हैं, महिलायें तो ऐसा भी कहती हैं—"मेरा दूला बना जैसे रामलखन" आदिक, ये सब भी कहती हैं, बड़ा राग भी दिखाती हैं, पर यह समझ लीजिए कि उनकी वे सारी चेष्टायें ऊपरी-ऊपरी हैं। वे आती हुई भी नहीं आती हैं, जाती हुई भी नहीं जाती हैं, गाती हुई भी नहीं गाती हैं, क्योंकि मान लो वह दूल्हा घोड़ेसे गिर जाय और उसकी टाँग टूट जाय तो क्या उन पड़ौसकी महिलाओंको उस तरहका दुःख होगा जैसा कि उसकी माँ को ?····नहीं होगा। यद्यपि उसकी माँ कामकाजमें इतना व्यस्त है कि उसे गाने बजाने आदि की फुरसत नहीं, फिर भी दुःख तो उसकी माँ को ही होगा, उन पड़ौसकी महिलाओंको न होगा। नर्तकी भी खूब नाच गाकर बड़ी खुशी सी मनाती है, पर उसका वह नाचना गाना भी ऊपरी-ऊपरी है। उन महिलाओंकी भी वे सारी क्रियायें ऊपरी-ऊपरी हैं। इसी तरहसे एक सम्यग्दृष्टि पुरुष कर्मविपाकवश भोगसाधनोंके बीच रहता है, उनमें ऊपरी-ऊपरी रूपसे लगता भी है फिर भी वह उनसे विरक्त रहता है, उनमें लिप्त नहीं होता। वह तो अपने भीतरकी अमूल्य निधिको ही निरखकर सदा तृप्त रहा करता है। बाहरी पदार्थोंके प्रसंगोंमें लग रहा, उनसे तृप्त हो रहा फिर भी तृप्त नहीं हो रहा। एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष भोजन कर रहा हो तो क्या पेट नहीं भरता, अथवा क्या डकार नहीं आती ? अरे ये सब बातें होती हैं फिर भी उसको उस भोजनकी रुचि नहीं रहती। उसकी रुचि, उसकी धुन तो एक अपने ज्ञानस्वरूपकी आराधना की ही रहती है, इस कारणसे वह उस भोजनसे तृप्त नहीं हो रहा है। तो सम्यग्दृष्टि पुरुष सांसारिक सुखोंमें तृप्त होता हुआ भी तृप्त नहीं होता।

यथा कश्चित्परायत्तः कुर्वाणोऽनुचितां क्रियाम्।
कर्ता तस्याः क्रियायाश्च न स्यादस्ताभिलाषवान् ॥२६५॥

ज्ञानी जीवके अकर्तृत्व व अस्ताभिलाषत्वका दृष्टान्तपूर्वक प्रकाशन—जैसे कोई पुरुष पराधीन होकर किसी अनुचित क्रियाको कर रहा है अर्थात् जिस क्रियाको करनेका उसका भाव नहीं है उसको कर रहा है तो वह पुरुष उस क्रियाका कर्ता न कहा जायगा, क्योंकि तद्विषयक उसकी अभिलाषा नष्ट हो गयी है। यों अनेक दृष्टान्त आपको मिल जायेंगे कि बलपूर्वक पराधीनतामें विवश होकर करना पड़ रहा है मगर भीतरमें उसकी अभिलाषा नहीं है। तो जिसे भीतरसे अभिलाषा नहीं रही वह करता हुआ भी अकर्ता है। ऐसा व्यवहारमें कहते भी हैं। ज्ञानी पुरुषोंको वैषयिक सुखोंमें अभिलाषा नहीं रही और कर्मके डंडोंकी मारको सहता रहता है, फिर भी अन्तः अभिलाषा न होनेके कारण उसे उन क्रियाओंका कर्ता न कहा जायगा। जैसे किसी कैदीको पराधीन होकर चक्की भी पीसनी पड़ती, खेत भी जोतना पड़ता, और और भी अनेक काम करने पड़ते, लेकिन अंतः अभिरुचि न होनेके कारण उन्हें उन

क्रियाओंका कर्ता नहीं कहा जा सकता। यद्यपि उन कैदियोंको कोई ज्ञानपूर्वक उन क्रियाओंके करनेकी अभिरुचि नहीं जगी है फिर भी उन क्रियाओंका उन्हें कर्ता व्यवहारमें भी नहीं कहा जाता। तब फिर ज्ञानी विवेकी सम्यग्दृष्टि पुरुषकी क्रियाओंका तो कहना ही क्या है ? उसके ज्ञानपूर्वक इन बाह्य क्रियाओंसे, बाह्य वस्तुओंसे अभिरुचि हटी है, इस कारण वह उन क्रियाओं को करता हुआ भी, उन परपदार्थोंमें लगता हुआ भी नहीं कर रहा है, नहीं लग रहा है। वह तो अपने ज्ञानबलसे समस्त परकी अभिरुचि छोड़ देता है।

स्वदते ननु सद्दृष्टिरिन्द्रयार्थकदम्बकम् ।
तत्रेष्टं रोचते तस्मै कथमस्ताभिलाषवान् ।।२६६।।

इन्द्रियविषयोंको स्वादने वाले तथा रुचित करने वालेके ज्ञानीको अस्ताभिलाष कहे जानेके कारणकी जिज्ञासा—अब यहाँ शंकाकार यह कहता है कि सम्यग्दृष्टि जीव भी इन्द्रिय के विषयसमूहका स्वाद लेता है। जब उसे इष्ट विषय रुच रहे हैं तब फिर उसे अस्ताभिलाष क्यों कहा गया है ? उसकी इच्छा है कि मैं भोजन करूँ तभी तो वह खाना, पीना, रसास्वादन करना आदिक क्रियायें करता है। जब इस तरह वह भोगोंमें प्रवृत्त हो रहा है तो इससे यह स्पष्ट निर्णय निकलता है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषके भी इच्छा है। जब इच्छा है तब फिर उसको अस्ताभिलाष क्यों कहा गया है ? शंकाकारका आशय यहाँ यह है कि रुचिके बिना विषयोंमें प्रवृत्ति नहीं की जा सकती, और उपद्रव तो ऐसा है कि न चाहते हुए भी ये भोग आते हैं, मगर विषयभोग करना तो कोई उपद्रव नहीं है, वह तो समझ करके वहाँ लगता है। तो जब इन्द्रियके विषय रुच गए—खाना पीना, भोग विषय, रागरागनी सुनना, रूपावलोकन करना आदि सभी क्रियायें वह सम्यग्दृष्टि पुरुष भी करता है तब फिर यह क्यों कहा गया है सम्यग्दृष्टि पुरुषको अभिलाषा नहीं है ? कैसे कहा जाय कि उसकी समस्त अभिलाषायें शान्त हो गयी हैं।

सत्यमेतादृशो यावज्जघन्यं पदमाश्रितः ।
चारित्रावरणं कर्म जघन्यपदकारणम् ।।२६७।।

अस्ताभिलाष सम्यग्दृष्टिके भी चारित्रमोहनीय कर्मविपाकवश भोगवृत्ति—उक्त शंका के समाधानमें कहते हैं कि यद्यपि शंकाकारकी बात थोड़ी ठीक है, अर्थात् कुछ बात न आये, कुछ इच्छा न हो तो वह विषयोंमें प्रवृत्ति कैसे करे ? अभिलाषा कुछ हुई तो सही, लेकिन जितना जो विकार आया वह जघन्य पदके आश्रय करने वाले सम्यग्दृष्टिके आया, अर्थात् सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर ऊपर वाले सभी गुणस्थानके कहलाते हैं। उनमें जो अविरत सम्यग्दृष्टि है अथवा कुछ देशविरत भी हो तो वह जघन्य पद है, सम्यग्दृष्टिमें जघन्य पद न कि

संसारके सब जीवोंमें जघन्य पद। तो जब वह अपनी जघन्य भूमिकामें है तो उसकी इस तरह की कुछ प्रवृत्ति होती है और साधारण रुचि भी चलती है, लेकिन ऐसा होनेमें भी कारण क्या है ? आत्माका यह जघन्य पद रहे, इसका कारण है चारित्रमोहनीय अर्थात् चरित्रावरण कर्म। सिद्धान्त शास्त्रोंमें आत्माके तीन भेद बताये हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। बहिरात्मा—उसे कहा गया है जो बाहरकी चीजोंको आत्मा माने, देहको आत्मा माने, अन्य चीजोंको अपना माने। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव, संसारके जन्म मरणकी परम्परा रखने वाले जीव, ये बहिरात्मा कहलाते हैं। अन्तरात्मा उसे कहते हैं—अन्तः मायने भीतर, जिसके अपने भीतरको आत्मारूपसे माना है। यह मैं ज्ञानस्वरूप जो सत् हूं सो मैं आत्मा हूं, इस प्रकार भीतरके तत्त्वको जिसने आत्मा माना है वह कहलाता है अन्तरात्मा। और परमात्मा कहलाता है परम आत्मा, उत्कृष्ट आत्मा। जो रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञानरूप है वह कहलाता है परमात्मा। तो अन्तरात्माके भी तीन भेद किए गए हैं—(१) जघन्य अन्तरात्मा, (२) मध्य अन्तरात्मा और (३) उत्कृष्ट अन्तरात्मा। जघन्य अन्तरात्मा तो छोटा अन्तरात्मा कहलाता है चतुर्थ गुणस्थानवर्ती और पंचम गुणस्थानवर्ती जीव और मध्य अन्तरात्मा कहलाता है महाव्रती रूप, जो अभी प्रमत्त अवस्थामें है, उत्कृष्ट ध्यान अभी नहीं है, और उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहलाते हैं श्रेणी वाले मुनि, उद्यम ध्यान वाले मुनि। तो उनमें जो जघन्य अन्तरात्मा हैं अर्थात् ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव जिन्होंने व्रत नहीं ग्रहण किया है अथवा जिन्होंने एक देशव्रत ही धारण कर पाया है वे हैं जघन्य अन्तरात्मा। उनके अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण चारित्र मोहका उदय है, उसकी यह प्रेरणा है, और कुछ ऊपर इच्छासी बन रही हो, अथवा प्रवृत्ति बन रही हो अथवा कुछ तृप्तिसी होती है। लेकिन दर्शनमोहनीयका अभाव होनेसे न वहाँ वास्तविक तृप्ति है, न इच्छा है, न अन्तर्वृत्ति है, इस कारण सम्यग्दृष्टिको अस्ताभिलाष कहा गया है। उसकी अभिरुचि सब शान्त हो गयी है।

चारित्रमोह व दर्शनमोहके प्रभावोंका पार्थक्य—चारित्र मोहके उदयमें भी एक प्रबल पीड़ा होती है और कभी अनन्तानुबंधीका भी उदय रहे, उसमें भी इतनी व्यक्त प्रबल पीड़ा नहीं होती और कहो अनन्तानुबंधी नहीं है और अप्रत्याख्यानावरण नहीं है तो उसमें व्यक्त ऐसी क्रीड़ायें देखी जा सकती हैं। जैसे द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि मुनि जिसकी क्रियायें बहुत साफ हैं, कषायें मंद हैं, समितियोंमें तत्पर रहता है, प्राणियोंकी दया करता है, किसीको अपना विरोधी नहीं मानता, इतनी सब बातें होनेपर भी अनन्तानुबंधी कषायके उदयमें अथवा मिथ्यात्वके उदयमें वह इस पर्यायसे भिन्न अन्तः विराजमान निज ज्ञायकस्वरूपको आत्मा रूप से अनुभव नहीं कर पाता है और उसकी क्रिया ऊपरसे देखो तो बड़ी मंद मालूम होती है। अगर वह कोल्हूमें भी पेल दिया जाय तो भी इस शत्रुसे बदला लेनेका भाव नहीं करता।

इतना होनेपर भी उसके मिथ्यात्व माना गया है, अभिलाषा मानी गई है, वह कुछ चाह रहा है और उसकी अभिलाषा भीतर ही भीतर रहकर तीव्र होती रहती है। उसने समझ रखा है कि होती है कोई मुक्ति और उसे हमें चाहिये। बस जैसे लोग वैकुण्ठ, स्वर्ग, भोगभूमि, सेठाई, राजापन आदिकी इच्छा करते हैं इसी ढंगसे इस द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टिने भी मुक्तिकी इच्छा कर ली, जिसको अपना यथार्थ स्वरूप अनुभवमें तो नहीं आया, मगर पड़ता है, ज्ञान भी बहुत है, तो उस ज्ञानबलसे वे सब बातें समझमें आयी हैं कि सदाके लिए जन्ममरणके संकट छूट जाते हैं, वहाँ कर्म नहीं रहते हैं, अनन्त आनन्द रहता है। इन सब बातोंका ज्ञान करके भी और मुक्तिकी चाह करके भी उसका वह अभिलाषी कहलाता है, उसको वास्तविक वैराग्य नहीं जगा है, और एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषके अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कर्म के उदयमें घरमें रहता है, व्यापार भी करता है, कमाना, खाना, पालान पोषना आदिककी सब बातें करते हुए भी वह निरन्तर सदा ही उनसे विरक्त रहता है। अन्तः ऐसी उसकी परिणति है तो बाह्यमें इतनी क्रियायें होनेपर भी उसको निरभिलाषी (अस्ताभिलाष) कहा जाता है।

तदर्थेषु रतो जीवश्चारित्रावरणोदयात्।
तद्विना सर्वतः शुद्धो वीतरागोस्त्यतीन्द्रियः ॥२६८॥

चारित्रमोहविपाककी रतिकारणता—इष्ट पदार्थमें यह जीव चारित्र मोहनीयके उदय के कारण रत हो जाता है, और जब चारित्र मोहनीयका उदय नहीं है तब यह वीतराग और अतीन्द्रिय हो जाता है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि जो कुछ ज्ञानी जीवकी थोड़ी बहुत रति चल रही है विषयोंमें उसका कारण चारित्रावरण कर्मका उदय है। पर दर्शन मोहनीय का उदय न रहनेके कारण उसको अन्तः कोई अभिलाषा नहीं रही। सम्यग्दृष्टि जीव अस्ताभिलाष है, इस बातको यदि समझना ही है तो इन दृष्टान्तोंसे समझा जा सकता है, जैसे किसी जीवपर दरिद्रता आ गयी, निर्धन हो गया तो क्या वह चाहता है कि मैं निर्धन होऊँ? चाहता तो कोई नहीं लेकिन दरिद्रता आती है तो उस दरिद्रताको भोगना पड़ता है, तो यों ही समझिये कि भोगोंमें लगना यह जीवकी दरिद्रता है। सम्यग्दृष्टि जीव इसे नहीं चाहता, और न चाहनेपर भी चारित्र मोहनीयके उदय ये उसके सिरपर आते हैं। जब सिरपर आये तो उन्हें भोगना पड़ता है। भोग लिया लेकिन उसे अभिलाषावान नहीं कह सकते। तो चारित्र मोहके उदय होनेपर ऐसी तीव्र पीड़ा होती है कि वह वेदनाको सह न सकनेसे वहाँ प्रवृत्त हो गया। जैसे जब तेज भूख लगती है तो बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुषोंको भी उस तीव्र भूखकी पीड़ामें खाना ही पड़ता है। जिसने इतना भी खूब निर्णय कर लिया कि आत्माका आहार करनेका स्वभाव नहीं है, और आत्माका कुछ सम्बन्ध भी उस आहारसे नहीं होता है, आहार एक पृथक् चीज

है, आत्मा एक पृथक् तत्त्व है, इतना सब कुछ निर्णय होनेपर भी और अपने आत्मतत्त्वकी ओर उसकी धुन भी लगी है, फिर भी उसे खाना पड़ता है। तो वह खाता हुआ भी नहीं खाता है क्योंकि उसको खानेकी अन्तः अभिलाषा ही नहीं है। इसी प्रकारसे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषको अन्य भोगसाधनोंमें भी लगना पड़ता है, पर उनसे वह अन्तःविरक्त रहता है। चारित्र मोहनीय कर्मके उदयवश उसे इष्ट विषयोंमें लगना पड़ता है और जब चारित्रमोहनीय कर्मका उदय नहीं रहता तब यह जीव बिल्कुल वीतराग होता और अतीन्द्रिय हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि जीवके भी जब तक चारित्रमोहनीयका उदय है तब तक उसके अनुरूप वहाँ वृत्ति चलती है, किन्तु भीतरका ज्ञानप्रकाश स्पष्ट है, इस कारण उसे किसी भोग और उपभोगमें अभिलाषा ही नहीं है।

द्रङ्मोहस्य क्षतेस्तस्य नूनं भोगाननिच्छतः।
हेतुसद्भावतोऽवश्यमुपभोगक्रिया वलात् ॥२६९॥

अस्ताभिलाषके भी चारित्रमोहविपाककी उपभोगक्रियाकारणत्व—इस सम्यग्दृष्टि जीवके दर्शनमोहनीय कर्मका तो क्षय हो गया है इस कारण वह भोगोंको नहीं चाहता। यहाँ आन्तरिक अभिलाषा न होनेसे अस्ताभिलाषी कहा गया है और चारित्र मोहवश जो रुचि है उसे एक उपद्रव बताया गया है और वहाँ उपद्रवकी पीड़ा न सह सकनेसे उसका प्रतिकार करता है, ऐसे ज्ञानी जीवके रहस्योंको भली भाँति तो ज्ञानी ही समझ सकता है कि कैसा इसमें भाव है, किस तरह अभिलाषा नहीं है, किस तरह इन बाहरी बातोंको उपद्रव मानता है, आफत मानता है? यह बात भली भाँति उनकी समझमें आती है फिर भी अनेक दृष्टान्त हैं जिनसे साधारण जनोंकी भी बुद्धिमें यह बात आ सकती है कि इच्छा न होनेपर भी अनेक प्रकारके कार्य करने पड़ते हैं। एक बहुत लौकिक दृष्टान्त है कि कोई लड़की स्वसुराल जाती है तो विदा होते समय वह रोती अवश्य है और वही लड़की बड़ी बनकर, बूढ़ी होकर भी जब अपने घरसे स्वसुराल जाती है तो वह थोड़ा बहुत रोकर जाती है। भला बतलाओ उसके चित्तमें रोने जैसी पीड़ा कहाँ है? वह काहेको रोती है? तो बात यह कही जा रही है कि अन्तः अभिलाषा न होनेपर भी व्यवहार कार्योंमें पड़ना पड़ता है। अब देखिये—उस रोने वाली महिलाको अन्दरसे कोई रंजकी बात तो नहीं है लेकिन रूढ़िवश उसे रोना पड़ता है। वह रोना सिर्फ इसीलिए है कि ये पड़ौसके लोग जान जायें कि इनको यहाँसे जानेमें बड़ा दुःख हो रहा है। तो उस महिलाका वह रोना न रोनेकी तरह है। ऐसे ही दूसरा दृष्टान्त देखिये—जो बच्चा अपने पिताके आधीन है और पिताके बड़े कन्ट्रोलमें है, और वह पिता उस बच्चेसे जबरदस्ती काम करवाता है, यदि न करे तो दो चार तमाचे भी लग जायें, सो विवश होकर उस बच्चेको वह काम करना पड़ता है। पर उस कामको करता हुआ भी न

करनेकी तरह है, क्योंकि उसकी उस कामके करनेकी अन्तः अभिलाषा ही नहीं है। अब तीसरा दृष्टान्त लीजिए—जैसे एक सिपाही कैदीको जिस तरहकी प्रेरणा करता है कि यह काम करना पड़ेगा, सो वह कैदी काम करता तो है, पर उस कैदीकी उस कामके करनेकी भावना न होनेसे उसको उस कामका कर्ता नहीं कहा जा सकता। अब चौथा दृष्टान्त लीजिए— एक मुनीम किसी सेठके बड़े फर्ममें काम करता है तो वह ग्राहकोंसे ऐसा ही तो व्यवहार करता है कि हमारा तुमपर इतना बाकी है, तुम्हारा हमपर इतना बाकी है आदि, पर उसकी अन्तः भावनाओंको तो परखिये—उसकी तो ऐसी अंतः श्रद्धा है कि मेरा यह कुछ नहीं है। यह तो सब उस सेठका है। मेरा तो सिर्फ उतना ही है जितने १००-१५० रुपये महीनेमें मिल जाते हैं, वास्तवमें न मेरा इसपर कुछ है न इसका मेरेपर। तो वह मुनीम एक व्यवस्थापक होनेके नातेसे वहाँ वैसा व्यवहार करता है। तो ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जिनसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि कुछ करनेकी अन्तः अभिलाषा न होनेसे वह उस क्रियाका करने वाला नहीं माना जाता है। ठीक यही हाल एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषका होता है। वह खाते पीते, बोलते चालते, भोग भोगते, तृप्त होते आदिमें भी समझो कि वे कुछ क्रियायें नहीं कर रहे हैं क्योंकि उनके करनेकी उसके अन्तः अभिलाषा नहीं रही, इसलिए उनके भीतरमें अनभिलाषता सिद्ध होती है।

नासिद्धं तद्विरागत्वं क्रियामात्रस्य दर्शनात्।
जगतोनिच्छितोप्यस्ति दारिद्यं मरणादि च ॥२७०॥

अस्ताभिलाषके क्रियामात्र होनेपर भी विरागत्वकी सिद्धि—सम्यग्दृष्टि जीवके जो उपभोग क्रिया देखी जाती है सो वह क्रिया मात्र ही देखी जा रही है, उसके साथ भावकी प्रेरणा नहीं होती, इसी कारण सम्यग्दृष्टि जीवको विराग कहा गया है। वीतराग आत्माकी तो बात ही क्या, यहाँ साधारण जन भी अनेक घटनाओंमें ऐसे देखे जाते हैं कि न चाहते हुए भी कुछ न कुछ भोगना ही पड़ता है। देखिये—जगतमें कोई दरिद्रता चाहता तो नहीं, दरिद्रता किसी को इष्ट नहीं है, पर दरिद्रताके आ जानेपर उसे भोगना ही पड़ता है। तो दरिद्रताके भोगनेकी चाह (अभिलाषा) न होनेसे उसका भोक्ता तो नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टान्तसे एक यह प्रेरणा मिलती है कि जो लोग कुछ थोड़ा बहुत पढ़ लिखकर जानकर यह कह देते हैं कि क्या बतायें भाई, हमारे चारित्रमोहनीय कर्मका कुछ ऐसा ही उदय है कि इन भोगसाधनोंमें लगना पड़ता है, हमारी वांछा तो इनमें लगनेकी नहीं है····। लेकिन जरा इस तुलनासे अपनेको तौलें, तब कहें तो हम समझें कि ऐसा कहने वालेकी बात ठीक है। तुलना इस दृष्टांतमें दी गई है— जैसे कोई पुरुष मरण तो नहीं चाहता है पर मरण करना पड़ता है तो क्या इस तरहसे कोई

है कि भोगविषयोंको चाहता तो नहीं है पर उनको भोगना पड़ता है ? क्या सचमुच इस तरह की विवशता है ? यदि ऐसी विवशता बनी हो तब तो उसका कहना सत्य होगा और यदि इस तरहकी विवशता नहीं है तो समझिये कि उसकी वह बात एक स्वच्छन्दताकी है कि हम लोक में ज्ञानी भी कहलायें, सम्यग्दृष्टि भी कहलायें, लोकमें हमारी ज्ञानी रूपसे ख्याति भी रहे और हमारा मौज भी चलता रहे···, तो यह तो एक स्वच्छन्दता हुई । तो बात यह कह रहे थे कि जैसे दरिद्रताको कोई नहीं चाहता पर दरिद्रता आ जानेपर उसे भोगना ही पड़ता है, इसी तरह ज्ञानी जीव पञ्चेन्द्रियके विषयोंको नहीं चाहता है, लेकिन कर्मविपाक आये, साता वेदनीय या और और भी पुण्यके उदय आयें, साथमें चारित्रमोहनीयका उदय भी चल रहा है, वह प्रेरणा ऐसी होती है कि वह भोगोंमें लग जाता है लेकिन वह न चाहते हुए उसे भोगोंमें लगना पड़ता है । यह एक भीतरी विवेक अपने आपको प्रमाणित कर देगा कि हाँ वास्तवमें ऐसी ही वृत्ति हमारेमें है कि नहीं अथवा हम उससे कुछ भला मान रहे हैं और उससे कुछ अपना हित समझ रहे हैं या नहीं, हमारा झुकाव उस ओर है अथवा नहीं, यह बात उनकी खुद समझ सकते हैं और जब हमारी इस आत्माके हितकी ओर भावना हो, उसकी ओर दृष्टि दे तो अपने आपमें जान सकते हैं कि मेरेमें इस तरहकी अस्ताभिलाषता हो रही है अथवा नहीं । तो इस तरह अपने आपका शोधन करें यही वास्तविक प्रतिक्रमण है । उस शोधनमें जो अपना बाहरी झुकाव है उसको अपनी गल्ती मानें और इस भेदज्ञानमें और इस आत्मस्वरूपके परिचयमें लगनेकी धुन बनायें ।

व्यापीडितो जनः कश्चित्कुर्वाणो रुक्प्रतिक्रियाम् ।
तदात्वे रुक्पदं नेच्छेत् का कथा रुक्पुनर्भवे ॥२७१॥

कर्मज क्रिया होनेपर भी निरीह होनेका एक दृष्टान्त—सम्यग्दृष्टि पुरुषके जो भोगक्रिया होती है वह क्रियामात्र है, उसके साथ अन्तः अभिलाषा नहीं जुड़ी हुई है, इसलिए ज्ञानी के विरागता असिद्ध नही है । इसी बातको दृष्टान्तपूर्वक सिद्ध कर रहे हैं कि जैसे कोई पुरुष रोगसे व्याकुल है तो वह रोगका इलाज कर रहा, तो रोगकी प्रतिक्रिया करते हुए भी वह उस समय ऐसे रोगको नहीं चाह रहा है तो आगे रोगको क्या चाहेगा ? जैसे जिसको बुखार है और वह बुखारकी दवा भी कर रहा है तो क्या वह चाहता है कि ऐसा बुखार मेरे सदा बना रहे ? अरे वह तो उस बुखारकी दवा करता है उस बुखारको नष्ट करनेके लिए । इसी प्रकार यह विषय भी एक वेदना है । और उस विषयवेदनाका इलाज है उसकी भोगक्रिया । तो उस समयमें पञ्चेन्द्रियके भोगके समयमें भी उसे नही चाह रहा कि ये विषय मुझे मिलें । उसको ज्ञानप्रकाश होनेसे यह धुन बनी है कि मेरेको तो वीतराग विज्ञान परिणति हो, ऐसी उसकी अन्तः प्रतीति है । वह तो एक निर्विकल्प ध्यानको ही चाहता है और विकल्प आते हैं

तो उनसे उपेक्षा करता है कि ये क्यों हो रहे हैं ? होकर भी उनमें पड़कर भी उनमें रुचि उसकी नहीं है, इस कारण वह उनसे उपेक्षा चाहता है । तो जो विषयसाधनोंके समयमें भी विषयोंको नहीं चाह रहा वह आगामी कालके विषयोंको क्या चाहेगा ? और जब आगामी कालके विषयोंको न चाहा तो समझना चाहिए कि उसकी वह क्रिया बन्धके लिए नहीं है । यहाँ सारांश यह जानना चाहिए कि किसी कामके करते हुए यदि भविष्यके लिए अपनेको कुछ चाहे तो उसको कहते हैं बन्धफल वाली और बन्ध वाली क्रिया, और जिस क्रियाको करके आगामी कालके लिए कुछ नहीं चाहा जा रहा है उसको बन्धफल वाली या बन्धकी क्रिया नहीं कहते । ऐसी प्रकाशमान प्रतीति सम्यग्दृष्टि पुरुषके होती है । इस कारण उसकी क्रिया मात्र देखी जाती है पर उसके उस क्रियाके करनेकी अभिलाषा नहीं होती । यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषको अस्ताभिलाषी कहा गया है ।

कर्मणा पीडतो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियाम् ।
नेच्छेत् कर्मपदं किञ्चित् साभिलाषः कुतो नयात् ।।२७२।।

कर्मज क्रिया होनेपर भी सम्यग्दृष्टिके अस्ताभिलाषत्वकी सिद्धि––उक्त श्लोकमें जो दृष्टान्त दिया गया है वह दृष्टान्त जिस बातको सिद्ध करनेके लिए दिया गया है उसका वर्णन इस श्लोकमें है । जैसे कि रोगको प्रतिक्रिया करने वाला वह पीड़ित समय उस समयके रोगको नहीं चाहता तब फिर आगेके रोगको तो चाहेगा ही क्या ? इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी पुरुष चारित्रमोहनीय कर्मसे पीड़ित हुआ अथवा चारित्रमोहनीय कर्मकृत जो विकार है उससे पीड़ित होता हुआ वह कर्मके उदयसे होने वाली क्रियाको कर रहा है । उसे करता हुआ भी वह कर्मपदको कुछ भी नहीं चाहता । जैसे रोगकी प्रतिक्रियाको करते हुए वह पुरुष रोगपदको उस समय भी नहीं चाहता, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी उस कर्मपदको नहीं चाहता । कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई स्थितिको वह नहीं चाहता । तो ऐसा पुरुष आगामी कालमें ऐसे ही विषय मिलें इस बातको तो चाहेगा ही क्या ? तब उसे किस न्यायसे अभिलाषी कहा जा सकता है ? इस प्रसंगमें दो बातें आयी हैं—एक तो भोगोपभोगके समयमें भी वह उसे नहीं चाहता । दूसरी बात यह कि वह आगामी कालके लिए भोगोपभोगको चाहेगा ही क्या ? इन दो बातोंमें एक बात तो कुछ स्पष्ट रूपसे समझमें आ जायगी कि ज्ञानी जीव आगामी कालके लिए भोगोपभोगको नहीं चाहता, किन्तु यह एक सूक्ष्म बात है कि भोगोपभोगके समयमें भोगोपभोगको या कर्मजभावको, कर्मपदको नहीं चाहता है । यह बात एक अपने आचरण द्वारा साध्य है याने ज्ञानियोंकी यह भीतरी बात भी समझमें उसके आयगी जो ज्ञानीके अनुकूल कुछ अपना भी आचरण बनाये । जैसे कोई कैदी किस तरहसे जेलमें काम करता है, उसकी किस तरहकी आन्तरिक अभिलाषा है, इसको वही पुरुष भली भांति जान सकता है जो स्वयं कैदी बनकर

काम करे। अरे उसको तो वे सारे काम विवश होकर करने पड़ते हैं, उसकी अन्तः अभिलाषा उन कामोंके करनेकी नहीं होती है। तो इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषके किस तरहकी अन्तः अभिलाषा होती है उसको तो वही पुरुष भली भाँति समझ सकता है जो स्वयं ही उस ज्ञानी पुरुष की जैसी धारामें आये।

ज्ञानधारा व कर्मधाराका विवेक—इस प्रकरणमें यह जानना चाहिये कि इस ज्ञानी जीवके ज्ञानधाराकी मुख्यता है और अज्ञानी जीवके कर्मधाराकी ही मुख्यता है। ज्ञानधाराका अर्थ है कि रागद्वेष रहित जो ज्ञानकी क्रियामें ज्ञानपरिणतिका ही बना रहना यह तो है ज्ञानधारा और उस परिणतिसे चिगकर जो विचारतरंग रागद्वेषादिक रूपमें परिणति होगी वह है कर्मधारा याने जिस धारामें कर्मके प्रभावका सम्बंध है वह है कर्मधारा और जिस धारामें ज्ञान का स्वाश्रयज सम्बन्ध है, परिणति है वह है ज्ञानधारा। तो ज्ञानधारामें जो रहता है उसकी तो संसारसे मुक्ति होती है, और जो कर्मधारामें रहता है उसकी संसारसे मुक्ति नहीं होती है। ज्ञानी जीवके मुख्यरूपसे ज्ञानाधारा है और गौण रूपसे कर्मधारा भी बन रही है, लेकिन जो ज्ञानधारा है वह प्रधानरूप, उसका इतना बल है कि किसी भी समय यह कर्मधारा समाप्त होकर मात्र ज्ञानधारा रह जायगी। हम आपको भी यह चिन्तनमें रखना चाहिये हमारी जितनी परिणतियाँ होती हैं उन परिणतियोंमें ज्ञानधारा कितनी है और कर्मधारा कितनी है? एक शोधन ही तो करना है। जब अपने आपको संसारसे सदाके लिए मुक्त बनानेका उद्देश्य बनाया है तब हमें उसके अनुकूल शोधन करना, चिन्तन करना और आचरण बनाना है। तो यहाँ बतला रहे हैं कि चारित्र मोह कर्मसे पीड़ित हुआ यह ज्ञानी पुरुष कर्मज क्रियाको कर रहा है, पर उस कर्मपदको, उस स्थितिको, उस घटनाको, उस भावको वह जरा भी नहीं चाहता है। देखिये—कर्मको कर रहा है पर कर्मपदको नहीं चाह रहा, इसीमें अन्तर समझ जाते हैं। कर्मको कर रहा है, बाहरी क्रियाको कर रहा है, उससे और अन्तरङ्गमें चलें तो जो भावकर्म हैं, रागपरिणमन है उसको कर रहा है। कर रहा है मायने परिणम रहा है, राग हो रहा है और राग हो रहा है यह बात तो ठीक है मगर उस रागको वह चाह नहीं रहा। वह राग तो कर्मपद है। जिसे सरल शब्दोंमें यों कहा जा सकता कि ज्ञानी पुरुषके राग तो होता है मगर रागमें राग नहीं रहता है। वह उस कर्मपदको नहीं चाहता है। तो जो उस समय भी कर्मपदको नहीं चाह रहा है उसको किस दृष्टिसे, किस न्यायसे साभिलाषी कह दिया जायगा? वह तो वस्तुतः अस्ताभिलाषी ही है।

नासिद्धोऽनिच्छितस्तस्य कर्म तस्याऽऽमयात्मनः।
वेदनायाः प्रतीकारो न स्याद्रोगादिहेतुकः ॥२७३॥

सम्यग्दृष्टिके निष्काम कर्मयोगमें बन्धफलताका अभाव—ज्ञानी पुरुषकी क्रिया मात्र

होनेपर भी इच्छा नहीं है, इस बातको अभी सिद्ध किया है। अब उसके बाद इस बातको सिद्ध कर रहे हैं कि ज्ञानी पुरुषके इच्छा नहीं है, फिर भी उसके क्रिया हो जाती है, और जघन्य पदमें है ऐसी ज्ञानीकी क्रियाकी बात कही जा रही है। सम्यग्दृष्टिके इच्छाके बिना भी क्रिया होती है, यह बात असंगत नहीं है, सिद्ध है। जैसे कि जो रोगी पुरुष है वह वेदनका प्रतिकार करता है, वेदना सही नहीं जाती है, उसका इलाज करता है, उसका प्रतिकार करता है और प्रतिकार भी सही बन रहा तो क्या वह प्रतिकार रोगको बढ़ाने वाला है? अरे वह तो उस रोगको नष्ट करने वाला है। तो जैसे रोगका प्रतिकार उस रोगको उत्पन्न नहीं करता है बल्कि उसका नाश करता है, इसी प्रकार विषय अथवा कर्मका वेदनका प्रतिकार कहीं उस वेदनाको, कर्मको, विषयको, भोगको बढ़ाने वाला नहीं है। उसका कारण नहीं है कि आगामी कालमें इसके पीड़ायें हों। यह सब तत्त्वज्ञानीकी अन्तरङ्गमें क्या स्थिति रहती है, उस अनुकूल खुदका हृदय बनानेसे यह स्पष्ट रूपसे समझमें आती है। यों तो हम व्यावहारिक स्वादको भी स्पष्ट रूपसे बता नहीं सकते। जैसे मान लो पूछा जाय कि अच्छा बताओ मिश्रीका स्वाद कैसा होता है? तो प्रायः सभी लोग कह देंगे कि मीठा होता है। अब पूछें कि कैसा मीठा होता है? तो कहेंगे कि अजी बहुत मीठा होता है। यों उसका स्पष्टरूपसे स्वाद बता न सकेंगे। पर जिसने मिश्रीका स्वाद चख लिया उसे उस स्वादका स्पष्ट भान अवश्य हो जायगा। चाहे वह मुखसे व्यक्त न कर सके, पर उसका स्पष्ट परिचय अवश्य हो जायगा।

जैसे गोमटेश्वरकी बाहुबलि स्वामीकी मूर्तिको जिसने देखा न हो, केवल पुस्तकों द्वारा भली भाँति जानकारी कर लिया है कि वह मूर्ति इतनी लम्बी है, इतने लम्बे पैर हैं, इतने लम्बे हाथ हैं, इतनी लम्बी पैरकी अंगुलियाँ हैं, इतनी लम्बी हाथकी अंगुलियाँ हैं, इस आकारकी हैं···यों उसने सब जारी भी कर ली हो और उसका वर्णन भी कहो इस ढंगसे कर दे जैसा कि उसको प्रत्यक्ष देखने वाले लोग भी न कर सकें। इतना होनेपर भी उसको उतना स्पष्ट भान नहीं हो पाता, उतना स्पष्ट परिचय नहीं हो पाता जितना कि उस व्यक्तिको होता है जिसने वहाँ जाकर प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया हो। अथवा जैसे स्कूलमें बालकोंको अमेरिका, रूस आदिकका सारा हाल पढ़ा दिया जाता है, वहाँ ऐसी-ऐसी नदियाँ हैं, ऐसे पहाड़ हैं इस इस तरहके विशाल भवन हैं आदि तो चाहे वे बालक वर्णन तो इतना इच्छा कर दें जैसा कि वहाँ जाकर देख आने वाला व्यक्ति भी न कर सके, पर उतना स्पष्ट भान, उतना स्पष्ट परिचय उन्हें नहीं हो पाता जैसा कि वहाँ जाकर प्रत्यक्ष रूपसे देख आये हुए व्यक्तिको होता है। तो बात यहाँ यह कही जा रही थी कि ज्ञानी पुरुषकी अन्तः अभिरुचि कैसी होती है, इसका स्पष्ट परिचय लेना है तो उसके जैसा ही कुछ अपनेको भी बनाना होगा, और भी एक दृष्टान्त देख लीजिए—किसी व्यक्तिका (स्त्रीका अथवा पुरुषका) कोई इष्ट गुजर गया हो तो लोग उसे

बहुत समझाते हैं पर उसका रोना बन्द नहीं होता। बहुत-बहुत समझाकर जब हार जाते हैं तो कहते हैं कि देखो कैसा इसे उस इष्ट व्यक्तिसे राग है कि बहुत-बहुत समझानेपर भी इसकी समझमें नहीं आता। तो इन सब बातोंके होते हुए भी उसको कैसा राग है, इसका स्पष्ट परिचय इन समझाने वालोंको नहीं है। इसका स्पष्ट परिचय तो उसे ही है जिसे इष्टका वियोग हुआ है। तो इसी प्रकार यह ज्ञानी पुरुष क्रिया करके भी उस क्रियामात्रसे उसको अपेक्षा है इसलिए उसे चाहता नहीं है, अतएव सम्यग्दृष्टि पुरुषको साभिलाष नहीं कही जा सकता।

सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोप्यसेवकः ।
नीरागस्य न रागाय कर्माऽकामकृतं यतः ॥२७४॥

सम्यग्दृष्टिकी उपभोगक्रियामें भी असेवकता—अब इस श्लोकमें यह बतला रहे हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव भोगोंको भोगता हुआ भी असेवक है याने उन क्रियाओंमें, पञ्चेन्द्रियके विषयों में क्रिया होकर भी वह भोगोंको सेवता हुआ भी असेवक है। तो सम्यग्दृष्टि पुरुष भोगोंको सेव रहा है, फिर भी उनका सेवक नहीं माना जाता, क्योंकि रागविहीन पुरुषको इच्छाके बिना किया हुआ काम उसके रागके लिए नहीं कहा जा सकता। जिस समय राग नहीं है और उस क्रियाको किसी घटना प्रसंगसे करना पड़ता है तो करके भी उसकी क्रिया उस रागके लिए नहीं बनी हुई है। जैसे विवाहमें गीत गानेके लिए महिलाओंको बुलाया जाता और उनको फिर व्यवहारमें कुछ बतासे भी बाँटे जानेका रिवाज है। तो रिवाजके कारण महिलायें गीत गाती हैं, न कि उस विवाह होने वाले व्यक्तिके रागके कारण। तो उनका वह आना जाना, गाना बजाना आदि रागके लिए नहीं कहा जा सकता। तो जिनकी रागके लिए क्रियायें नहीं हैं वे उन क्रियाओंको करते हुए भी उनके अकर्ता हैं अथवा असेवक हैं। जैसे ही आशय बदलता है वैसे ही उसकी क्रियामें भी अन्तर भीतर पड़ जाता है, और बाहरी क्रिया यद्यपि वैसी ही रहती है। जैसे कोई लड़की शादी योग्य जवान है और उसका पिता उसकी माँ से बात कर रहा हो कि मैंने अमुक जगह लड़का देख लिया है, वह बहुत अच्छे कुलका है। बहुत पढ़ा लिखा है, उसकी इतनी सम्पत्ति है, और शादीकी तिथि भी निश्चित कर दी है, अमुक तिथिको विवाह होगा····। इन सारी बातोंको उस लड़कीने सुन लिया। बस उसका चित्त पलट गया। उसके चित्तमें यही बात बस गई कि बस मेरा तो सब कुछ वहीं है, अब तो मेरा जीवन वहीं पार होगा। यहाँका तो अब कुछ भी मेरा न रहा···। इतनी बात चित्त में समा जानेपर भी वह लड़की जब तक उस घरमें रहती है तब तक वहाँकी क्रियायें ज्योंकी त्यों करती है। अगर वहां कोई नुकसान पहुंचाता हो तो उसको भी बचाती है, उसके माँ बाप को कोई कुछ कह दे तो वह अपने माँ बापको अपना बड़ा अनुराग भी दिखाती है, फिर भी उसके चित्तमें यह बात समायी हुई होती है कि यहाँ मेरा पूरा न पड़ेगा, पूरा तो वहाँ ही

पड़ेगा, वहीं मेरा सब कुछ है। यहाँ मेरा कुछ नहीं है। यों ही समझिये कि जिस व्यक्तिका यह प्रोग्राम बन गया है कि मुझे तो केवल शुद्ध अमूर्त, कर्म शरीर आदिसे रहित मात्र अनन्त चतुष्टय सम्पन्न स्थितिमें अनन्त काल रहता है, वही मेरा वास्तविक घर है, वहाँ ही मेरा पूरा दड़ेगा, यहाँ मेरा पूरा न पड़ेगा। यहाँ कुछ मेरा है ही नहीं। जिसको भीतरमें यह ज्ञान-प्रकाश मिल गया है उसके लिए तो फिर इस संसारमें रहना और इन भोग प्रसंगोंमें रहना उसके लिए सब उपेक्षा भावोंसे होता रहता है। मेरा घर तो वह है, यहाँ मेरा पूरा नहीं पड़नेका। इस जीवकी बात क्या कहें, यह समस्त संसार मात्र हमारा पूरा पाड़ सकने वाला नहीं है। यह जीवन तो कुछ समयका है और फिर यहाँके विकल्पोंमें, यहाँकी ममतासे, यहाँ की अन्य प्रक्रियाओंसे मेरा क्या पूरा पड़ेगा? संसारमें किसी भी बातसे, किसी भी घटनासे मेरा पूरा नहीं पड़ता, मेरा तो प्रोग्राम एक मुक्तिका ही है। किसी भी परद्रव्यका मुझे रंच भी विश्वास नहीं है। तो जिसकी धुन जिसका प्रोग्राम मुक्तिका बन चुका है उसके लिये फिर यहाँके भोगोंकी, विषयोंकी, आरामोंकी, देहोंकी क्या इच्छा हो सकती है? तो इन सब दृष्टान्तों से यह सिद्ध किया गया है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषके इच्छा न होते हुए भी क्रियामात्र देखी जाती है और सम्यग्दृष्टि पुरुषके इच्छा न होते हुए भी क्रियामात्र देखी जाती है और सम्यग्दृष्टि पुरुष के क्रिया होनेपर भी, भोगोपभोग होनेपर भी उनकी वाञ्छा नहीं रहती है। यों वह सम्यग्दृष्टि जीव साभिलाष नहीं होगा।

अस्ति तस्यापि सद्दृष्टे कस्यचित्कर्मचेतना।
अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना ॥२७५॥

किसी किसी सम्यग्दृष्टिके कर्म व फलमें कुछ चेतना होनेपर भी ज्ञानचेतनाकी ही सिद्धि—किसी-किसी सम्यग्दृष्टिके कर्मचेतना, और कर्मफल चेतना भी है, पर वास्तवमें वह ज्ञानचेतना ही है। इस श्लोकमें जघन्य पदमें रहने वाले सम्यग्दृष्टिकी चेतनाके सम्बन्धमें दो बातोंका प्रकाश किया गया है—(१) एक तो यह कि जितने अंशमें सम्यग्दृष्टिकी उपयोग बुद्धि कभी किसी भोगकी ओर होती है, कभी किसी क्रियाकी ओर होती है तो जो उसके करनेकी या क्रियाकी जो भी रति है आखिर रति विषयका उदय भी चलता रहता है और जैसे ५वें छठे गुणस्थानमें विशेष प्रमत्त अवस्थामें उसके कार्यकी जो भी प्रवृत्ति है तो वहाँ थोड़ी बुद्धि भी उस ओर है। इस स्थितिमें उसके कर्मचेतना भी कही जाती है, और भोगोपभोगकी वृत्ति है, प्रतिकार भी सही, प्रतिकार भी वह कर तो रहा है और उसका फल भी कुछ भोगता रहता है, कुछ रमता भी है, रुचि भी है तो कर्मफल चेतना भी है लेकिन दूसरी बात साथमें यह कही जा रही है कि वह वृत्ति एक मिश्रवृत्ति है, केवल कर्मचेतना, कर्मफलचेतना वाली वृत्ति नहीं है। उसके साथ दर्शन मोहका अनुदय होनेसे जो अपने आपके आत्माकी ओर उसका

सम्बन्ध है, उसकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह बात वास्तवमें ज्ञानचेतना ही है। इस सम्यग्दृष्टि जीवके जो भी परिणाम हो रहा है वह एक परिणाम आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा इन चारों का कारण बन रहा है क्योंकि जघन्य पदमें सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा ये चारों ही निरंतर चलते हैं। सम्वर और निर्जरा तो चल ही रहे हैं, साथ ही आस्रव और बंध भी निरन्तर चल रहे हैं। जब प्रतिक्षण ये चल रहे हैं तो एक क्षणमें परिणति तो एक होती है। जो भी पर्याय हुई वही पर्याय चारोंका हेतुभूत बन रहा है किन्तु वहाँ यह विवेक करना होगा कि जो जितने अंशमें राग है उतना राग तो आस्रव बंधका कारण है और जिन अंशोंमें विरागता है, और ज्ञानभाव है वह तो सम्वर निर्जराका कारण है। तो परिणामके होनेपर भी वह परिणाम ऐसी निर्जरा वाला है कि जिसमें यह विवेक करना होता है कि केवल रागका परिणाम नहीं, केवल पूर्ण वैराग्यका परिणाम नहीं, तो उसमें आंशिक ढंगसे दोनों शक्तियां पड़ी हुई हैं। तो इसी तरह चेतनाके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। भले ही वह एक समय का परिणाम है जिसमें भोगमें प्रवृत्ति है और क्रियामें भी प्रवृत्ति है, इतनेपर भी वहाँ सबलता ज्ञान ध्यानकी है, उपेक्षाकी है, उस वृत्तिसे हटे रहनेकी है। अतः आंशिक कर्मचेतना, कर्मफल-चेतना होकर भी वस्तुतः उसके ज्ञानचेतना है।

चेतनायाः फलं बन्धस्तत्फले वाऽथ कर्मणि।
रागाभावान्न बन्धोस्य तस्मात्सा ज्ञानचेतना ॥२७६॥

किसी सम्यग्दृष्टिके कर्म व फलमें कुछ चेतना होनेपर ज्ञानचेतनाकी ही सिद्धि मानने का कारण—उक्त श्लोकमें किसी-किसी सम्यग्दृष्टिके कर्म और कर्मफलके सम्बन्धमें चेतना बताकर भी अपने कर्ममें भी बुद्धि है, फलमें भी बुद्धि है। ऐसा कहकर भी जो उसे वास्तविक ज्ञानचेतना कहा है अर्थात् वहाँ मुख्यता ज्ञानचेतनाकी है और उस मुख्य ज्ञानचेतनाके कालमें कर्म और फलमें जो बुद्धि चलती है वह गौण है, ऐसा जो कथन किया गया और वहाँ ज्ञान-चेतनाका ही समर्थन किया गया उसका यहाँ कारण बताया गया है। उस सम्यग्दृष्टि जीवके कर्ममें और कर्मफलमें जो चेतना चल रही है जघन्य पदके कारण चारित्र मोहके विपाकमें जो कर्म और फलमें बुद्धि चलती है उसका फल तो बन्ध है, इसमें तो कोई सन्देह है नहीं, लेकिन उस सम्यग्दृष्टि जीवके अज्ञानभावका अभाव हो गया है। उस रागमें राग नहो रहा है, उस प्रतिकारमें अभिलाषा नहीं रही है। अभिलाषा उसे कहते हैं जहाँ यह भाव बने कि मुझे आगे भी विषय मिलें, भोग बनें। जिस जीवके ऐसी अभिलाषा जगी है, उसके अभिलाषा कही जाती है। आन्तरिक अभिलाषा वह है जहाँ अन्तरङ्गमें ऐसी बुद्धि बने कि मुझे ये मौजके साधन फिर मिलें, आगे मिलें, मिलते रहें, इस तरहका भाव और वासना बनी हो तो समझना चाहिये कि वह अभिलाषावान है और जिसको कुछ प्रतिकार समयमें भोगोपभोगके समय

में यह अभिलाषा नहीं है, यह रुचि नहीं है कि ये मुझे प्राप्त हों या ये मुझे चाहिएं, उन्हें अहित रूप समझ रहा है, ऐसी कोई आन्तरिक स्थिति है । ऐसी स्थितिमें उसे अभिलाषावान कैसे कहा जा सकता है ? ऐसा कहा जायगा कि उसके राग नहीं है । यहाँ इस तरह निरखिये कि जैसे मान लो सिरदर्द हो रहा है तो सिरदर्द होनेपर आप उसका प्रतिकार तो करते ही हैं, उस दवाको तो चाहते हैं ना, मगर दवाको चाहकर भी, उस सिरदर्दका प्रतिकार चाहकर भी आप उनमें राग नहीं करते । दूसरोंसे भी आप कहते हैं कि भाई हमारा सिर दाब दो, तो मानो कोई सिर दाब भी रहा हो, दवाका प्रयोग भी किया जा रहा हो, उस समय आप कुछ चैन भी अनुभव करते हैं इतनेपर भी आपको उस चैनमें राग नहीं, उस प्रतिकारमें राग नहीं । क्या आप ऐसी अन्तः अभिलाषा है कि दिनभर मेरा इसी तरह इलाज होता रहे, इसी तरह मैं चैन मानता रहूं ? अरे उस सिरदर्दका प्रतिकार करते हुए भी उसमें कुछ उपचार करते समय चैन मानते हुए भी जरा अपने अन्तरङ्गके भावोंको तो पहिचानो । आपको उन किसी चीजोंकी अभिलाषा नहीं है, ठीक इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषकी बाह्य क्रियायें ऐसी दिखती हैं कि वह भोगोपभोगमें भी लग रहा, उनमें कुछ तृप्तसा भी हो रहा, इतनेपर भी उसकी उन सब भोगोपभोगके साधनोंसे अन्तरङ्गसे उपेक्षाभाव रहता है । उनकी वह अभिलाषा नहीं करता, वह तो सदा अपने आपके स्वतत्त्वकी ही धुन रखता है । अतः उसे सांसारिक भोगोंसे अस्ताभिलाष ही कहते हैं, उसकी अन्तः इच्छा इन सांसारिक सुखोंको भोगनेकी नहीं होती है ।

अस्ति ज्ञानं यथा सौख्यमैन्द्रियं चाप्यतीन्द्रियम् ।
आद्यं द्वयमनादेयं समादेयं परं द्वयम् ॥२७७॥

सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतनाकी सिद्धिके प्रकरणमें ग्राह्य व अग्राह्य ज्ञानका वर्णन——अब इसी विषयके स्पष्टीकरणके लिए सुख और ज्ञानके दो प्रकार बताये गए हैं, जिसके वर्णनके बाद यह बात सुगमतया विदित हो जायगी कि सम्यग्दृष्टि जीवको ऐसे अपूर्ण विकास और किसी भी विकारकी वाञ्छा नहीं है । जिस प्रकार ज्ञान दो प्रकारका होता है उसी प्रकार सुख भी दो प्रकारका होता है । ज्ञानके दो भेद हैं—(१) इन्द्रियजन्य ज्ञान और (२) अतीन्द्रिय ज्ञान । जो ज्ञान इन्द्रियके निमित्तसे उत्पन्न होता है अर्थात् इन्द्रियका निमित्त पाकर जो आत्मा अपने आपकी योग्यतासे अपनी ज्ञानपरिणतिको बनाता है वह तो है इन्द्रियज ज्ञान और जो इन्द्रियका निमित्त पाये बिना, अपेक्षा किए बिना स्वयं अपने आप जो अपनी योग्यतासे ज्ञान प्रकट होता है वह होता है अतीन्द्रिय ज्ञान । तो जैसे ज्ञान दो प्रकारके हैं उसी प्रकार सुख भी दो प्रकारके हैं अर्थात् आनन्द गुणके ये दो परिणमन जो दुःखसे विपरीत हैं, दुःखसे अलग हैं वे भी दो तरहके हैं—(१) इन्द्रियज सुख और (२) अतीन्द्रिय सुख । जो सुख मन

से, संकल्पसे उत्पन्न हो उसे तो समझिये इन्द्रियज सुख और जो इन्द्रिय मनकी अपेक्षा किए बिना केवल आत्मीय आनन्द है उसे समझिये अतीन्द्रिय सुख। तो इन दो प्रकारके ज्ञान और सुखोंमें जो इन्द्रियज और अनिन्द्रियज ज्ञान है वे तो ग्राह्य हैं नहीं और जो अतीन्द्रिय ज्ञान है, अतीन्द्रिय आनन्द है वह ग्राह्य है, उपादेय है। इन्द्रियज ज्ञान और इन्द्रियज सुख क्यों आदेय नहीं हैं उसका कारण अब बतलाते हैं।

नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थाद्दुःखमनर्थवत् ॥२७८॥

प्रत्यर्थपरिणामि होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी व्याकुलता, मोहसंपृक्तता, दुःखस्वरूपता व अनर्थकारित।—ज्ञानके सम्बन्धमें बताया जा रहा है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होवे। सहायताका अर्थ है—जितना आलम्बन है, जितना निमित्त है अर्थात् इन्द्रिय और मनकी वृत्तिका निमित्त पाकर जो आत्मामें ज्ञानपरिणति हुई है वह इन्द्रियज ज्ञान प्रत्यर्थ परिणामी है तो क्रम-क्रमसे परिणमन करता है। अब इस अर्थका परिज्ञान हुआ, अब इस अर्थ विषयक विकल्प हुआ, यों पदार्थोंमें प्रत्येक पदार्थके उपयोगपूर्वक उनको विषयमें ला लाकर यह क्रमसे परिणमन करता है। इसी कारण यह व्याकुल है और मोहसे मिला हुआ है, दुःखस्वरूप है और अनर्थको करने वाला है। इस प्रकरणको जो कि कुछ श्लोकों तक चलेगा यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि उस विकारको और उस हीनताका अभेद करके ज्ञान रूपसे वर्णन किया जा रहा है, क्योंकि जो कुछ है वह सब ज्ञान ही तो है। जिस स्वभाव परिणमनमें प्रत्येक परिणमनको हम ज्ञानरूपसे आसानीसे निरख सकते हैं वह ज्ञान ही तो है। आत्मा यदि ज्ञानमें अवस्थित हो गया, जैसा चारित्र होना चाहिये था वैसा हो गया, ज्ञान ज्ञान में अवस्थित हो गया, अब ज्ञानरूपतासे स्थिर हो गया, सम्यग्दर्शन हो गया, श्रद्धान हो गया तो वहाँ हुआ क्या है कि वह जीवादिक श्रद्धान रूपसे तो ज्ञानका ही तो परिणमन हुआ है। जैसे हम स्वभावपरिणमनोंमें सबको ज्ञानरूपमें निरख सकते हैं तो यहाँ भी इस समय इन सुख दुःखोंको, इन सब हीन आचरणोंको, हीन वृत्तियोंको ज्ञानरूपसे बताया जा रहा है। यह ज्ञान अतीन्द्रिय नहीं है, यह ज्ञान स्वाभाविक विकास वाला नहीं है किन्तु मोह सम्व्रत है, व्याकुल है, अनर्थरूप है, दुःखस्वरूप है। इतने जो यहाँ अवगुण आये हैं उनका कारण मूलमें देखा गया है। सो बता रहे हैं कि यह प्रत्येक अर्थसे रुक-रुककर क्रम-क्रमसे विषयको जान रहा है। इस कारणमें वे सब अवस्थायें ध्वनित हो गयीं। रुक रुककर जान रहा है, इसका कारण क्या है? इष्ट विषय साथ लगे हैं, अनिष्ट विषय साथ लगे हैं तो उनको इसी कारण ग्रहण कर रहा है। इस क्रम वाले ज्ञानमें भी बल तो इस ही बुद्धिका, उपयोगका पड़ा हुआ है ना। राग है, द्वैत है, इस कारण ऐसा भी वर्णन है। ऐसा उसका अन्त: उपयोग बना है, विचार तरंग-

मालायें उठ रही हैं कि वहाँ एक साथ ज्ञान सम्भव ही नहीं है। तो प्रत्येक और क्रम-क्रमसे जो यहाँ ज्ञान किया जा रहा है यह वृत्ति भी यह सिद्ध करती है कि यह ज्ञान व्याकुल है अथवा यह जीव व्याकुल है और यह मोहसे मिला हुआ है, दुःखरूप है और अनर्थ स्वरूप है। दुःखरूप क्यों है ? उसका कारण अब इस श्लोकमें बता रहे हैं।

सिद्धं दुखत्वमस्योच्चैर्व्याकुलत्वोपलब्धितः ।
ज्ञातशेषार्थसद्भावे तद्बुभुत्सादिदर्शनात् ।।२७९।।

इन्द्रियज ज्ञानकी दुःखरूपताका मूल कारण ज्ञातशेषार्थविषयिणी बुभुत्सा—इस प्रकरणमें सभी चीजोंका उत्तर एक ज्ञानकी वृत्तियोंके ढंगसे ही बताया जायगा। जिस इन्दियज ज्ञानमें प्रत्येक अर्थको पकड़कर, रुककर, विषय करके क्रमसे जाना है उस ज्ञानमें दुःखपनेकी बात इस कारण आयी है कि वहाँ व्याकुलता पायी जा रही है। व्याकुलता किस ढंगकी पायी जा रही है कि जो जाना उस जाने हुए पदार्थसे जो और पदार्थ बच गए, जो अज्ञात हैं, जिसे जानना नहीं है ऐसे ज्ञानसे बचे हुए शेष समस्त पदार्थ पड़े हुए हैं, उनके सम्बन्धमें भी जानने की इच्छा हो रही है। जहाँ अशेष पदार्थ अज्ञात हैं वहाँ यह इच्छा बनती रहती है कि उसे जानूं। यहाँ इस वृत्तिको सब ज्ञानोंकी ओरसे निरखा जा रहा है। जहाँ इष्टबुद्धि लगी है वहाँ यह ज्ञान अभी काम कर रहा है, उसे जान रहा है, पर वहाँ ठहर तो नहीं पाता, और भी अज्ञात पदार्थ हैं, हमको इच्छा होती है कुछ विषय करनेकी और कुछ समझनेकी। तो जहाँ अशेष अर्थ अज्ञात पड़े हुए हैं उनको जाननेकी उत्कंठा बनी हुई है इस कारण वे अधीर रहते हैं अतएव व्याकुल हैं। इसे सप्रतिपक्ष घटनाको भी दृष्टान्तमें लेकर समझ लीजिये। देखिये—जहाँ प्रत्येक अर्थमें इस तरह ज्ञानका परिणमन नहीं होता, क्रमसे नहीं जानता, रुककर नहीं जानता, किन्तु जो ज्ञान समस्त त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जान रहा है एक साथ स्पष्ट, ऐसे केवलज्ञानमें अब कुछ जाननेको बचा तो नहीं है, कोई चीज अज्ञात तो नहीं है। ऐसी स्थितिमें उस ज्ञानमें अस्थिरता, अधीरता या किसी तरहकी तरंग होनेकी सम्भावना ही क्या है ? सब जान लिया, अब उसे गड़बड़ी लानेकी कहां गुंजाइश है ? यह बात समझकर यहाँ यह बात समझमें आ जायगी कि जो उस शुद्ध ज्ञानसे विपरीत दशा वाला ज्ञान है, प्रत्यर्थ परिणाम ज्ञान है, ये अज्ञात अर्थ बहुत बचे हैं और रागबुद्धि लगी है। दूसरे रागकी ओर भी यह चल रहा है, तो ऐसी स्थितिमें जुगुप्साकी उत्पत्ति होती है, जाननेकी उत्कंठा होती है इस कारणसे दुःख है और व्याकुलता है। विश्लेषण करके तो यह कहा जायगा कि जो रागबुद्धि बनी है उसका कारण व्याकुलता है, मात्र जाननेके कारण व्याकुलता नहीं है। जब कोई विश्लेषण करे तो यह उत्तर किया गया, लेकिन यह पहिले बता दिया गया है कि आत्मा

ज्ञानरूप है और ज्ञानका परिणमन करता है, ऐसे एक अभेदको लेकर और फिर इस विकृत बातको कहा जा रहा है तो इस तरहसे ही ज्ञानमें आयगा कि जो कुछ हो रहा है दुःख सुख व्याकुलता आदि वह सब जाननेका ही प्रताप है तो ऐसी स्थितिमें भी व्याकुलता है और दुःख है, क्योंकि अज्ञात अशेष रूप यों पड़े हुए हैं, उनके सम्बन्धमें जाननेकी इनकी उत्कंठा बनी हुई है।

आस्तां शेषार्थजिज्ञासोरज्ञानाद् व्याकुलं मनः।
उपयोगि सदर्थेषु ज्ञानं वाप्यसुखावहम् ॥२८०॥

इन्द्रियज ज्ञानकी प्रवृत्तिकालमें भी दुःखप्रदता—उक्त श्लोकमें यह बताया गया था कि इन्द्रियजन्य ज्ञान पदार्थको क्रम-क्रमसे जानता है। प्रत्येक पदार्थमें अनुकूल परिणमन करता है अर्थात् पदार्थको यह समझकर कि यह इष्ट है तो वह अपनेमें उस अनुकूल विकल्प करता है और समझता है कि पदार्थ अनिष्ट है तो उस प्रकारका विकल्प करता है तो पदार्थके परिणमनके अनुसार वचनपरिणमन बनाता है यह भी एक दोष है, और इस कारणसे दुःख रूप है। और इस प्रत्यर्थ परिणामिताके प्रसंगसे वह ज्ञान इस कारण भी मूलतः व्याकुल है कि जिस पदार्थको जाना उस पदार्थसे अतिरिक्त जो और पदार्थ बचे उनके जाननेकी उत्कंठा रहती है। इस कारणसे इन्द्रियज ज्ञान दुःखरूप हैं, यह बात उक्त श्लोकमें कही गई थी। इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि शेष ग्रन्थोंमें जिज्ञासा करने वाले जीवके अज्ञानसे मन व्याकुल हो रहा है। इतना ही दोष नहीं है इन्द्रियजन्य ज्ञानमें, किन्तु जिन भोग्य पदार्थोंमें वह उपयुक्त हो रहा है उस विषयमें भी वह ज्ञान दुःखका देने वाला है। इन्द्रियजन्य ज्ञान चूंकि प्रत्यर्थ परिणामी है अर्थात् अर्थके अनुकूल अपनेमें विकल्प बनाये रहने वाला है, इस कारण जब जान रहा है किसी पदार्थको तो उस सम्बन्धमें भी उसे क्लेश है।

ज्ञानमात्र आत्माके ज्ञानकी अस्वभावपरिणतिमें कलुषताओंका प्रतिनिधित्व होनेसे इन्द्रियज ज्ञानके दुःखप्रदत्वका वर्णन—इस प्रसंगमें एक बातकी सावधानी सर्वत्र रखनी है कि जो यहाँ इन्द्रियजन्य ज्ञानको आत्मस्वरूप बताया जा रहा है तो वहाँ चारित्र गुणके विकार अथवा अन्य गुणके विकार इन सबको अभेद करके उस ज्ञानके इस परिणमनको ही सम्मिलित कर दिया गया है। नहीं तो विश्लेषणपूर्वक यह कहा जाता कि ज्ञान तो न सम्यक् है, न मिथ्या है। दुःखका कारण है, उसका काम तो मात्र जानना है, पर चारित्रगुणके विकारमें जो रागद्वेष हुए हैं उनका कार्य है दुःख, पर ऐसे विश्लेषणमें यह बात यों नहीं रखी जा रही है कि तब देखिये—शान्तिमार्गकी आराधनामें हम अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करनेके लिए उद्यम करते हैं और संतोंका भी यह आदेश है कि तुम अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करो। ऐसा

आदेश क्यों है कि गुणभेद करके किसी पृथक् पृथक् गुणका कुछ परिणामन देख करके अनुभव करेंगे तो वह सत्य अनुभव न होगा। वहाँपर भी केवल तृप्तिके लिए, अनुभूतिके लिए यह वर्णन है। पर इस वर्णनसे एक यह मार्ग मिल गया कि हम अपनेको केवल ज्ञानरूपसे अनुभव कर सकते हैं। अब यहाँ शान्तिमार्गके सम्बंधमें भी देखिये—आत्मा तो वस्तुतः एक अखण्ड पदार्थ है। उसमें पृथक्-पृथक् कोई गुण या परिणमन नहीं पड़े हैं। वह एक पदार्थ है और प्रति समय उसका एक-एक परिणामन होता रहता है। तब जो भी परिणामन होता वह एक ही परिणमन है। उसमें नाना परिणमन नहीं हैं। यह तो तीव्र प्रवृत्तिके लिए गुणभेद और परिणमन भेद करके बताया जाता है। अब इस प्रसंगमें भी देखिये—गुणभेद न करें, पर्यायभेद न करें और हो रहा है एक समयमें एक परिणामन, इस मार्गसे भी हम एक परिणमन इस संसरणमें मान रहे हैं तो भी वहाँ दुःख नहीं है। क्या ऐसा अभेद एक परिणामन मान लेने पर दुःख मिट जायगा? यहाँ पर्यायमें तो जो बात पड़ी हुई है वह तो अपना प्रभाव दिखायेगी ही। तो यों यहाँ अन्य बातोंको भिन्न-भिन्न न कहकर एक ज्ञानरूपसे बताया जा रहा है। दूसरी बात यह भी समझमें आयगी कि हाँ बात यह ठीक तो लग ही रही है, हम जितना भी दुःखी हो रहे हैं उसमें बात क्या है? बस यह ज्ञान ही हो रहा है। जहाँ हम सुख भोगते हैं, ज्ञानने उस रूप कल्पनायें किया, उस रूपसे जानने वाला ज्ञान यही तो सुखी हो रहा है। जब दुःखी होता है तो उस ढंगका उस पद्धतिसे जानने वाला ज्ञान वही तो दुःखरूप है। तो यहाँ यह ज्ञान चूँकि अर्थके अनुसार विकल्प बना रहा है इस कारण वहाँ उस कालमें भी दुःख रूप बन रहा है। जैसे कि जब कोई सोच रहा हो कि यह मनुष्य मेरा विरोधी है और मेरी इस बरबादीपर तुला हुआ है और इसके चित्तमें सदा यह बात रहा करती है, कोई भोग हुआ तो उसीको नष्ट कर दें आदिक इतने विकल्प किये किये जा रहे तो क्या किया जा रहा? ज्ञान किया जा रहा उस ढंगसे, तो उस ढंगसे किये जा रहे ज्ञानमें क्या वहाँ क्लेशका अनुभव नहीं हो रहा है? तो जिस समय यह प्रत्यर्थपरिणामी इन्द्रियजन्य ज्ञान अपने विकल्पमें चल रहा है तो वहाँ दुःख भी भोगा जा रहा है। तो इस श्लोकमें यह बताया गया है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान केवल इस कारण ही दुःखरूप नहीं है कि उसमें ज्ञानपदार्थसे अतिरिक्त अन्य पदार्थों की जिज्ञासा बनी हुई है, इस कारणसे वह दुःखी है कि चूँकि अर्थके अनुकूल विकल्प बन रहे हैं अतः तत्काल भी दुःखी है।

प्रमत्तं मोहयुक्तत्वान्निकृष्टं हेतुगौरवात्।
व्युच्छिन्नं क्रमवर्तित्वात् कृच्छ्रं चेहाद्युपक्रमात् ॥२८१॥

प्रमत्तता व निकृष्टता होनेके कारण इन्द्रियज ज्ञानकी दुःखप्रदता—उक्त श्लोकके कथनको ही इस श्लोकमें स्पष्ट किया जा रहा है। वह प्रत्यर्थपरिणामी इन्द्रियजन्य ज्ञान दुःख-

प्रद है। प्रथम कारण यह है कि मोहयुक्त होनेसे वह ज्ञानप्रमत्त बना हुआ है, शान्तिमार्गमें वह सावधान नहीं है अतएव वह प्रमत्त है, क्योंकि वहाँ मोह मिला हुआ है। वह ज्ञानसमूह ज्ञान है। दूसरा दोष यह है कि उस ज्ञानमें हेतु बहुत चाहिये, जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञान कुछ भी किया जा रहा हो, देखा ही जा रहा है तो वहाँ इन्द्रिय निर्दोष चाहिये और इसके भीतरके इन्द्रियावरणका क्षयोपशम भी चाहिए, पदार्थ सम्मुख चाहिये और फिर उस तरहका ख्याल होना चाहिये। याने कितना साधन हुआ करते हैं तब यह ज्ञान प्रवृत्त होता है। तो इतने अधिक हेतुओंसे होता है, हेतुओंके बिना नहीं होता है। इस कारणसे यह ज्ञान निकृष्ट ज्ञान है। देखिये—ज्ञानका स्वभाव स्वतः स्वयं सहज प्रतिभास करते रहनेका है और इस ही में ज्ञानका अनन्त बल, अनन्त प्रभाव और चमत्कार जाना जाता है। जब यह ज्ञान ज्ञानस्वभावको लिए हुए होता है, इसका जाननेका स्वभाव है तो यह स्वयं सहज सर्वको जान जाये, मर्यादा बने इतनेको ही जानेगा, इतनेको नहीं तो यह तो ज्ञानकी निकृष्टता है। जैसे कोई उत्तम कुल वाला पुरुष कुलके विपरीत अभिरुचि वाला काम करे तो लोग उसे धिक्कारते हैं कि अरे इतना बड़ा निकृष्ट काम किया है। तो इसी तरह यहाँ भी देखिये कि ज्ञानका माहात्म्य प्रभाव तो इतना उत्कृष्ट है जैसा कि प्रभु अरहंत और सिद्धमें पाया जा रहा है। भगवान कितने महान् हैं, कैसा उनका विशुद्ध ज्ञान है कि वे तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंको बिना कुछ मर्यादा लिए अमर्यादित रूपसे जान रहा है। तो ऐसा जानना यह तो है इस ज्ञानकी शोभा, शृङ्गार, श्रेष्ठता, चमत्कार आदिकी बात, लेकिन जो ज्ञान इस स्वभावसे गिरा हुआ है और यह ऐसे अनुचित रूपसे जानने लगा है कि इन्द्रियाँ ठीक हों तब जाने, इन्द्रियावरणका क्षयोपशम हो तब जाने, पदार्थ सामने हो तब जाने, इतनेपर भी कोई आँखें खोले तो वह रसका ज्ञान न कर पायगा, इस तरह उसमें नियम भी पड़ा हुआ है। तो इतनी जहाँ कठिनाई है कि हेतु जब सामने हो तभी जान पाये, तो उसके ऐसे जाननेको निकृष्ट बताया गया है। यह प्रत्यर्थ परिणामी इन्द्रियजन्य ज्ञान निकृष्ट है। मूल प्रसंग यह चल रहा है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषको इन्द्रियविषयोंमें अभिलाषा नहीं है, उसी प्रसंगमें बताया जा रहा है कि कौन ज्ञान ग्राह्य है और कौन ज्ञान अग्राह्य है? इसका सम्बन्ध इससे यों मिल जायगा कि ज्ञानी जीवकी धुनमें यह बात है कि यह ज्ञान तो ग्राह्य ही नहीं है जिसके द्वारा हम विषयोंमें प्रवृत्ति कर रहे हैं। तो जहाँ ऐसे उस ज्ञानकी ग्राह्यता ही कोई मिटा देवे तो फिर विषयोंमें अभिलाषा ही क्या होगी? यह है उसका मूल पौरुष। इसी हेतुसे यहाँ ग्राह्य और अग्राह्य ज्ञानकी बात चल रही है। तो यह ज्ञान जो कि इन्द्रिय द्वारा जाना जा रहा है, प्रत्यर्थ परिणामी हो रहा है यह तो इसकी निकृष्ट दशा है। भला इस जानकारीसे भी जिसको उपेक्षा हो रही हो उसे विषयोंका अभिलाषी कैसे कहा जायगा? यों तो लोग अपने-अपनेको सम्यग्दृष्टि कहने वाले लोग खुलकर

मौजमें भी रहते हैं और यह बहाना भी बताते हैं कि चारित्र मोहका उदय है इसलिए हम इन भोगसाधनोंका त्याग नहीं कर पाते हैं और हमारा भीतरी श्रद्धान तो वैसा ही है, जैसे कि अरहंत सिद्धका है, यों इन बातोंका दुरुपयोग किया जा सकता है, पर यहाँ अन्तरङ्गमें देखो कि सम्यग्दृष्टिके कितनी अधिक विशुद्धि है कि वह जानकारी सब रखता है लेकिन उस जानकारीके करते हुए उससे अपना महत्त्व नहीं समझता है।

व्युच्छिन्नता और कृच्छ्रता होनेके कारण इन्द्रियज ज्ञानकी दुःखप्रदता—अज्ञानी मोही लोग कुछ थोड़ासा ज्ञान पाकर भी बड़ा मद किया करते हैं पर ज्ञानी पुरुष जानता है कि अरे यह तो इन्द्रियजन्य ज्ञान है, छुटपुट ज्ञान है, क्रमवर्ती ज्ञान है अतएव यह मिट जाने वाला है। जिस पदार्थकी जो जानकारी बन रही है वह कितनी देर ठहरेगी ? वह तो मिट जायगी, फिर दूसरी जानकारी होगी। तो जो ज्ञान मिट जायगा उस ज्ञानमें क्या ग्राह्यता अथवा उस मिट जाने वाले ज्ञानके बलपर जो कुछ विषयभोग उपभोग विकल्प प्रवृत्ति बन रही है वह प्रवृत्ति क्या ग्राह्य होगी ? तो यह इन्द्रियजन्य ज्ञान क्रमवर्ती होनेके कारण मिट जाने वाला है, इस कारण यह ज्ञान दुःखरूप है। यहाँ यह बात भी ध्यानमें लाने योग्य है कि यद्यपि प्रभु का भी ज्ञान चूंकि पर्याय रूप है ही, जानन हो रहा, वृत्ति चल रही, इस कारणसे वह भी प्रतिक्षण नवीन-नवीन होता है किन्तु उसे विच्छुन्न नहीं कहते हैं, क्योंकि जिस रूप वह जान रहा है उस रूप जाननेकी धारा चल रही है, इस कारण उसे नष्ट होने वाला नहीं कहा गया है। जिसकी वह जानकारी ही न रहे, भिन्न-भिन्न जानकारी होकर ऐसे ज्ञानमें विच्छुन्न शब्द का यहाँ प्रयोग करना चाहिये। तो यह इन्द्रियज्ञान क्रमवर्ती है इस कारण विच्छुन्न है, तो प्रकट है कि दुःखप्रद है। इन तीन कारणोंके अतिरिक्त चौथा कारण यह है कि ये ईहा आदिक उपक्रमसे उत्पन्न होते हैं, इस कारणसे ये कृच्छ्र हैं, कठिन हैं। अकेला किसी पदार्थको हमें निश्चय करता है तो पहिले दर्शन होना चाहिए, बादमें अवग्रह, ईहा, अवाय हो, निर्णय यहाँ होता है। यद्यपि पदार्थ यही अवग्रहमें जाना गया, किन्तु अवग्रहमें विशेषका कुछ आभास नहीं है, और ईहा जाना गया, विशेष जाना गया, पर वह जाना गया इस आधारपद्धतिसे कि यह होना चाहिये। यह है इस तरहका एक निश्चय और एकाकार बिना समझा गया है और अवायमें उसका निश्चय हुआ है और धारणामें तो इतना तीव्र निश्चय संस्कार पड़ा है कि वह समय-समयपर याद कर लेता है। तो देखिये—पदार्थका निश्चय करनेके लिए कितने रूप पद्धतियोंमें से गुजरना पड़ा ? तो जहाँ ईहा आदिक मुक्त ज्ञानोंका, प्रयत्नोंका अपाय हुआ, ऐसा उत्पन्न होने वाला ज्ञान तो बड़ा कठिन बन रहा है। जब कि उस शुद्धज्ञान, केवलज्ञान, प्रभु का ज्ञान, एक यह काम करनेके लिए क्या कठिनाई है ? वह तो सहज हो रहा है, सुन्दर हो रहा है और सर्व परिज्ञान हो रहा है।

परोक्षं तत्परायत्तादाक्ष्यमक्षसमुद्भवात् ।
सदोषं संशयादीनां दोषाणां तत्र संभवात् ।।२८२।।

परोक्ष, आक्ष्य, संशयादि दोषमय इन्द्रियजज्ञानकी अनादेयता—इन्द्रियजन्य ज्ञान ग्राह्य नहीं है। क्यों ग्राह्य नहीं है उसका कारण बताया जा रहा है—प्रथम कारण यह कहा जा रहा है कि वह दुःखरूप है, क्यों दुःखरूप है ? इसके हेतुमें बताया गया है कि चूंकि उसमें अज्ञात पदार्थकी जिज्ञासा बनी रहती है, और इतना ही नहीं, किन्तु वह ज्ञान तत्काल भी दुःखप्रद हो रहा है, क्यों दुःखप्रद हो रहा है, उसके विवरणमें उक्त श्लोकमें यह कहा गया कि चूंकि वह ज्ञानप्रमत्त है, निकृष्ट है, विच्छिन्न है और कृच्छ है इस कारण दुःखप्रद भी है। अब और भी बात इसी प्रसंगमें बता रहे हैं कि वह ज्ञान पराधीन है इस कारणसे परोक्ष है। ज्ञानमें परोक्षताका होना एक दोष है और वह दुःखप्रदताका हेतु है। वह इन्द्रियजन्य ज्ञान पराधीन है। अब इन्द्रियाँ ठीक हों, पदार्थ सामने हो तब तो यह ज्ञान कर पाये, नहीं तो न कर पाये, और फिर नियमित विषयका ही ख्याल किया जा रहा हो तब यह ज्ञान हुआ करता है, और आत्मा तो सभी समान हैं स्वभावदृष्टिसे, क्योंकि चेतना सर्वत्र वही है। चाहे एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय जीव हो, चाहे पञ्चेन्द्रिय जीव हो, चाहे सिद्धप्रभु हो, जब इस आत्माके सर्व स्वरूपको निरखा जाता है तो जातिकी अपेक्षा सभी जीव समान हैं, फिर देखो—कितना अनर्थ हो रहा है कि यह एकेन्द्रिय जीव रसका ज्ञान नहीं कर सकता। जहां हम आप सब लोग इतना बड़ा साहित्य रचते हैं, बोलते हैं और बड़े ढंगसे अलंकारोंके साथ अनेक वर्णन करते हैं और कैसा साफ और शौकसे अपने आरामके साधन बनाते हैं, कितना परिज्ञान चल रहा है, किन्तु इस एकेन्द्रिय जीवके तो इस प्रकारका कुछ भी ज्ञान नहीं है। क्या करें बेचारे वे एकेन्द्रिय जीव ? वहां कितनी पराधीनता है कि इन्द्रियकी अपेक्षा बिना वह ज्ञान उन जीवोंमें प्रकट नहीं हो पा रहा है। एक पराधीनता ऐसी है कि चलो परपदार्थ जुट गए, मिल गए, तो चलो पराधीन बन गए, किन्तु वहां तो इतनी पराधीनता है कि उस भवमें सम्भव ही नहीं है कि वे कुछ रस, गंध अथवा अन्य किसी चीजका कोई परिचय पा सकें। तो ऐसे पराधीन होनेके कारण यह ज्ञान परोक्ष ज्ञान है, और भी देख लीजिए—जिसका परोक्षज्ञान विशेष बढ़ा चढ़ा है, श्रुतज्ञान विशेष है तो हो ले विशेष और उस श्रुतज्ञानके द्वारा सामान्यतया सभी पदार्थोंका बोध भी हो रहा है, इतना सब कुछ होनेपर भी यदि कोई महाश्रुतज्ञानी जीव सन्तुष्ट है तो वह कहीं इस परोक्षज्ञानके कारण सन्तुष्ट नहीं है, किन्तु उसके दर्शन मोहनीयका अनुदय है अतएव आत्मदर्शन है और उस ही में वह तृप्त हो रहा है, और ऐसे उस आत्मानुभवमें कुछ कैद भी नहीं बन सकती है, पर परोक्षज्ञानके नातेसे कितना भी विशाल ज्ञान हो रहा हो तब भी वहां दुःख का अभाव नहीं है। तो इन्द्रियजन्य ज्ञान, मानसिक ज्ञान यह ज्ञान पराधीन है, इस कारणसे

यह ज्ञान परोक्षज्ञान कहलाता है, और भी दोष देखिये—इन्द्रियजन्य ज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है इस कारण यह इन्द्रियज कहलाता है और परोक्षज्ञान कहलाता है, यह तो है ही, किन्तु और भी दोष देखिये—इन परोक्ष ज्ञानोंमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय दोष सम्भव हैं, इस कारण परोक्षज्ञान सदोष ज्ञान हुआ। अवधिज्ञानसे और मनःपर्ययज्ञानसे जो जाना, केवलज्ञानसे जो जाना वहां संशय, विपर्यय और अनध्यवसायका अवकाश नहीं है। जैसे सुसम्वेदन प्रत्यक्षसे जिसने आत्मानुभव किया है तो प्रत्यक्षके समय वहां संशय, विपर्यय, अनध्यवसायका अवकाश नहीं है। इसी प्रकार सभी प्रत्यक्ष ज्ञानोंमें इस दोषका अवकाश नहीं है। यह दोष आता है तो इस परोक्षज्ञानमें ही। ज्ञान है तो इस दोषके सद्भाव होनेसे यह परोक्षज्ञान सदोष कहलाता है। इस तरह इन इन्द्रियजन्य ज्ञानोंमें जिनमें इतने अधिक दोष हैं वे ज्ञान ग्राह्य कैसे हो सकते और जब ये ज्ञान ग्राह्य न हुए तो ज्ञानके विषयभूत पदार्थोंका भोगोपभोग सम्यग्दृष्टि जीवके आगे कैसे हो सकता है?

विरुद्धं बन्धहेतुत्वाद्बन्धकार्याच्च कर्मजम्।
अश्रेयोऽनात्मधर्मत्वात् कालुष्यादशुचिः स्वतः॥२८३॥

विरुद्ध होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी अग्राह्यता—इन्द्रियज ज्ञानमें अर्थात् ५ इन्द्रिय और मनके निमित्तसे निष्पन्न हुए क्या-क्या दोष हैं, इसका वर्णन चल रहा है। यह इन्द्रियज ज्ञान पराधीन है अर्थात् आत्माके बन्धका कारण है, कार्माणवर्गणामें बन्धरहित विकाररहित एक निज ज्ञानस्वभावके सहज विकासमें बना रहता है और इस ही कारण निरन्तर शुद्ध आनन्दमय रहता है। तो वहां तो इसका ऐसा श्रेष्ठ शील और उसके विरुद्ध बात बनती है। भावबन्ध द्रव्यबन्ध जन्म मरण, आकुलतायें, तो इन बन्धनोंके कारणभूत होनेसे ये इन्द्रियज ज्ञान विरुद्ध है। यहां इन्द्रिय ज्ञानकी अगाह्यता बतलायी जा रही है। यह इन्द्रिय ज्ञान विरुद्ध होनेके कारण अनादेय है। भला जिस इन्द्रिय ज्ञानके कारण इतने संकट हो रहे हों वह आदेय कैसे हो सकता है? इस प्रकरणमें सर्व विकारोंको, इन इन्द्रियज ज्ञानको विरुद्ध ज्ञानमें निहित कर दिया गया है और इस कारणसे जो कुछ भी अविरुद्ध बताया जा रहा है और जो कुछ दुःखकी आकुलताका कारण बताया जा रहा है वह सब इन्द्रियज्ञान है, और वैसे ही सोचो तो किसी भी पापमें प्रवृत्ति होना, किसी भी आकुलनामें वृत्ति होना, यह सब इस ज्ञानपर ही तो निर्भर है। सर्वप्रथम जीवका यही तो यत्न हुआ। साथ भी विकार हैं लेकिन विकारोंको चेतने वाला, अनुभवने वाला अथवा समझने वाला यह ज्ञान है। तो यों कहना चाहिये कि एक साथ होते हैं यद्यपि ज्ञान और विकार, फिर भी चूंकि ज्ञानचेतना है इसलिए प्रथम स्फुरणा ज्ञानकी समझी जायगी। जब जीवने इन्द्रियजज्ञान किया तो उसके बलपर ये सब बन्धन आ पड़े हैं। तब ही तो बन्धरहित आत्मस्वभावकी अनुभूतिके समय इन्द्रियज ज्ञान नहीं रहता, मानसिक

ज्ञान भी नहीं रहता है। यद्यपि ज्ञानानुभूति करनेके योग्य जो श्रेष्ठ ज्ञान है वह मनसे हो रहा है पर होते-होते जहाँ ज्ञानका साक्षात् अनुभव होता है, वहाँ यह भावमनमें सहज ज्ञानविकासके रूपमें परिणाम कर स्वयं ज्ञानरूप हो जाता है, फिर वहाँ मन जैसी बात नहीं लगती। तो इससे भी यह सिद्ध है कि इन्द्रियज ज्ञान ही इन सब अनर्थोंका मूल कारण है। यों यह इन्द्रियज्ञान बन्धहेतु होनेसे विरुद्ध है।

कर्मज होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी अग्राह्यता—अब इन्द्रियज ज्ञानका अन्य भी दोष बतला रहे हैं कि यह इन्द्रियज्ञान कर्मज है, क्योंकि यह बंधका कार्यभूत है। जब उस उस प्रकारके कर्मोंका विपाक अथवा क्षयोपशम होता है तो ऐसी स्थितिमें यह इन्द्रियज ज्ञान हुआ करता है। जब तक इसके साथ मोहनीय कर्मका उदय रहता है, उस प्रकारका यथासम्भव विशिष्ट जब यह इन्द्रियज ज्ञान बनता है, इन्द्रियज्ञान होनेमें केवल यह बात नहीं कि इन्द्रियसे ही सब काम चल रहे हों पर ऐसा इन्द्रियजज्ञान होनेमें रागद्वेष मोह कषाय प्रमाद और कर्मके उस-उस प्रकारके क्षयोपशम उदय सभीके सभी हो रहे हैं तब यह इन्द्रियजज्ञान हो रहा है, जिसकी कल्पना करो कि कर्म नहीं है अथवा मोहनीय कर्म नहीं है तो इन्द्रियजज्ञान तो नहीं हुआ। यह चर्चा इन्द्रियज्ञानकी चल रही है, ये सब उन कर्मविपाक क्षयोपशम आदिकके होने पर होते हैं तो ये कर्म बँध उनका यह कार्य हुआ इन्द्रियजज्ञान, इस कारणसे इन्द्रियजज्ञान कर्मज है।

अश्रेयोमय होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी अग्राह्यता—इन्द्रियजज्ञानके अन्य भी दोष बतला रहे हैं कि ये इन्द्रियजज्ञान अश्रेय हैं, अकल्याण हैं, क्योंकि ये आत्माके धर्म नहीं हैं, मुझ आत्माका धर्मभूत ज्ञान तो वह ज्ञान है जिसमें न कर्मके क्षयोपशम उदयकी अपेक्षा होती, जिसमें न परकी अपेक्षा होती, न किसी परपदार्थकी अपेक्षा होती, वह स्वयं ही अपने आपके श्रेयसे उत्पन्न हो रहा हो ऐसा ज्ञान तो श्रेयोमय है, पर इसके विरुद्ध जो ज्ञान हो रहे हैं पराश्रयज वे सब अश्रेयरूप हैं, मेरे लिए अकल्याणरूप है। भला इससे बढ़कर और संकट क्या कहा जायगा कि इन्द्रियजज्ञानके प्रतापसे यहाँ परपदार्थोंमें ऐसा परिचय बना हुआ है, यों समझ रहा है कि ये इस प्रकारके हैं, ये मेरे हैं, इनकी यह पोजीशन है, ये मेरे लिए मित्र हैं आदिक रूपसे जो विकल्प चल रहे हैं ये विकल्प इस इन्द्रियज्ञानके बलपर ही तो चल रहे हैं, तो सारे संकट इसीसे तो आ गए। मान लो किसी बाह्यपदार्थमें कुछ परिचय न हो, दुनिया है, जो जहाँ है सो है, जिसका जो परिणमन है सो है, मेरा बाहरमें कोई प्रभु नहीं है, मैं किसको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करूँ और किससे विरोध रखनेकी भावना रखूं ? ये दोनों ही रागद्वेष मेरे आत्माको मथ देते हैं, ये भाव मुझे न चाहियें। तो जहाँ बाह्यपदार्थोंमें कोई विकल्प न रखा जाय और केवल एक ज्ञानस्वरूप आत्माका ही अनुभव किया जाय तो इस

स्थितिमें वहाँ कल्याणमय ही स्थिति पायेंगे, शुद्ध सहज आनन्द ही पायेंगे। जिसे कहते हैं गोरखधंधा अथवा जिसे कहेंगे कि स्वयं चाह-चाहकर फंस जाना, वह सब इस इन्द्रियज्ञानके बलपर ही हो रहा है। जैसे गोरखधंधेमें कोई छल्ले एक दूसरेसे इस तरहसे फंसे हुए होते हैं कि अगर उनमेंसे किसी उलझे हुए छल्लेको सुलझाने लगें तो वह और भी उलझता जाता है, यों ज्यों-ज्यों हम सुलझानेकी कोशिश करेंगे त्यों-त्यों वे और भी उलझते जायेंगे। ठीक ऐसी ही बात इन इन्द्रियज ज्ञानोंकी समझें। इन इन्द्रियजन्य ज्ञानोंसे ज्यों-ज्यों हम परपदार्थोंका ज्ञान बढ़ाते हैं, मेरी ऐसी परिणति बने, मेरा ऐसा आख्यान हो, यों किसी भी प्रकारका चिन्तन चले तो फिर हमपर संकटोंका बोझ और भी लदता चला जाता है। जैसे बहुतसे लोग सोचते हैं कि जब हमारे पास धन वैभव कम था तब हम बहुत कुछ सुखी थे, पर ज्यों-ज्यों यह धन वैभव बढ़ता गया इन इन्द्रियजन्य ज्ञानोंके बलसे त्यों-त्यों ही हम और भी हैरानीमें पड़ते गए। इसी तरह इन लौकिक ज्ञानोंकी बात है। कोई कितनी ही विद्या पढ़ ले, मान लो आचार्य हो गया तो वह भी अपनेको और भी अधिक झंझटमें परेशानीमें पड़ा हुआ अपनेको मानता है। सोचता है कि अरे इससे तो अच्छे हम छोटे विद्यार्थीकी अवस्थामें थे, वहाँ ये कोई झंझटें सामने न थीं, चैनसे रहते थे, पर ज्यों-ज्यों ही विद्या अधिक मिलती गई त्यों-त्यों ही अशान्ति बढ़ती गई। तो देखिये—वहाँ लौकिक ज्ञानमें अधिक बढ़ जानेके कारण उलझनें नहीं बढ़ीं, किन्तु इन इन्द्रियोंके बलसे जो अपने बारेमें एक विशिष्ट परिचय बनाया और दूसरोंके प्रति अविशिष्टताका जो सम्बंध बना डालते हैं, ऐसी जो भीतरमें सम्बंधकी बात बनी वह हैरान कर रही है। वस्तुतः कोई बाहरी पदार्थ किसीको हैरान करता हो ऐसी बात नहीं है। अपना जो स्वाभाविक ज्ञान है, अपने ही आश्रयसे निष्पन्न होने वाला जो ज्ञान है वह ज्ञान न रहे और ये जो निकृष्ट इन्द्रियज्ञान चल रहे हैं और जिनको हम पकड़ते हैं, जिनके आधारपर ही हम अपना सब निर्णय बनाते हैं, चाहे वहां किसी दूसरेका अपमान भी होता हो, बरबादी भी होती हो, किसीका कुछ हो, लेकिन वहां मेरे ही भावके अनुकूल बात होनी चाहिए—यह क्या है? यह इन्द्रियज्ञानका ही आग्रह है, विकल्प है, पर ये ग्रन्थकार तो यहां कह रहे हैं कि यह इन्द्रियज्ञान अग्राह्य है, ग्रहण करने योग्य नहीं है। यहां तो यह देखना चाहिए कि जब जब मेरेमें कोई आग्रह आयें तो जान जानकर उनको तोड़ें मरोड़ें और उनके विपरीत हम अधिक नम्र बननेका यत्न करेंगे तब तो उन संकटोंपर हम विजय नहीं पा सकते हैं। तो यह इन्द्रियज ज्ञान अनात्म धर्म है, इस कारणसे यह अकल्याणरूप है। यह इन्द्रियजज्ञान अग्राह्य बताया जा रहा है और अग्राह्यताका हेतु बताया जा रहा है।

अशुचि होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी अग्राह्यता—यह इन्द्रियज्ञान अपवित्र है, क्योंकि इसमें कलुषतायें हैं, इन्द्रियज्ञानके साथ कितने दुराशय लिए हैं, कितने विकार चल रहे हैं, कैसी

उल्टी कल्पनायें चल रही हैं, कहाँ बस रहे हैं ? मेरे आत्माका आनन्दधाम जो निज सहज भाव है उस सहजस्वभावको त्यागकर हम कितना दूर पहुंच गए हैं ? यहाँ दूरका अर्थ यह है कि आत्माके स्वरूप और स्वभावसे अलग यदि एक प्रदेशमात्र भी दूर हुए तो वह अत्यन्त दूर ही कहलाता है । चाहे हम ज्ञानके द्वारा बड़ी दूर कलकत्ता, बम्बई आदिककी बातोंमें ज्ञानको ले जायें तो यह भी उतना ही दूर है और चाहे यहाँ कुछ शरीरके शृङ्गार करनेमें उसे निरख निरखकर खुश होनेमें अपने ज्ञानको लगायें तो यह भी इतनी ही दूर है । आत्मस्वभावसे बाहर किसी भी परपदार्थमें बुद्धिका लगना, यही आत्मासे अत्यन्त दूर निकल जाना है । तो ऐसा बाहर जाता हुआ यह ज्ञान, इन बाहरी पदार्थोंमें अपना हित ज्ञान, आनंद, सुख, मौज ढूंढ़ रहा हुआ ज्ञान, यह देखो कितना गंदा बन रहा है ? स्वच्छता तो इसमें ऐसी है कि स्वयं ही इसमें सहज आनन्द जगे, लेकिन इसने कलुषता ऐसी बना रखी है कि यह अपवित्र बन गया है । जो सारी अपवित्रताकी जड़ हो वही तो अपवित्र है । जैसे यहाँ लोकमें ऐसी बात पायी जाती है कि अगर कोई बालकका पैर विष्टासे भिड़ जाय तो कोई उसको छूता नहीं, और अगर कोई दूसरा उसको छू ले तो उसको भी नहीं छूते । अब बताओ अगर उस दूसरेको नहीं छूते, तब तो फिर तीसरे, चौथे आदि सो भी लोग उसके स्पर्शमें आ जायें तो उन्हें भी न छूना चाहिए, और अगर उनको छूना चाहिये तब तो फिर उस दूसरे व्यक्तिको भी छूना चाहिये । अब देखिये—जैसे अस्पर्श्य तो केवल एक लड़का था पर उसके शरीरसे दूसरोंका स्पर्श हो जानेसे वे भी अस्पर्श्य हो गए, इसी प्रकार ये मोही मिथ्यादृष्टि लोग, ये खून, पीप, मल, मूत्र, कफ, थूक, खकार आदि अपवित्र चीजोंसे भरे हुए कलेवर वाले जीव स्वयं स्वरूपदृष्टिसे अपवित्र तो न थे, स्वरूप तो उनका पवित्रताका ही था, पर इन पौद्गलिक परपदार्थोंके सम्पर्कसे यह उनमें अपनत्वकी बुद्धि करके मलिन बन गया । इस जीवने यदि इन पौद्गलिक स्कंधोंका, (कार्माणवर्गणाओंका) ग्रहण (सम्बंध) न किया होता तो इसमें गंदगी (अपवित्रता) आनेका कोई काम ही न था । पर इस जीवने इनको ग्रहण किया, इनसे अपना सम्बंध बनाया, इनमें अपनी रुचि बनायी इसलिए यह अपवित्र बन गया । तो मूलमें ये पौद्गलिक वर्गणायें अपवित्र थीं लेकिन हुआ क्या कि किसीने छू लिया इसलिए कितना गंदा हो गया ? इन्हें किसने छुवा ? जीवने, इसलिए यह जीव भी गंदा हो गया, अपवित्र हो गया । अरे जीव स्वरूपदृष्टिसे तो पावन है, सर्व परद्रव्योंमें यही सारभूत तत्त्व है । सब जीवोंकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु जो इन्द्रियज ज्ञान वाले जीव हैं ऐसे जीवोंने इन वर्गणाओंको छू लिया, इसलिये ये दुर्गतिके पात्र बन गए । जब कभी यह बात ध्यानमें आती है कि मूलमें अस्पर्श्य चीज क्या है ? तो पता पड़ता है कि मूलमें अस्पर्श्य चीज है इन्द्रियजज्ञान । तो इस प्रकारकी अशुचिताके कारण, कलुषताके कारण यह ज्ञान अपवित्र है, यह कैसे ग्राह्य हो सकता है ?

मूर्छितं यदपस्मारवेगवर्धमानतः ।
क्षणं वा हीयमानत्वात् क्षणं यावददर्शनात् ॥२८४॥

मूर्च्छित होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी अग्राह्यता—यह इन्द्रियज ज्ञान मिरगी रोगकी तरह क्षणभरमें बढ़ता है और क्षणभरमें ही घटता है । कभी मूर्छित हो जाता, कभी उल्टा बनता, इस तरहसे यह इन्द्रियज ज्ञान तो मूर्छित है । जैसे जिसके मिरगीका रोग हो जाता है तो ऐसा पुरुष असाध्यरोग वाला कहलाता है, और प्रायः करके देखा गया है कि जिसके यह मिरगीका रोग बढ़ गया है वह अन्तमें किसी बड़ी घटनामें मृत्युको प्राप्त होता है । जलमें डूबकर मरा हो, कहींसे गिरकर मरा हो, हाथ पैर टूटकर गुजरा हो, यों बड़ी विचित्र स्थिति हो जाती है और उसके वेगकी स्थिति देखो—पड़ जाता है, दाँत कड़कड़ाता है, मुखसे राल बहती है····। जिसकी हालत देखकर लोग शोकमग्न हो जाते हैं । जैसे वहाँ ज्ञान घट रहा है, उसका ज्ञान बेहोश है, उसकी बुद्धि गुम्फित हो जाती है, जब मिरगी रोगका वेग न हो तब भी वह स्वस्थ नहीं रह पाता है, उसका वेग बढ़ता है, घटता है, मूर्छित होता है । इसी प्रकार यह इन्द्रियजज्ञान कभी घट गया, कभी बढ़ गया, यह आत्मा जब कभी क्रोधका वेग आता है तो इसके ज्ञानकी क्या हालत हो जाती है ? बुद्धि काम नहीं करती है, और कभी कुछसे कुछ बक जाता है और जिसका चेहरा विकृत हो जाता है । तो कषायका जब वेग होता है तो यह क्या है ? इन्द्रिय ज्ञानका ही वेग है । यह सर्व विकारोंका प्रतिनिधि बनकर ज्ञानका नाच रंग बताया जा रहा है कि इस इन्द्रियज्ञानमें क्या-क्या दोष आते हैं ? जब क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें हों तो यह बुद्धि भी बिगड़ जाती है । अपने आपकी इज्जत रखना और दूसरोंको तुच्छ मानना, क्या है, कुछ भी नहीं है । यद्यपि ऐसी प्रवृत्तिमें इसकी ही खोट जाहिर होती है, इसका ही नीचापन लोगोंको विदित होता है, पर इसकी उसे खबर नहीं रहती । उससे बढ़कर मूर्छा क्या कही जाय ? मूर्छित लोग यों ही नालीमें गिर पड़ते हैं, पानीमें गिर पड़ते हैं, किन्तु उनकी मूर्छित क्रियामें उन्हें अपनी बरबादीकी भी सुध नहीं है । ऐसे ही समझिये कि जब इन्द्रियज ज्ञानमें अपने आपकी बरबादीकी भी सुध नहीं रहती तो इससे बढ़कर मूर्छा क्या कही जायगी ? यह इन्द्रियज ज्ञान मूर्छित है । जिस समय जीव मायाचारमें परिणत होता है तो मायाचारके वश होकर समझ रहा है कि मैं दूसरोंको उल्लू बना रहा हूं, मैं अपना बहुत बड़ा काम कर रहा हूं, लेकिन भीतरमें यह स्वयं उल्लू बन रहा है, यह स्वयं मूढ़ बन रहा है, अपने आपको बरबाद कर रहा है । तो इन्द्रियज्ञानके समय अपने आपकी बरबादीका ध्यान नहीं रहता । इसके अतिरिक्त और मूर्छा क्या कही जायगी ? इसी तरह लोभ कषायके वेगमें भी इस जीवकी विचित्र हालत हो जाती है । क्यासे क्या नहीं यह कर डालता है ? इस स्थिति

में बड़ी बरबादी हो रही है इस जीवकी, लेकिन उस बरबादीकी सुध भी यह कैसे कर सके ? इस इन्द्रियज ज्ञानके कारण इसके मूर्छाका बड़ा वेग आया हुआ है । यह इन्द्रियज ज्ञान उस तरहसे घटता और बढ़ता है जिस तरहसे मिरगी रोग वालेका रोग घटता और बढ़ता है । अतः यह इन्द्रियजज्ञान मूर्छित है, बेहोश है, अपने आपके स्वामीकी सुध नहीं रख सकता है । इन सबका स्वामी यह मैं मूलमें आत्मा ही हूँ, लेकिन इसने अपना स्वामित्व बिगाड़ दिया है, इस इन्द्रियज ज्ञानने तो इस आत्माकी स्वच्छताको खत्म कर दिया है । मत हो यह इंद्रियज ज्ञान, ऐसी भावना बने, मनकी प्रवृत्तिको रोकें, इंद्रियोंकी प्रवृत्तिको रोकें । इन प्रवृत्तियोंसे, इन श्रमोंके कारण यह जीव अनादिकालसे लेकर अब तक पिसता चला आया है । किसी भी क्षण इसने विश्राम नहीं पाया । चतुर्गतियोंमें इसका परिभ्रमण ही चलता रहा । जब यह जीव विग्रहगतिमें गया तो यद्यपि वहाँ द्रव्यइन्द्रियाँ नहीं हैं, मगर वहाँ जो अब द्रव्येन्द्रियोंका क्षयोपशम बना है या आगे जिस गतिमें जायगा उसके अनुकूल जो कुछ उदय बना है उन सबके कारण यहाँ भीतरमें एक सुलगती हुई आगकी तरह इसका संस्कार बना रहता है । वहाँ भी तो इसे चैन न मिली । जब यह शरीर न रहा, अगला शरीर भी नहीं मिला उस बीच भी चैन न मिला । ऐसा यह इन्द्रियजज्ञान कितना मूर्छित है, यह आत्माको बेहोशीमें लाने वाला है, ऐसा जानकर कि मूर्छित निकृष्ट और कितने कितने ही दोष बताये गए हैं, इन सब दोषोंका स्मरण करके यह भाव रखना चाहिये कि मुझे इस इन्द्रियजज्ञानसे छुट्टी मिले और वर्तमानमें भी इन इन्द्रियज ज्ञानोंसे अपना कोई हित न समझना, इनसे मेरा हटाव अब भी बना रहे, ऐसी भावना रखनी चाहिए और इन्द्रियज ज्ञानके बलपर जो बाहरी परिचय हुआ करते हैं उन परिचयोंकी भी समाप्ति करनेका अपनेमें ज्ञान पौरुष द्वारा कोशिश होनी चाहिये ।

अत्राणं प्रयत्नीकस्य क्षणं शान्तस्य कर्मणः ।
जीवदवस्थातोऽवश्यमेष्यतः खरसंस्थितेः ॥२८५॥

इन्द्रियज ज्ञानकी कर्मविपाकसे अत्राणता होनेके कारण अग्राह्यता—इन्द्रियज ज्ञानमें क्या-क्या अवगुण हैं और किन कारणोंसे अग्राह्य हैं, इसके वर्णनके प्रसंगमें यहाँ इन्द्रियज ज्ञान को एक देश यह बताया जा रहा है कि यह इन्द्रियज ज्ञान अत्राणमेव है अर्थात् इसकी शरण नहीं, इसकी रक्षा भी नहीं । जब कि आत्माका जो बैरीरूप है आत्मविकाससे विपरीत कार्य का निमित्तभूत है ऐसा प्रत्यनीत कर्म जब अपनी विपाक अवस्थामें आता है अर्थात् अपनी जीती जागती शकलमें आता है तब इस इन्द्रियज ज्ञानकी रक्षा नहीं है । यद्यपि कर्म कभी क्षणभरको शान्त भी रहते हैं अथवा बन्धके बाद जब तक विपाककाल नहीं आता है ये सत्में पड़े रहते हैं, पृथ्वी पिण्डके समान रहते हैं लेकिन जब इनकी स्थिति आती है, जब इनका समय निकलनेका होता है तो उस समय यह अपने रसको फलको प्रदान करता है अर्थात् उन

कर्मविपाकोंका निमित्त पाकर जीवमें जागादिक विकार होते हैं, अथवा ज्ञानावरण आदिकके उदय होनेपर रहे सहे ज्ञानकी भी खैर नहीं रहती है। ऐसे इस कर्म बैरीकी जीती जागती अवस्थासे इसकी रक्षा नहीं हो पाती। जब कर्मोंका, ज्ञानावरण आदिकका उदय होता है, चारित्रमोह, दर्शनमोहका उदय होता है तो उस समय थोड़ा बहुत जो कुछ ज्ञान भी पा लिया था वह भी समाप्त हो जाता है। वह इन्द्रियजज्ञान ठहरता नहीं है और तब ही तो यह तुरन्त निरखा जाता है कि किस विषयमें इन्द्रियजज्ञान लगा तो वह देर तक टिक नहीं पाता, क्योंकि यहां विचित्र कर्मोंके उदय चलते हैं, जिसका इसका उपयोग (ध्यान) बदला है वे ठहर नहीं सकते, और कभी तो उस योग्यतासे भी हट जाते हैं, उतनी योग्यता नहीं रहती। जैसे आज मनुष्य हैं तो मनुष्योंके ढंगका विशिष्ट इन्द्रियजज्ञान चल रहा है। उदय आ गया तिर्यञ्चगति का तो फिर ये सब ज्ञान अरक्षित हो गए। ये न रह सकेंगे। तो ऐसे इन इन्द्रियज ज्ञानोंका क्या विश्वास किया जाय ? इस कारणसे इन्द्रियज्ञान अग्राह्य हैं।

दिङ्मात्रं षट्सु द्रव्येषु मूर्तस्यैवोपलम्भकात् ।
तत्र सूक्ष्मेषु नैव स्यादस्ति स्थूलेषु केषुचित् ।।२८६।।

षट् द्रव्यमें से मात्र मूर्त द्रव्यकी और उसमें भी स्थूलकी दिङ्मात्र जानकारी संभव होनेसे इन्द्रियजज्ञानकी अज्ञता—उक्त श्लोक तक इस प्रसंगमें बताया गया है कि इन्द्रियज ज्ञान अग्राह्य हैं और उसमें अनेक दोष बताये गए हैं। अब कदाचित् कोई ऐसी जिज्ञासा रखे कि भले ही ये इन्द्रियज ज्ञान अरक्षित हैं, नष्ट हो जाते हैं, पर ये जाननेका काम ही तो करते हैं इसलिए इन्हें एकदम अग्राह्य क्यों बताया जा रहा है ? आखिर ये चैतन्यस्वरूप हैं, चेतनेका काम करते हैं, प्रतिभास होता है, फिर इनका इतना अनादर क्यों ? तो उसके उत्तरमें कहा जाता है कि इन्द्रियज ज्ञान जानते ही क्या हैं ? छहों द्रव्योंमें केवल एक मूर्त पदार्थको ही जान पाते हैं, साधारण दशामात्र कुछ अनुभव लिया वह भी ज्ञान कोई विशेष नहीं है। तो प्रथम तो इस इन्द्रियज ज्ञानमें यह बात है कि अनन्त द्रव्योंमें से केवल मूर्त पुद्गल द्रव्यका ही विषय कर पाते हैं, और वे भी अत्यन्त साधारण। और उन मूर्त पदार्थोंमें भी सभी मूर्तका ज्ञान तो नहीं कर पाते, किन्तु किन्हीं-किन्हीं स्थलोंके विषयमें ज्ञान हो पाता है, सूक्ष्म मूर्त पुद्गल द्रव्यके समयमें तो ज्ञान हो ही नहीं पाता। तो इनके ज्ञानकी हीनता देखिये—जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन ५ द्रव्योंको तो यह इन्द्रियज ज्ञान जान ही नहीं पाता, जान पायगा यह केवल मूर्त पुद्गल पदार्थोंको, सो यहाँ भी जो सूक्ष्म हैं ऐसे मूर्तिक पुद्गलोंको जान नहीं पाता, सूक्ष्म स्कंध वर्गणाओंका ज्ञान कर ही नहीं सकता, केवल अनन्त परमाणुओं का ऐसा पिण्ड जो आँखों दिख सकता है उसे ही देख लिया और इन्द्रियके द्वारा कुछ विषयभूत कर लिया, इतना ही इन्द्रियज ज्ञानोंका दिग्मात्र जाननेका काम है। उनके जाननेका कोई

विशिष्ट काम नहीं हो पाता है।

सत्सु ग्राह्येषु तत्रापि नाग्राह्येषु कदाचन।
तत्रापि विद्यमानेषु नातीतानागतेषु च ॥२८७॥

स्थूल मूर्तमें भी विद्यमान ग्राह्यमें ही अल्प जानकारी होना संभव होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी अज्ञता—इन्द्रियज ज्ञानोंमें ६ द्रव्योंमें से मूर्त पुद्गल द्रव्यको ही जान पाया और उनमें भी जो अधिक स्थूल हैं उन्हें ही जान पाया। अब उन द्रव्योंमें भी यह बात बतलाते हैं कि जाननेकी स्वतंत्रता नहीं है कि सब वर्तमानको जान ही लेवें। जो इन्द्रियके द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य हैं ऐसे ही स्थूल स्कंधोंको जान सकते हैं। ऐसे बहुतसे स्थूल स्कंध पाये जाते हैं जो इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं हैं और हैं अनन्त परमाणुओंके पिण्ड। जैसे कार्माणवर्गणायें अनेक औदारिक वर्गणायें, तैजस वर्गणायें, मनोवर्गणायें ये तो अनेक परमाणुओंके पिण्ड हैं, स्थूल हैं, लेकिन इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं और इतना ही नहीं, जो इससे भी और स्थूल हैं वे भी इन्द्रियके द्वारा अग्राह्य हो जाते हैं। जिसके जितना इंद्रियका प्रत्यक्ष हो उतना ही वह प्रत्यक्ष कर पाता है। तो बहुत मोटे पुद्गल स्कंधोंमें भी जो इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हों उन्हें ही जाना जा सकता है। और जो अग्राह्य हैं उन्हें नहीं जाना जा सकता। और अब ग्राह्य पदार्थोंमें भी इन्द्रियज्ञानमें प्रवृत्ति किस तरह होती है सो भी देखो। वहाँ भी बड़ा संकोच है। ग्राह्य पदार्थोंमें भी जो पदार्थ अभिज्ञान हैं उनको ही जानता है किन्तु जो हो चुके हैं अथवा जो आगे होने वाले हैं उनको यह नहीं जानता। तो विद्यमानको जाने, अविद्यमानको न जाने, ऐसे इस ग्राह्य पदार्थके सम्बंधमें भी संकोच पड़ा हुआ है।

तत्रापि सन्निधानत्वे सन्निकर्षेषु सत्सु च।
नाप्यवग्रहहेहादौ ज्ञानस्यास्तिक्यदर्शनात् ॥२८८॥

विद्यमान ग्राह्य स्थूल मूर्तमें भी सन्निधान और सन्निकर्ष होनेपर ही सव्यवधान अल्प ज्ञानकी संभवता होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी अज्ञता—यहाँ तक यह कहा गया था कि यह इन्द्रियज ज्ञान ६ द्रव्योंमें केवल मूर्तिक पुद्गलको ही जानता है और वहाँपर भी सूक्ष्मको नहीं, किन्तु स्थूलोंको जानता है और उनमें भी जो इन्द्रियग्राह्य हैं उनको ही जानता, अग्राह्यको नहीं और ग्राह्यमें भी जो वर्तमानमें हैं उन्हें ही जानता है। भूत और भविष्य पर्यायवालेको नहीं जानता है। तो यहाँ तक यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियज्ञान स्थूल वर्तमान ग्राह्य पुद्गल स्कंधोंको ही जान पाता है। अतः उसका जानना दिग्मात्र है। अब उसके अन्दर और संकोचकी बात बतला रहे हैं कि वर्तमान स्थूल ग्राह्य पुद्गल स्कंधोंको भी तब जान पाया है जब इन्द्रियज्ञानके साथ सन्निधान हो, सन्निकर्ष हो और सम्बंध हो गया हो। जैसे शरीरका पदार्थका स्पर्श हुआ तो स्पर्शज्ञान होता है, स्पर्श हुआ रसनाका और रसीले पदार्थका तो रसज्ञान हो गया, स्पर्श हुआ

घ्राणेन्द्रियका और सुगंधित दुर्गन्धित द्रव्योंके परमाणु स्कंधोंका तो उनका निमित्त पाकर सुगंध, दुर्गन्ध आदिका ज्ञान हो गया। यों ही सभी इन्द्रियज्ञानोंकी बात है। जिस इन्द्रियका जिस योग्य द्रव्यका निमित्त मिला, सन्निकर्ष मिला, उस योग्य इन्द्रियज्ञान हो जाता है। तो इस इन्द्रियज्ञानमें कितनी कैद पड़ी हुई है कि जब पदार्थ सामने हो तब उसका ज्ञान हो। तो ऐसे इन्द्रियज ज्ञानको ग्राह्य कैसे कहा जा सकता है? यहाँ सन्निकर्षका मतलब है सम्बंधमात्र। जिस जिसके साथ सम्बंध हो सकता हो। दार्शनिक शास्त्रमें जो सन्निकर्षको अप्रमाण कहा है उसका भाव यह है कि सन्निकर्ष कोई ज्ञानात्मक चीज नहीं है। वह तो इन्द्रिय और पदार्थके सम्बंधकी घटना है। वह कहीं प्रमाणभूत नहीं होता। प्रमाणभूत तो ज्ञान है। वही प्रमाण कहलाता है और सन्निकर्ष तो इन्द्रियज्ञानकी एक साधना मात्र है। तो ऐसा सन्निकर्ष होनेपर यह इन्द्रियज ज्ञान कुछ जान नहीं पाता है, इस कारण यह ज्ञान ग्राह्य नहीं है और भी उसके अंदर संकोच विस्तारकी बात देखिये कि सम्बंध भी हो गया पदार्थका, विषयका इन्द्रियसे इतने पर भी यह इन्द्रियजज्ञान साक्षात् सब नहीं जान पाता है किन्तु वहां अवग्रह हो, ईहा आदिक हो, इस तरहके रुककर क्रमसे कुछ समझ पाता है ऐसा इन्द्रियज्ञान जहाँ इतनी कैद है, इतनी अशक्ति है कि जहाँ समर्थता नहीं है, उस इन्द्रियके ज्ञानको ग्राह्य कैसे कहा जा सकता है?

समस्तेषु न व्यस्तेषु हेतुभूतेषु सत्स्वपि।
कदाचिज्जायते ज्ञानमुपर्युपरि शुद्धितः ॥२८९॥

सव्यवधान सन्निकृष्ट विद्यमान ग्राह्य स्थूल मूर्त पदार्थमें भी व्यस्तमें ही व कदाचित् अल्पज्ञानकी संभवता होनेसे इन्द्रियजज्ञानकी अज्ञता—उक्त श्लोकमें इन्द्रियज्ञानके दोष और हीनता बताकर यह शिक्षण किया गया है कि हे आत्मन्! तू ऐसे इन्द्रियजज्ञानमें आग्रह मत कर, अर्थात् मेरे ज्ञानमें यह आये, मेरा विचार यह बनें, मेरी बुद्धि यों हो, तो ऐसा न होना चाहिये। बाह्य पदार्थोंमें परिणमन, मेरी बात ऐसा ही रहनी चाहिये कि जैसा मैंने कहा है। ऐसी बाह्य पदार्थोंकी परिणतिके सम्बंधमें जो आग्रह है वह इस आत्माके लिए हितरूप नहीं है, अथवा कोई बाह्य पदार्थोंकी परिणतिका आग्रह नहीं करता, किन्तु वह अपने ही विचार विकल्प तरंगोंका आग्रह करता है और ऐसा आग्रह किए जानेका कारण यह बनता है कि उसे उस विकल्प रूप पर्यायकी हितबुद्धि हुई है। तो ऐसा यह इन्द्रियज ज्ञान जो कि आत्माकी बरबादीका ही हेतुभूत है, उन इन्द्रियज ज्ञानोंसे आत्माका हित नहीं है। यहाँ ऐसी जगह संधि पर प्रहार किया गया है कि जहाँसे दो टूक हो जानेपर फिर सर्व क्षोभ और उलझनकी समाप्ति करना सुगम हो जाता है। मैं इन्द्रियज्ञान रूप नहीं हूं। यह इन्द्रियज्ञान मेरे अहितरूप है, मेरे घातका कारण है, इसके आग्रहसे ही संसारके जन्म मरणकी परिपाटी बन रही है। ये सब उसे आसान हो जाते हैं जिसने इन इन्द्रियज ज्ञानोंसे इस शुद्ध आत्मद्रव्यको विभक्त कर दिया

है। तो यहाँ तक यह बताया गया कि इन्द्रियजज्ञान मूर्त पुद्गलको ही जानता, उसमें भी स्थूलको ही जानता, वहाँ भी इन्द्रियग्राह्य पदार्थको ही जानता, उसमें भी वर्तमानको ही जानता। वर्तमानमें भी इन्द्रिय और पदार्थका सन्निधान होनेपर ही जानता है और वहाँ सन्निकर्ष सम्बंध होनेपर ही जानता, इतनेपर भी अवग्रह, ईहा, इस तरह रुक-रुककर धीरे-धीरे कुछ समझ पाता है। अब इस श्लोकमें यह बतला रहे हैं कि ये उपर्युक्त समस्त कारण भी मिल जायें तो भी समस्त पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो पाता, किन्तु भिन्न-भिन्न जुदे-जुदे कुछ पदार्थोंका ही बोध हो पाता है। देखो इस चक्षुइन्द्रियसे कुछ जाना, सामने रखा है कोई फल, उसे देख लिया तो इस प्रयत्नमें उसने जान पाया केवल रूपको, पर उसका सर्वस्व, उसका स्वाद, स्वाद, उसका रस तो नहीं समझमें आया। तो वहाँ आँखोंसे देखकर केवल उसके प्रतिनियत विषयको ही जान पाया, सब कुछ नहीं जान पाया। सब कुछ तो तब जान पाये कि जब कुछ ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो। यहां यह भी ध्वनित हो गया कि जिस जीवमें जितना जाननेकी योग्यता है संसार अवस्थामें उस योग्यता भरसे भी नहीं जान पाता है, किन्तु वहां यदि विशुद्धि वर्द्धमान है तो उस योग्यताके अन्दर कुछ जान पाता है और यदि विशुद्धि वर्द्धमान नहीं है तो ऐसी स्थितिमें जितना इसका क्षयोपशम बना है उतना पूरा समझ सके, ऐसा भी नहीं हो पाता है।

तद्यथा मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य वा संतः।
आलापाः सन्त्यसंख्यातास्तत्रानन्ताश्च शक्तयः ॥२९०॥
तेषामावरणान्युच्चैरालापाच्छक्तितोथवा।
प्रत्येकं सन्ति तावन्ति सन्तानस्यानतिक्रमात् ॥२९१॥
तत्रालापस्य यस्योच्चैर्यावदंशस्य कर्मणः।
क्षायोपशमिकं नाम स्यादवस्थान्तरं स्वतः ॥२९२॥
अपि वीर्यान्तरायस्य लब्धिरित्यभिधीयते।
तदैवास्ति स आलापरतावदंशश्च शक्तिसः ॥२९३॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तथा उनके आवरणोंके असंख्यात भेद––उक्त श्लोकमें यह बताया गया है कि ऊपर-ऊपर जब शुत्ति बढ़ती है तब ज्ञान हो पाता है और वह ज्ञान सदा नहीं हो पाता, किन्तु कभी-कभी उत्पन्न होता है, उसीके सम्बंधमें यहां स्पष्टीकरण किया गया है। पहिले यह बतलाते हैं कि ऊपर-ऊपर ज्ञानमें शुद्धता किस प्रकार आती है, इसके सम्बंधमें अब मूलतः सुनो। प्रथम तो यह जानना चाहिये कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके भेद असंख्यात हैं और उन भेदोंमें भी शक्तियां अनंत भरी हुई हैं। हम आप जीवोंके जिनके ये इन्द्रियज्ञान और मानसिक ज्ञान चलते हैं, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पाये जाते हैं। संसारके सभी जीवोंमें मति-

ज्ञान और श्रुतज्ञान—ये दो तो होते हैं, उनमें हीनता और अधिकताका अन्तर रहता है। किसी जीवके विशेष ज्ञान बढ़ गया, किसीमें हीन ज्ञान रहा, ऐसा तारतम्य तो होता है, किन्तु होता है वह संसारी जीवोंमें। ये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कितने प्रकारके हैं? असंख्याते प्रकारके हैं और ये असंख्याते प्रकार तो एक साधारणरूप ही बताये गए हैं, इनमें भेद और किये जायें, इनमें शक्तियाँ और देखी जायें तो इसके अनन्त शक्तियोंके कारण इन्हें अनन्त भी कहे जा सकते हैं। तो जितने भेद हैं मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके? जितने मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण हैं, या जितने मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके भेद हैं उतने ही तो ज्ञानावरण हैं।

ज्ञानावरण वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके अनुसार ही मति श्रुतज्ञानके विकासकी संभवता—जितना ज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है उतना ही यह ज्ञान प्रकट होता है। ज्ञान जिन-जिन पदार्थोंको जानता है उन उन पदार्थोंको जब नहीं जान पाता था तब समझना चाहिये कि उनके ज्ञानका आवरण था और इस दृष्टिसे हम यह कह सकते हैं कि हमने चौकीको कब जान पाया, जब चौकी ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो गया। चटाईको कब जान पाया? जब चटाई ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो गया। यों हम कितने पदार्थोंको यहाँ जानते हैं? हजारों लाखोंको ही नहीं, बल्कि समझना चाहिये कि उतने प्रकारके ज्ञानावरण भी हैं। और उनका क्षयोपशम होनेपर यह ज्ञानपरिणति हो जाती। अब इस ही ढंगसे यह देखें कि हमपर कितने ज्ञानावरण लदे हुए हैं? तो पदार्थ अनन्त हैं, उन अनन्तका हम ज्ञान नहीं कर पाते, हम तो यों अनंत भी कह सकते हैं पर कुछ जाति अपेक्षा संक्षेपमें कुछ इस प्रकारसे कि जिसके अन्तरगत उस तरहके इन हीनाधिक पदार्थोंकी ज्ञप्ति हो जाय। इतनी तरहसे अगर देखा जाय तो कह सकेंगे कि असंख्याते ज्ञानावरण इस जीवके साथ पड़े हुए हैं। मति ज्ञानावरणकी बात कह रहे हैं, श्रुत ज्ञानावरणकी बात कह रहे हैं, ये भी असंख्याते प्रकारके आवरण होते हैं। तो ज्ञानके जो भेद कहे जायेंगे वे ज्ञानका आवरण करने वाले कर्मके क्षयोपशमके कारण कहे जायेंगे। यों सीधा समझना चाहिये कि जितना हम आपके ज्ञानावरण है उतने ही समझना चाहिये कि ज्ञान हुआ करते हैं। तो आवरण करने वाले कर्म हैं असंख्याते प्रकारके और ये भेद स्कंधके समझिये—प्रत्येक परमाणुमें ज्ञानको आवरण करनेकी शक्ति है जितने भी ज्ञानावरणमें बँधे हुए हैं। यों प्रत्येक परमाणुकी दृष्टिसे, उसकी शक्तिकी दृष्टिसे, कर्मके भी अनन्त भेद हो सकते हैं। यों ये ज्ञानके भी असंख्यात और अनन्त भेद हो जाते हैं। तब जैसे जैसे शुद्धि प्रकट होती है, इन आवरणोंका क्षयोपशम होता है, ये कर्म बादल जैसे-जैसे हटते हैं वैसे वैसे ही ज्ञान भी विकसित होता है। जिस भेदका, जिस आवरणका, जिस अंशका क्षयोपशम है उस ज्ञानकी अवस्था दूसरी हो जाय तो वहाँ ज्ञान व्यक्त रूपमें प्रकट हो जाता है। तो जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम ज्ञानविकासमें कारण है उसी प्रकार वीर्यान्तराय

कर्मका भी क्षयोपशम होना आवश्यक है । यहाँ यह बताया जा रहा है कि जिन इन्द्रिय ज्ञानों पर लोग इतराते हैं वे कितने पराधीन हैं ? ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो, वीर्यान्तरायका क्षयोपशम हो, तब यह ज्ञान हो पाता है । ऐसा इन्द्रियजज्ञान कैसे ग्राह्य कहा जा सकता है ?

उपयोगविवक्षायां हेतुरस्यास्ति तद्यथा ।
अस्ति पञ्चेन्द्रियं कर्म कर्मस्यान्मानसं तथा ।।२९४।।

लब्धि होनेपर भी इन्द्रियजज्ञान निष्पत्तिकी उपयोगाधीनता तथा उपयोगलाभके लिये पञ्चेन्द्रिय व मानसकर्मकी आवश्यकता—इन्द्रियज ज्ञान अग्राह्य है, इस विषयको समझनेके लिए अनेक हेतु बताये गए हैं और अन्तमें इस इन्द्रियज्ञानकी अज्ञता भी बताई गई है, इस कारण यह इन्द्रियज ज्ञान अग्राह्य है । मूर्तको जाना सो उसमें भी स्थूलको ही जाना, वहां भी विद्यमानको ही जाना, भूत भविष्यको नहीं जाना और वहाँ भी सन्निकृष्टको ही जाना, तिसपर भी अवग्रह ईहा आदिक व्यवधान करके विलम्बसे जाना और इतने हेतु मिलनेपर भी सबको नहीं जाना और इतना भी जानना होता है तब जब कि किसीके ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो, अन्य-अन्य साधनोंका समागम हो तब यह जान पाये तो इस अन्तरङ्ग हेतुके सम्बंधमें बताया जा रहा है कि लब्धि और उपयोग दोनों रूप ये भावेन्द्रिय होती हैं अर्थात् इन्द्रियज ज्ञान लब्धि और उपयोगसे सम्बंधित है । लब्धिका अर्थ है क्षायोपशमिक ज्ञानावरणका क्षयोपशम और वीर्यान्तरायका क्षयोपशम हो तब यह ज्ञान ज्ञान बन पाया । अब उपयोगकी बात कह रहे हैं कि उपयोग न हो उस ओर तो भी यह इन्द्रियज्ञान न होगा, तो उस उपयोगकी विवक्षामें यह बतला रहे हैं कि आत्माका परिणाम जिस तरह लगेगा उस विषयका ज्ञान होगा और जहाँ उपयोग नहीं लगता है वहाँ ज्ञान नहीं होता । जैसे कोई मनुष्य तीन चार भाषाओंका विद्वान है, पर उसका उपयोग संस्कृतका पत्र बाँधनेमें लग रहा है और उसका ही भाव समझ रहा है तो अन्य भाषाओंका ज्ञान नहीं चल रहा किन्तु उसके योग्यता तो है । तो उपयोग जिस ओर हो उसका ही ज्ञान हो, ये सब क्षयोपशम आदिक हेतु हो जानेपर भी विशेषता उपयोगकी है । सो उस उपयोगकी विवक्षामें अर्थात् उपयोग बने इस तरहका तो उसके लिए भी पञ्चेन्द्रियावरणका क्षयोपशम या जिसकी संज्ञा बनती है ऐसा कर्म भी वहाँ चाहिए तब जाकर यह उपयोग बने ।

दैवात्तद्बन्धमायाति कथञ्चित्कस्यचित्क्वचित् ।
अस्ति तस्योदयस्तावन्न स्यात्संक्रमणादि चेत् ।।२९५।।

इन्द्रियजज्ञानसाधकोपयोगलाभके लिये सहायक पञ्चेन्द्रिय व मानस कर्मका क्वचित् बन्ध तथा संक्रमणादि न होनेपर ही उसके उदयकी संभावना—तो उक्त श्लोकमें यह बताया है कि जिसके इन्द्रिय ज्ञान हो रहा है उसे उतना साधक है और केवलज्ञानावरणका क्षयोप-

शम वीर्यान्तरायका क्षयोपशम इतना ही नहीं होता उसके, किन्तु पञ्चेन्द्रिय और मानस कर्म भी चाहिये। तो इस श्लोकमें बता रहे हैं कि सुयोगसे पञ्चेन्द्रिय और मानस कर्म किसीके बंधको प्राप्त हो जाय, जिसके उदयमें यह जीव इन्द्रियज ज्ञानके योग्य बन सकेगा तो उस बंधे हुए कर्मका भी विश्वास नहीं है। यदि ऐसा ही संक्रमण हो गया तब उसका लाभ नहीं ले सकते। संक्रमण भले भी होते हैं, बुरे भी होते हैं और जैसे किसी पुरुषने पहिले पञ्चेन्द्रिय जाति नामकर्मका बन्ध किया लेकिन पीछे संक्लेश परिणाम हुआ और खोटी जातिमें जानेको हुआ तो मानो वह एकेन्द्रिय जातिमें उत्पन्न हो गया तो वे पंचेन्द्रिय आदिक नामकर्म सब संक्रान्त हो जाते हैं और इतना तो हो ही जाता है कि उदय कालसे पहिले एक समय पहिले उस प्रकृतिरूप परिणम जाता है जिस प्रकृतिका उदय होता है। जैसे हम आप लोगोंके यह सम्भव है कि चारों गति नामकर्म बँधे हुए हों; नरक, तिर्यंच तथा देवगति भी बँधी है और मनुष्य आयुका उदय तो चल ही रहा है निरन्तर अब उसके साथ-साथ बाकी तीन गति एक समय पहिले तो मनुष्यगति रूप ही संक्रान्त रूप होकर उदयमें आ जाते हैं उनके प्रदेश। तो ये पंचेन्द्रिय और मानसकर्म किसीके बँध भी जायें लेकिन संक्रमण हो जाय तो वह इस प्रकार के इन्द्रियज्ञानका मौका न पायगा। तो इन्द्रियज ज्ञानमें इतनी पराधीनता है तिसपर भी विश्वास नहीं है।

अथ तस्योदये हेतुरस्ति हेत्वन्तरं यथा ।
पर्याप्तं कर्म नामेति स्यादवश्यं सहोदयात् ॥२६६॥

इन्द्रियजज्ञानसाधकोपयोगलाभसहायक पंचेन्द्रिय व मानसकर्मके फललाभकी पर्याप्तनामकर्मोदयाधीनता—अब इसी श्लोकमें बता रहे हैं कि किसी जीवके पंचेन्द्रिय और मानस कर्म भी बँध गए और उनका उदय होनेको हुआ, मगर उसके उदय आनेमें और कुछ कारण भी तो चाहिये। अर्थात् प्रथम तो पंचेन्द्रिय और मानसकर्म बँधना ही कठिन है अथवा बँध गया तो संक्रमण न हो जाय, कोई झोंका न आ जाय जिससे यह खतम हो जाय, तो इतना डर है। मान लो संक्रमण होनेसे भी बचे और यहाँ जीवित भी रहे तो अब उनका उदय आया, उस उदयमें कुछ और भी साधन चाहिए। वे साधन क्या हैं? पर्याप्त नामकर्म चाहिये—पंचेन्द्रिय संज्ञी तो लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य भी होते हैं। पंचेन्द्रिय हुए तो क्या? वह लब्ध्यपर्याप्तक ही तो है मनुष्य। यहां उन अक्षज ज्ञानोंका क्या उठता है? उनकी ऐसी दशा हो रही जैसे निगोदिया जीवोंकी। वहाँ जन्ममरणकी जैसे यातनायें चलती हैं ऐसे ही यहाँ भी। तो पंचेन्द्रियका भी उदय बने और मानसका भी उदय बने और काम निकले तो इसके लिए एक हेतु चाहिये कि पर्याप्त नामकर्मका उदय हो। यहाँ परख लो कि जब इन्द्रियज्ञान हम आपको मिला है और जहाँ पर्यायबुद्धि करके, यह मैं हूं उससे पोजीशन मानना, उससे आग्रह करना,

उसके आधारपर विकल्प बनें अथवा आग्रह बने, इस तरह उपयोगका इतनी दूर खिंचे चला जाना यह अनर्थ जिस इन्द्रियज्ञानपर बन रहा है वह कितने कष्टसे बाँधा पाया हुआ है और तिसपर भी वह खतरेसे भरा हुआ है। तो पंचेन्द्रिय और मानस कर्म उदयमें आयें और उनके कर्म ठीक तरहसे बनें, उसके लिए जरूरी है कि पर्याप्त नामकर्मका उदय होना चाहिये। यदि पर्याप्त नामकर्मका उदय न हो तो अपर्याप्त अवस्थामें ही मरण होगा। वे पंचेन्द्रिय और मानस कर्म सबल थे, पर पर्याप्त नहीं हो सके, शरीर बन ही न सका और यों ही गुजर गए तो फिर काम क्या बनेगा? इस कारण इस इन्द्रियज ज्ञानके इस तरहके अभ्युदयमें ही पर्याप्तनामकर्म का उदय भी होना चाहिये।

सति तत्रोदये सिद्धाः स्वतो नोकर्मवर्गणाः ।
मनो देहेन्द्रियाकारं जायते तन्निमित्ततः ।।२९७।।

पर्याप्तनामकर्मका उदय होनेपर मन व शरीरका इन्द्रियाकार बननेमें नोकर्मवर्गणाओं के आगमनकी हेतुता—अब इस श्लोकमें यह बतला रहे हैं कि पर्याप्त नामकर्मका उदय भी हो गया, अब यह बात होगी कि पर्याप्त नामकर्मका उदय हो जानेपर ये शरीर की वर्गणायें स्वयं आयी हैं और उनका ग्रहण होता है। और जब वे नोकर्म-वर्गणायें, मनोवर्गणायें मन और शरीरमें सुन्दर आकार रूपसे बन जाती हैं अर्थात् मन रूप परिणमन होता है और इन्द्रियाँ बनती हैं सो जब ये मन और इन्द्रिय भले प्रकार बन लेवें तब ही तो यह लब्धि उपयोगरूप भावेन्द्रियका ऐसा अभ्युदय बन सकेगा। कोई पर्याप्त भी बन गया और बहुत शीघ्र मरणको प्राप्त हो गया तब यह इन्द्रियजज्ञान जैसा हम आप चाह रहे कहाँसे होगा? साथ ही एक बात इस प्रसंगमें यह भी विचारना चाहिये कि हम अन्य जीवोंकी अपेक्षा कितने श्रेष्ठ भवमें आये हैं? मनुष्य बने हैं, उत्तम कुल मिला, इन्द्रियाँ पूर्ण हैं, मन भी पूर्ण है और जैन शासनके तत्त्वकी चर्चा भी सुननेको मिली है और कभी-कभी अपने आपके बारेमें चिन्तन भी चला करता है। ये सब बातें हम आपको प्राप्त हुई है तो कितनी उत्कृष्ट चीजें अन्य सर्व जीवोंकी अपेक्षा हम आपने पायी है, इन सबका सदुपयोग होवे तभी इन सबका पाना सार्थक समझिये अन्यथा क्या दशा होगी सो भी विचार लो। जिस प्रकारसे कोई चींटी किसी ऊँची भींतपर चढ़ रही थी। बड़ा श्रम करके वह चढ़ी और जब छतके निकट पहुंचने ही वाली थी कि वहाँसे गिर पड़ी। अब देखिये उस चींटीका वहां तक पहुंचन अब कितनी ही दूर हो गया, यों ही समझिये कि हम आपने आज ये सब उत्कृष्ट चीजें बड़ी दुर्लभतासे प्राप्त की हैं, यदि इनका सदुपयोग न किया तो क्या हाल होगा? बस निम्न गतियों के ही पात्र बनेंगे और अपने कल्याणका मार्ग उतना ही दूर फिर हो जायगा जितना कि पार कर चुके थे याने निगोदादिमें रहते हुए हम जितने दूर थे उतने दूर होंगे। अरे इस जीवनका

क्या ठिकाना ? बहुतसे लोग तो जन्मते ही मर जाते हैं, बहुतसे बाल्यावस्थामें, बहुत से युवावस्थामें तथा बहुतसे वृद्धावस्थामें । इस प्रकार इस जीवनका भरोसा कुछ है नहीं, न जाने ये प्राण पखेरू कब उड़ जायें ? तो ऐसे क्षणिक जीवनमें अनेक प्रकारके खोटे विकल्प करके बाह्य पदार्थोंमें (धन वैभव, स्त्री पुत्रादिकमें) ममत्त्व करके लाभ क्या लूट लिया जायगा ? यदि तब ही (बीचमें ही) मृत्यु हो गई होती तब तो मेरे लिए यहाँका सब कुछ सूना था । थोड़ा चित्तको इनसे सूना बनानेके लिए ऐसा ही समझ लो कि मान लो हम अभी तक जीवित न रहते, पहिले भी कभी मर गए होते तो फिर यहाँका कुछ भी तो न था । आज जीवित हैं जो अपना कर्तव्य है कि गुप्त ही गुप्त अपना हितकारी काम कर जायें । ऐसी मनमें एक धारणा हो । हम आपको पर्याप्त नामकर्मका उदय मिला है और वहाँ हमारी हितरूप स्थिनि प्राप्त है तो हम उसका सदुपयोग करें ।

तेषां परिसमाप्तिश्चेज्जायते दैवयोगतः ।
लब्धे स्वार्थोपयोगेषु बाह्यं हेतुर्जडेन्द्रियम् ॥२९८॥

मन व शरीरकी इन्द्रियाकार रचना होनेपर भी उसके विनाश होनेपर पुनः समस्त कारणोंकी सम्पन्नताकी आवश्यकता—इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि पर्याप्त नामकर्मका उदय मिला, हमारी शरीर पर्याप्ति पूर्ण है, योग्य है । इतनी बड़ी बात मिल गई है किसी भी जीवको और यदि उसकी परिसमाप्ति हो जाती है, इन्द्रियकी रचना ही खत्म हो जाती है, यों कहो कि मरण हो जाता है तो फिर कभी आगे इतनी बातें इतनी योग्यतायें न जाने कब मिलें ? जब उस प्रकारका क्षयोपशम हो और उस विषय परका उपयोग हो तब यह बात बन सकती है तो उसमें बाह्य हेतु इन्द्रियाँ हैं । अब देखिये—कोई जीव पर्याप्त हो गया, संज्ञी बन गया और ये द्रव्येन्द्रिय आदिक बिगड़ गईं, मानो आँखें फूट गईं तो अब वह देखेगा कैसे ? या कोई कानोंसे बहिरा हो गया तो वह सुनेगा कैसे ? इसी तरह मानो कोई ऐसा रोग हो गया कि जहाँ जीभमें ही कोई ऐसा विकार हो जाता है कि जिससे खानेपर सभी चीजें कडुवी लगती हैं, तो फिर वहाँ क्या कोई वस्तु स्वादी जा सकेगी ? अथवा जैसे कभी किसीको शरीर के किसी अंगमें लकवा आदिकका दोष हो गया तो उतने अंगमें ठंडी गर्मका विशिष्ट बोध नहीं हो पाता है । तो इस तरहसे यदि कोई द्रव्येन्द्रिय बिगड़ गई तो यह ज्ञान कैसे कर पायगा ? लो ज्ञानकी साधना बहुत विलम्बसे, बहुत हेतुवोंसे बन गई, मगर जरासी ही देरमें आँखें फूट गईं, कोई कानोंका बहिरा हो गया, तो अब तो उसे उन इन्द्रियविषयक ज्ञान नहीं हो पा रहा है । अब तो केवल एक कल्पनासे ही समझा जा रहा है कि यह ऐसा है । देखो—यह इन्द्रियज्ञान मानसिक कल्पनाओंको स्पष्ट बनानेमें सहायक है, और यह मानसिक ज्ञान इन्द्रियज ज्ञानको स्पष्ट बनानेमें सहायक है । जैसे हम आपको आँखोंसे स्पष्ट दिखता है तो इसमें हमारा

मानसिक गुण भी सहायक हो रहा है तब इसका स्पष्ट बोध हो रहा है। इसी तरह मनसे किसी विषयमें कल्पना कर रहे हैं तो जैसे आंखें नहीं देखती हैं, आंखें बिगड़ी हैं तो कल्पना करनेसे ही उसका कुछ बोध हो रहा है, उसी रूपके सम्बंधमें जिस एककी आंख खुली है वह रूपका ज्ञान कर रहा है तो कल्पनाके बलपर जो रूपका स्मरण किया उसकी अपेक्षा जिसे आंखोंसे दिख रहा उसका ज्ञान विशद हो रहा है। तो यह मन इन्द्रियके ज्ञानको विशद बनने में मदद करता है और यह इंद्रियज्ञान मनकी बातको विशद बनानेमें मदद करता है। अन्यथा तो एक विडम्बना सुनिये--कोई एक पुरुष जन्मसे ही अंधा था। उससे एक बार किसी बालक ने कहा—बाबा जी आज हम तुम्हें खीर खिलायेंगे। बाबा बोला—खीर कैसी होती है ?···· अरे खीर सफेद होती है। अब सफेद भी उसने अपने जीवनमें कभी न देखा था, सो पूछा कि सफेद कैसी ? बालक बोला—बगला जैसी। अब उसने बगला भी कभी न देखा था। तो फिर उस बूढ़े अंधेने पूछा--बेटा बगला कैसा होता है ? तो वह बालक अपने एक हाथको टेढ़ा मेढ़ा बगलाकी लम्बी टेढ़ी चौंच जैसा बनाकर कहने लगा कि बगला तो ऐसा होता है। जब उस बूढ़े अंधेने हाथको टटोला तो बोला—हमें ऐसी खीर नहीं खाना है ? यह तो हमारे पेटमें गड़ेगी। भला बतलावो बतलाना तो था सफेदी और उसने आकारकी मुद्रा बताई तो उसका ज्ञान कैसे हो सकता है ? तो यदि इन्द्रियज्ञानके सारे साधन भी बन गए और यदि कोई द्रव्येन्द्रिय खराब हो गयी तो उसका परिज्ञान कैसे करेगा ? तो यों इन्द्रियज्ञानमें अज्ञता पड़ी हुई है।

अस्ति तत्रापि हेतुर्वा प्रकाशो रविदीपयोः।
अन्यदेशस्थसंस्कारः पारं पर्यावलोकनम् ॥२९९॥

पूर्वोक्त समस्त हेतुसमागम होनेपर भी इन्द्रियजज्ञाननिष्पत्तिमें प्रकाश, अन्यदेशस्थ संस्कार व पारंपर्यावलोकनकी आवश्यकता—इतना सब कुछ होनेपर भी जैसा कि उक्त श्लोकमें बताया गया है सब कुछ हो गया। इन्द्रियां हैं, मानस भी बन रहा है, द्रव्येन्द्रियां भी पूरी तरहसे हैं और सूर्य अथवा दीपकका प्रकाश न हो तो भी उपयोगात्मक ज्ञान हो नहीं सकता। जैसे अभी अपनी ही बात देख लो—कितना हम पुष्ट हैं, समर्थ हैं। सब कुछ है और यहां जो कुछ निरख रहे हैं, बड़ी स्पष्ट समझ बन रही है, यह प्रकाश है, यहां बैठे हैं, जब रूपज्ञान हो रहा है, और प्रकारकी भी उलझनें न रहीं, अस्पष्टता न रही तो दीपक अथवा सूर्यका प्रकाश भी कारण पड़ता है इन्द्रियज्ञानमें अथवा भिन्न-भिन्न प्रकारके इन्द्रियज ज्ञानोंमें, ऐसे भिन्न-भिन्न बाह्य साधन भी पड़ते हैं जिनकी बात सोची कुछ दार्शनिकोंने तो यह कह डाला कि ज्ञान तो आलोकसे उत्पन्न होता है, न हो प्रकाश तो कहांसे ज्ञान हो जाय ? हम आपके जीवनमें ये सारी बातें विदित भी हो रही हैं कि देखो—प्रकाश न हो तो हम वहां

रखी हुई अनेक चीजोंका ज्ञान कहां कर पाते हैं ? तो इतना सब कुछ होनेपर भी प्रकाश इस ज्ञानका कारण बनता है । तब प्रकाशका होना भी आवश्यक है, और इसके अतिरिक्त पहिले किए हुए ज्ञानका संस्कार होना भी ज़रूरी हो गया है । मानो कि इन्द्रिय भी हैं, क्षयोपशम भी है, प्रकाश भी हो गया है और इस स्थितिमें हम यहां सब कुछ जान भी रहे हैं तो इसका जानना और इसका स्पष्ट समझमें आना इसमें कारण हमारा रोजका परिचय ही तो है, और उससे बना हुआ संस्कार ही तो है । जैसे मानो किसीकी आँखोंपर पट्टी बाँध दी और फिर उसे उठाकर किसी तरफ ले जाकर बहुत दूर ले गए, ऐसे अन्य जगह ले गए कि जहाँ कभी देखा ही न था और वहाँ कहा कि अब आंखें खोल दो, तो देखा वहाँ प्रकाश भी है, इन्द्रियाँ भी हैं, सब बातें हैं, देख भी रहे हैं, मगर वहाँ तो कुछ अन्य अजीब-सी बात हो रही है । कुछ वहाँ ऐसा ढंग ही नहीं बन रहा है । जैसे हम यहींपर बहुतसी चीजोंको रोज देखते हैं और उनका ज्ञान अशङ्क हो जाता है । सो यों इस इन्द्रियज्ञानकी विशदताके लिए पहिले जाने हुए ज्ञानके संस्कारोंकी भी वहां जरूरत है । इतनेपर भी जो कुछ अवलोकन हो रहा, जानना हो रहा वह परम्परासे हो रहा । यों परख लीजिए कि इन्द्रियज्ञान कितना पराधीन ज्ञान है ? जैसे कोई साधारण तेलका दीपक टिमटिमा रहा हो तो उसके बुझनेके कई कारण हो सकते हैं । हवा चले तो बुझ जाय, तेल न पहुंचे तो बुझ जाय अथवा किसीका हाथ लग जाय तो बुझ जाय अथवा कोई बुझा ही दे आदि, इसी तरह अपने इन्द्रियज्ञानमें ये सब धोखे हैं । कितने कारण बताये गए हैं, इन सब कारणोंमेंसे किसी कारणकी कमी रहे तो यह इन्द्रियज्ञान ऐसा निर्बल रह जाता है, तो यहां शिक्षा लेनी चाहिए कि हम इन इन्द्रिय ज्ञानोंको निकृष्ट जानें, इनपर अहंकार न करें और इनके कारण जो विकल्प रचना बनती है उसका आग्रह न करें और जो अपना सहज ज्ञान है, स्वयं स्वभाव वाला ज्ञान है उस ज्ञानकी दृष्टि बनायें तो उसमें अपनी आस्था होगी ।

एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सद्भानसंभवात् ।
रूपेणैकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थोपयोगि तत् ॥३००॥

इन्द्रियज ज्ञानकी निष्पत्तिके उक्त हेतुओंमें से किसीकी कमी होनेपर पदार्थज्ञानकी अशक्यता—इन्द्रियज ज्ञानकी स्थितिके लिए जितने भी कारण बनाये गए हैं उन कारणोंके होनेपर पदार्थोंका यथार्थ भान हुआ करता है । यदि इन कारणोंमें से एक भी कारण कम रह जाय तो वहां फिर ज्ञान अर्थोपयोगी नहीं हो पाता, अर्थात् उस पदार्थविषयक ज्ञान नहीं बन सकता । ऊपर जितने भी कारण बताये गए हैं उनमें अन्तरङ्ग मात्र एक लब्धि बतायी गई है अर्थात् तद्विषयक ज्ञानावरणका क्षयोपशम होना चाहिए और साथ ही बताया है कि वीर्यान्तरायका भी क्षयोपशम होना चाहिए । अब इस अन्तरङ्ग लब्धिके कारण करीब १८-१९

बताये गए हैं। उनमेंसे यदि कोई भी कम हो जाय तो वहां इन्द्रियज्ञान बन नहीं सकता है। ऐसी इन्द्रियजज्ञानमें पराधीनता है। मोटे रूपमें यह ही समझ लो कि सब कुछ कारण मिल गए, इन्द्रियां भी पूर्ण हैं, लब्धि बनी है, पर्याप्ति भी बनी है, लेकिन उजेला नहीं है तो फिर दिखना नहीं होता है। तो एक उजेला ही न हो और सब तरहसे तैयार बैठे हैं जाननेके लिए, पर रूपका ज्ञान नहीं कर सकते। तो ऐसे मामूली कारण भी न मिलें तो इन्द्रियज्ञान नहीं हो पाता। तो यह इन्द्रियज्ञानकी कमजोरी है फिर भी जगतके जीव इस उत्कृष्ट ज्ञानपर ही अहंकार बसाये हुए हैं, और इस ज्ञानके आधारपर जो विकल्पोंकी संतति बढ़ा ली है वहां अपना अनर्थ भी कर रहे हैं।

अस्ति तत्र विशेषोयं बिना बाह्येन हेतुना।
ज्ञानं नार्थोपयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात् ॥३०१॥

लब्धिरूप ज्ञान होनेपर भी उसमें बाह्य हेतुके बिना अर्थोपयोगिताकी अशक्यता— यहां इतनी बात जानना चाहिए कि बाह्य चीज नहीं है तब ज्ञान व्यक्त तो नहीं होता अर्थात् जैसे प्रकाश ही नहीं है तो रूपका ज्ञान नहीं हो सकता। सो ठीक है, नहीं बन रहा है ज्ञान किन्तु यदि लब्धि पायी जा रही है तो लब्धिरूप ज्ञान बना हुआ है। तो भले ही बाह्य कारण का अभाव है, वहां इन्द्रियज ज्ञान व्यक्त नहीं हो रहा है लेकिन लब्धि देखी जा रही है और इस ओरसे देखो तो भले ही ये क्षयोपशम पड़े हुए हैं। इतनी योग्यता है कि हम बाह्य पदार्थों को जान सकते हैं लेकिन बाह्य कारण नहीं हैं तो बाह्य पदार्थोंका जानना बन नहीं रहा है। तो इस तरह इस ज्ञानकी अक्षमता है। अब तुलना तो कीजिए कि कहां तो आत्माका ऐसा ज्ञानस्वभाव कि जिसमें मर्यादा ही न होना चाहिए कि इतने ही पदार्थ जाने और इतने काल तककी ही बात जाने या इतने अंशमें ही जाने। वहां तो सर्वांश और सर्व पर्यायोंरूप और त्रिकालवर्ती जो भी सत् थे, सत् हैं और सत् होंगे, उन सबका ज्ञान हो जाय, ऐसी ज्ञानमें सामर्थ्य है और इस ज्ञानकी सामर्थ्यका हम आप लोग अंदाज भी कर सकते हैं। यदि इस ज्ञानमें भूतकालकी बातोंको जाननेका सामर्थ्य न होता तो हम आप अबसे बचपन तककी और उससे भी पहिले तककी सब बात जान लेते। तो भले ही वहां इतनी आधीनता है कि जो जाने हुए हों उसे ही जान सकते हैं, परिचितका ही ज्ञान हुआ करता है, लेकिन परिचित का ही सही किन्तु कला तो है ना कि जो पहिले उठनेकी बात हुई उसे हम जान जायें, इसी प्रकार भविष्यकी बात भी हम जानते हैं। जैसे कोई पञ्चकल्याणक वगैरहका विधान होना है या कोई शादी विवाहका कामकाज होना है और उसकी तिथि निश्चित हो गई तो अब उन कार्यों सम्बंधी कार्यकर्ताओंको वही दिन दिमागमें बना रहता है। अरे अमुक दिन यह काम होगा, इतने-इतने काम करने बाकी हैं। तो देखिये—इस जीवमें भविष्यकी बातें जानने

की पद्धति भी बनी हुई है। भले ही इसमें उसमें ज्योतिष शास्त्र या अन्य निमित्तोंकी आधीनता है लेकिन बात यहां यह बतायी जा रही है कि इसमें (जीवमें) यदि भविष्यके जाननेकी कला न होती तो भविष्यके सम्बंधमें इसकी कल्पना भी नहीं उठ सकती थी। इससे सिद्ध है कि ज्ञानमें त्रिकाल विषय जाननेकी ताकत है। जहाँ कर्मोंका अभाव हो गया, ज्ञानावरणादिक कर्म न रहे तो ऐसा ज्ञान विश्वकी सारी बातोंको एक ही साथ प्रतिभासमें ले लेता है, और यही है अरहंत, सिद्ध प्रभुका स्वरूप। ऐसा विशुद्ध ज्ञान है कि जिस ज्ञानमें त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त सत् एक साथ ज्ञात हो रहे हैं, रागादिक विकार रंच भी नहीं रहे हैं, अपने आपके स्वरूपके बाहर जरा भी न टिक रहा हो वह है प्रभुका स्वरूप तो ऐसा तो है हमारा स्वरूप और बीत रही है यह निकृष्ट इन्द्रियज ज्ञानकी बात तो यह तो बड़े खेदकी बात होनी चाहिये, न कि इन्द्रियजज्ञानके ग्राह्यताकी बात।

देशतः सर्वतो घातिस्पर्धकानामिहोदयात्।
क्षायोपशमिकावस्था न चेज्ज्ञानं न लब्धिमत् ॥३०२॥

क्षायोपशमिक अवस्थाके बिना लब्धिरूप ज्ञानकी भी असंभवता—उक्त कारणोंमें एक कारण यह बताया गया था कि लब्धि क्षयोपशम। क्षयोपशम तो है ज्ञानका अन्तरङ्ग हेतु और वहाँ है बाह्य हेतु तो क्षयोपशमका यहाँ स्वरूप बताया जा रहा कि कहते किसे हैं क्षयोपशम? अर्थात् ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर अथवा वीर्यान्तिरायका क्षयोपशम होनेपर इन दोनोंके होनेपर इन्द्रिय ज्ञानकी योग्यता बनती है। वह क्षयोपशम क्या चीज है? तो यहाँ इसपर ध्यान दीजिए कि ज्ञानावरणके ५ भेद होते हैं—(१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण, (४) मनःपर्ययज्ञानावरण और (५) केवलज्ञानावरण। इन ५ भेदोंमें जो केवलज्ञानावरण है वह तो है सर्वघाती। अर्थात् उसमें जितने भी स्पर्धक हैं वे सब सर्वघाती स्पर्धक हैं और शेष चार कर्म अर्थात् मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण—ये कहलाते हैं देशघाती प्रकृति। तो ये सर्वघाती स्पर्धक भी हैं और देशघाती स्पर्धक भी हैं। तो जब मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंका तो हुआ अनुदय, उदयाभावी क्षय और देशघाती स्पर्धकोंका हुआ उदय, ऐसी स्थितिमें यह क्षयोपशम उत्पन्न होता है अर्थात् कर्मोंमें वहाँ ऐसी स्थिति है कि कुछने तो मौका दिया कि तुम जानो और कुछ स्पर्धकोंने रोका कि तुम अब कुछ न जानो अर्थात् थोड़ा जानो, तो इस प्रकारके जब आवरणमें क्षयोपशमकी स्थिति होती है तो यह है इन्द्रियज ज्ञानका अंतरङ्ग कारण और इसीको कहते हैं लब्धि, अर्थात् योग्यता तो बन गयी, उसका लाभ तो हो गया अर्थात् योग्य बात तो बन गई किन्तु अब उपयोग न रहा और उपयोग बनता है तो इसके कारण मिलें तब बनता है, जिन कारणोंका पहिले विस्तारपूर्वक कथन किया गया है।

ततः प्रकृतार्थमेवैतद्दिङ्मात्रं ज्ञानमैन्द्रियम् ।
तदर्थांशस्य सर्वस्य देशमात्रस्य दर्शनात् ।।३०३।।

पूर्वोक्त विवरणोंसे इन्द्रियज ज्ञानकी दिङ्मात्रताकी अर्थात् अत्यल्पताकी सिद्धि— इन्द्रियज्ञानके विषयमें बहुत कथन हो चुका है और पहिले यह बताया गया था कि यह तो दुःखरूप है । फिर दूसरे दोषमें यह बताया गया कि यह ज्ञान तो अज्ञ है, क्या जानता है, और जो भी जानता है वह इतनी आधीनताओंसे जानता है । तो इस ही अज्ञताके प्रकरणमें बहुत विस्तारपूर्वक कहनेके बाद अब सारांश रूप अंतिम श्लोक कह रहे हैं । ऊपर जितने हेतु बताये गए हैं और भी जितने कारण कहे गए हैं तथा जो घटना कही गई है, उन सबका प्रयोजन यह ही है कि इन्द्रियज्ञान दिङ्मात्र है अर्थात् अल्पमात्र, रंचमात्र, लेशमात्र ज्ञान होता है इन्द्रियज ज्ञानमें । मोही पुरुष जब इन्द्रियजज्ञानसे देखते हैं तो उन्हें यों दिखता है कि मेरे बहुत बड़ा ज्ञान है । सो यों समझ लीजिए कि इस मोही पुरुषकी हालत उस कूपमंडूककी तरह है । जैसे किसी कुएंके अन्दर एक मेढक रहता था । उस कुएंके तटपर एक दिन एक हंस पक्षी आकर बैठ गया, तो मेढक पूछता है—अरे हंस तुम कहाँ रहते हो ? तो हंस बोला—हम तो मानसरोवरमें रहते हैं,····अरे मानसरोवर कितना होता ?····बहुत बड़ा । तो मेढक कुएंमें एक कोनेसे दूसरे कोनेमें उछलकर कहता है—क्या इतना बड़ा मानसरोवर होता है ?····अरे इससे बहुत बड़ा । फिर मेढक कुएंके एक ओरके किनारेसे दूसरी ओरके किनारे तक उछलकर कहता है—क्या इतना बड़ा मानसरोवर होता है ?····अरे बस जान लिया कि तुम झूठ कहते हो, क्योंकि इससे बड़ा तो कुछ होता ही नहीं । देखो उस मेढकके लिए वह कुएंकी घेर ही उसके लिए सारी दुनिया है । तो यही हाल है अज्ञानी जनोंका । वे जरासा इन्द्रियज्ञान पाकर अपने को बड़ा चतुर समझते हैं । वे समझते हैं कि मैं तो बहुत बड़ा जानकार हूं, समझदार हूं, मेरे बराबर कोई जानता ही नहीं है, इस तरहकी अज्ञानी जनोंकी बुद्धि रहती है, लेकिन यह इन्द्रियजज्ञान कितना ही बड़ा हो, वह लेशमात्र भी परिज्ञान कराने वाला नहीं, क्योंकि जितने भी पदार्थ हैं उन समस्त पदार्थोंका एक देश ही ज्ञान हो पाता है । जैसे आँखें खोलीं और भींत दिखी तो क्या ज्ञान हुआ ? सिवाय एक हरा, पीला आदि जो भींतका रंग है उसका ज्ञान हुआ । इस भींतके अन्दर क्या है और इसमें रस, गंध, स्पर्श कैसा है, तथा कितने परमाणुओं का पुञ्ज है, कितनी बातें पड़ी हुई हैं और फिर उन परमाणुओंमें कितनी शक्ति है ? अनन्त बातें पड़ी हैं, उन अनन्त बातोंमेंसे एक अंशका ज्ञान कर पाया तो ऐसा इन्द्रियजज्ञान कैसे पूर्ण ज्ञान कहलायगा ? वह तो दिङ्मात्र है, अल्प ही परिज्ञान कराने वाला है, इस कारण यह इन्द्रियजज्ञान अज्ञ है, निर्मल है, निकृष्ट है, उससे अपनायत नहीं करना चाहिये । उससे उपेक्षा करके अपना जो अतीन्द्रियज्ञान स्वभाव है, सहज स्वभाव है उससे प्रीति करनी चाहिये ।

खण्डितं खण्डनस्तेषामेकैकार्थस्य कर्षणात् ।
प्रत्येकं नियतार्थस्य व्यस्तमात्रे सति क्रमात् ॥३०४॥

इन्द्रियज ज्ञानकी खण्डितता—इस प्रकार यहाँ इन्द्रियज ज्ञानके दोषोंके कथनमें सर्व प्रथम बताया गया था कि यह इन्द्रियज्ञान दुःखरूप है। इसका उत्तर बताया गया था कि यह इन्द्रियज्ञान पराधीन है, संशय आदिक दोषोंसे सहित है, विरुद्ध है, अकल्याणरूप है, अपवित्र है मूर्छित है और इतनेपर भी इस ज्ञानकी रक्षा करनेमें कोई समर्थ नहीं है। जब कर्मका तीव्र विपाक आता है तो यह स्पष्ट हो जाता है और इसके अतिरिक्त इस प्रकरणमें अन्तिम दोष बताया था कि यह इन्द्रियज्ञान अज्ञ है। अब इन सब दोषों के कथनके बाद एक दोष और भी बतला रहे हैं कि यह ज्ञान खण्डज्ञान है। पदार्थ सम्पूर्ण कितना है, उस सम्पूर्ण पदार्थमें से कोई खण्ड-खण्ड अंशको ही जानता है। यह हमारा ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान है। इस कारण उसके ज्ञानको खण्डज्ञान, अधूरा ज्ञान कहते हैं। जैसे इस लोकमें किसीको अधूरा ज्ञान हो तो उसे लोग कहते हैं पल्लवग्राही अर्थात् एक पत्ते मात्रको छू सकने वाला। कोई पुरुष यदि ४-६ विषयोंमें अपनी गति रख रहा हो और प्रत्येक विषयमें अधूरा ही है तो उसको जिन्दगीमें विडम्बना रहती है, वह किसी कामका नहीं रह पाता। अरे किसी भी एक विद्यामें कुशल हो जो कई विद्यायें जानता है, पर है सबमें अधूरापन तो जैसे उसके लिए वह एक जीवनमें शल्य जैसी बात होती है, और शल्य ही नहीं, किन्तु एक खेदके लिए भी बात होती है, तो अधूरापन यहाँ लोकमें भी अच्छा नहीं माना जाता। ऐसे ही यहाँ परमार्थमें देखिये—जो कोई एक विषयमें भी पूरासा बन गया हो, वह भी अधूरा ही है। यहाँ पूरा कोई नहीं होता जब तक कि केवलज्ञानका लाभ नहीं है, तो ऐसे अधूरे ज्ञानपर क्या अहंकार, क्या ममकार होना चाहिये ? तो यह ऐसा इन्द्रियज्ञान खण्डित ज्ञान है, भिन्न-भिन्न ज्ञान है और प्रतिनियत है। जैसे पुद्गलका ज्ञान किया तो उसमें केवल रूपको जाना, यह हुआ खण्डज्ञान। केवल रसको जाना यह हुआ खण्डित ज्ञान। ये खण्डित ज्ञान भी तो बहुत सारे एक साथ नहीं हो पाते हैं। ये भिन्न-भिन्न हैं। बल्कि इन्द्रियजज्ञानमें तो यह क्रम बताया गया है कि किसी एक विषयका उपयोग चल रहा हो तो वहाँ अन्य विषयका उपयोग नहीं है। एक दार्शनिकने एक ऐसी शंका की कि यदि कोई तेलसे बनायी हुई लम्बी चौड़ी बेसनकी पपड़िया खावे तो देखो उस समय उसे सभी इन्द्रियज्ञान एक साथ हो रहे हैं—अरे लम्बी चौड़ी पपड़िया पकड़े हुए हैं हाथमें तो यह स्पर्शनइन्द्रियका ज्ञान हुआ, उसे खा रहे हैं तो उसका स्वाद भी मिल रहा है, उसकी गंध भी मिल रही है क्योंकि वह गंध वाले तेलमें पकाई गई है; और आंखोंसे उसे देख रहे ही हैं, अतः चक्षुइन्द्रियका ज्ञान हो ही रहा है, और उसके खानेमें कुरं कुरंकी जो आवाज आ रही है वह कर्णइन्द्रियका ज्ञान हो गया। तो देख लो उस एक कामके करते हुएमें एक साथ सभी इन्द्रियोंका ज्ञान हो रहा है ना, फिर क्यों कहा जा

रहा है कि यह इन्द्रियज्ञान क्रम-क्रमसे होता है ? तो इस जिज्ञासाका समाधान इस प्रकार दिया गया है कि ठीक है, यों मोटे रूपसे तो ऐसा ही वहाँ प्रतीत होता है कि समस्त इन्द्रियों का ज्ञान एक साथ हो रहा है पर जरा और भी सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करें तो पता पड़ जायगा कि वास्तवमें वे सब ज्ञान क्रम-क्रमसे हो रहे हैं । इसके लिए एक दृष्टान्त लीजिये—जैसे १०० पानके पत्तोंकी एक गड्डी लगी हुई है, उसमें कोई अत्यन्त पैनी धार वाली सूईका बड़ा तेज प्रहार करे तो तुरन्त ही वे सारे पत्ते एक साथ छिद जाते हैं । अब वहां बताइये कि वे सभी पत्ते एक साथ छिद गए या क्रमसे ? यों तो मोटे रूपसे दिखता है कि एक साथ ही तो छिदे पर ऐसी बात नहीं है । पहिले सूईकी नोक पहिले नम्बरके पत्तेमें पहुंची, फिर दूसरे तीसरे आदिमें । यों क्रम-क्रमसे ही १००वें पत्तेको सूईने पार किया । तो जैसे वे सभी पत्ते क्रम-क्रम से छिदनेपर भी मोटे रूपसे ऐसा कह दिया जाता है कि सभी पत्ते एक साथ छिदे, इसी प्रकार ये इन्द्रियज्ञान क्रम-क्रमसे होकर भी मोटे रूपसे कह दिये जाते हैं कि ये एक साथ हुए । तो यह इन्द्रियजज्ञान खण्डित ज्ञान है, खण्ड-खण्डको जानता है और इतनेपर भी यह भिन्न-भिन्न जान पाता है । उन खण्ड-खण्डको भी एक साथ नहीं जान पाता ।

आस्तामित्यादि दोषाणां सन्निपातास्पदं पदम् ।
ऐन्द्रियं ज्ञानमप्यस्ति प्रदेशचलनात्मकम् ।।३०५।।
निष्क्रियस्यात्मनः काचिद्यावदौदयिकी क्रिया ।
अपि देशपरिस्पन्दो नोदयोपाधिना बिना ।।३०६।।

इन्द्रियज ज्ञानमें उदयोपाधिके कारण प्रदेशचलनात्मकताका दोष—अब ज्ञानके दोषों के वर्णनमें यह आखिरी दोष बताया जा रहा है । कहते हैं कि जो दोष बताये गए हैं अब तक उपर्युक्त दोष उनका तो यह साधन है ही, लेकिन साथमें यह भी समझना चाहिये कि ये सब इन्द्रियज्ञान आत्मप्रदेशकी कम्पनाको लिए हुए हैं । इन्द्रियज ज्ञान चल रहा है और उस इन्द्रियज ज्ञानके साथ कम्पन भी चल रहा है, ज्ञानमें भी कम्पन है, प्रदेशमें भी कम्पन है, तो यह इन्द्रियज्ञान है तो सही, मगर प्रदेश चलनात्मक है । धवलसिद्धान्तमें बताया है कि आत्मा के प्रदेशका योग होता है और वह उनकी हलन-चलन परिपूर्ण होती रहती है, लेकिन जब आत्माके प्रदेशोंका परिभ्रमण हुआ तब तो सभी जगहसे हुआ । सारे ही प्रदेश तो इन्द्रियमें बने हुए हैं, अर्थात् ऐसा तो नहीं है कि आत्माके कुछ प्रदेश इन्द्रियसे अलग हों या आत्माके प्रदेशोंमें जो ऊपरके प्रदेश हुए उनमें तो इन्द्रियां बनी हों और भीतरके प्रदेशमें इन्द्रियां न बनी हों, ऐसा तो नहीं है । यद्यपि इस शरीरके अन्दर बहुतसी खून, पीप वगैरह चीजें हैं यह ठीक है मगर वहांपर भी स्पर्श तो है और वहां भी कोई चीज हो तो स्पर्शका ज्ञान तो हो सके अथवा चलो ऊपर ही सही, लेकिन जिस समय आत्मप्रदेशका परिभ्रमण होता है तो

चक्षुइन्द्रिय जहां बनी हुई है वह इन्द्रिय तो वहां ही बनी रह गयी, वह तो नहीं घूमी, सो सबको देखती ही है, और प्रदेश परिस्पंद हो गया तो प्रदेश अन्य-अन्य भी उस ओर आ गए। आत्मा वही है, अखण्ड है, एक है, इस कारण यह शंका नहीं बनती कि अभी किसी अन्य प्रदेशसे जाना, अब किसी अन्य प्रदेशसे जाना, जानना तो सर्व प्रदेशोंसे ही है, अखण्ड ही है, किन्तु विस्तृत है वह आत्मा, यही तो प्रदेश द्वारा समझा जाता है। तो लो प्रदेश चलित हो गया और वहां यह इन्द्रियात्मक ज्ञान हुआ सो खेदकी बात है कि आत्मा तो निष्क्रिय है और ऐसे निष्क्रिय आत्माके भी जब तक कर्म उपाधिजन्य क्रिया चलती है तब तक प्रदेशका हलन-चलन होता है, ऐसा प्रदेशपरिस्पंद उदय-उपाधिके बिना नहीं हो सकता तथा उदयोपाधि दुःखरूप है, अतः उदयोपाधि कार्यात्मक इन्द्रियज ज्ञान भी दुःखमय है।

नासिद्धमुदयोपाधेर्दुःखत्वं कर्मणः फलात्।
कर्मणो यत्फलं दुःखं प्रसिद्धं परमागमात् ॥३०७॥

कर्मोदयोपाधिके दुःखपनेकी प्रसिद्धि—उक्त श्लोकोंमें यह बताया गया कि जीवके कर्मकी जितनी उपाधियाँ लगी हुई हैं, जिन कारणोंसे जीवके प्रदेशोंमें हलन-चलन होता है, एक तो ऐसा हलन-चलन कि जो लोगोंको देहके माध्यमसे दिख जाती है। जैसे हाथ चले तो आत्माके प्रदेश भी चलें और एक ऐसा परिस्पंद जो न भी हाथ पैर चलाये, बैठा है स्थिरतासे, फिर भी आत्माके प्रदेश गोल गोल भ्रमण करते ही रहते हैं। तो ऐसा जो आत्मप्रदेशोंमें हलन-चलन है वह है कर्मोदय उपाधिके कारणसे और जब प्रदेश चलने रूप इस आत्मामें इन्द्रियजज्ञान हो रहा है सो वह भी चलनात्मक है। इसी कारण भी यह इन्द्रियजज्ञान दुःखरूप है। अब इस श्लोकमें उसी कर्मोदय उपाधिके सम्बंधमें कह रहे हैं कि कर्मोदयकी उपाधि मात्र ही दुःखरूप है, क्योंकि वह कर्मका फल है। इतने कर्म क्यों इसपर लद गए और इतना उदय विपाक क्यों हो गया? यह सब कर्मका फल है। अतः उपाधि दुःखरूप ही है, और जो कर्मका फल है वह दुःखस्वरूप ही है। ऐसा परिणाममें बताया ही गया है। सारांश यह है कि हम आप संसारी जीवोंके जो कर्मका बन्धन लगा है सो यह महादुःखरूप है।

बुद्धिपूर्वकदुःखेषु दृष्टान्ताः सन्ति केचन।
नाबुद्धिपूर्वके दुःखे ज्ञानमात्रैकगोचरे ॥३०८॥

बुद्धिपूर्वक दुःखोंकी अनेक दृष्टान्तोंसे प्रसिद्धि—दुःख दो प्रकारके होते हैं—एक बुद्धिपूर्वक और दूसरा अबुद्धिपूर्वक। अर्थात् एक तो बुद्धिमें आ जाय, ज्ञानमें आ जाय ऐसा दुःख और एक वह जो अपने ज्ञानमें न आ पावे, फिर भी दुःखी हो रहा हो। इन दोनों प्रकारके दुःखोंमें से जो बुद्धिपूर्वक दुःख हैं उनके अनेक दृष्टांत पाये जाते हैं, पर अबुद्धिपूर्वक दुःख केवल उसके ही अनुभवमें आ रहा है, फिर भी उसको बुद्धि द्वारा स्पष्ट समझ नहीं पाता है। ऐसा

अबुद्धिपूर्वक दुःख है। दूसरा कोई इसका अनुमान ही क्या करे? इस तरह बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक दोनों प्रकारके दुःखोंसे यह आत्मा पीड़ित है। अबुद्धिपूर्वक दुःख हैं जीवोंके—इस बातकी सिद्धि अनुमान और आगमसे आगे युक्तियोंपूर्वक की जायगी, किन्तु यहाँ यह बताया है कि जैसे बुद्धिपूर्वक दुःख देखा जाता है इस तरहसे अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं दिखता है। उसकी स्थिति ऐसी होती है कि जैसे मुंदी गहरी चोट। जैसे कोई सीढ़ीसे नीचे गिर गया हो, कहीं फूटाफाटा तो न हो, पर किसी अङ्गके जोड़पर अन्दरसे गहरी चोट हो तो उसके दुःखको वही जानता है। दूसरा कोई उसकी मुंदी हुई वेदनाका अनुभव कैसे कर सकता है? तो जैसे बुद्धिपूर्वक जो पीड़ा होती है उससे भी बड़ी पीड़ा अबुद्धिपूर्वक यातनामें होती है। उस अबुद्धिपूर्वक पीड़ाका किसीको स्पष्ट भान नहीं हो पाता कि इसके इस तरहका दुःख है, किन्तु वह दुःखी होता रहता है। इस तरह ये संसारी जीव कर्मोदय उपाधिके कारण दोनों प्रकारके के दुःखोंसे पीड़ित हैं।

अस्त्यात्मनो महादुःखं गाढं बद्धस्य कर्मभिः।
मनःपूर्वं कदाचिद्वै शश्वत्सर्वप्रदेशजम् ॥३०९॥

कर्मबद्ध जीवकी महादुःखकी स्थिति—इस जीवके जो मनपूर्वक दुःख है, बुद्धिपूर्वक दुःख है, जिसको दूसरे लोग भी समझ जाते हैं, यह भी (दुःखी होने वाला भी) अपनी बुद्धिमें बहुत समझ रहा है। ऐसा दुःख महागाढ़ दुःख है, यह तो बात है ही, लेकिन इन संसारी जीवोंके सदा ही अबुद्धिपूर्वक दुःख बना हुआ है। जब यह जीव विषयजन्य दुःखोंको भोगता है और उनमें मौज मानता है तो लग यों रहा है कि मैं बड़े मौजमें हूं अथवा दूसरे लोग भी ऐसा समझते हैं कि यह सेठ जी, बाबू जी ये तो बहुत सुखी हैं। पर वे तो उस अबुद्धिके कारण निरन्तर दुःखी रहा करते हैं। अज्ञानी जन चाहे खूब हँस भी रहे हों, चाहे बड़ी शौक शान भी दिखा रहे हों लेकिन भीतरसे वे निरंतर दुःखी बने रहा करते हैं। उसका फल है कि वे ऐसा प्रतिकार करते हैं कि जिससे विषयभोगके, भोगोपभोगके साधन जुटाते हैं और ऐसा करनेका कारण है यह अबुद्धिपूर्वक दुःखकी पीड़ा। तो इस दुःखसे कौन बचा? यहाँ अपनी यह स्थिति समझनी चाहिए कि हम कितनी भयंकर स्थितिमें पड़े हुए हैं? कभी सुखके साधन जुट गए, कुछ मौज भी लूट लिया, लेकिन मौज वहाँ कहाँ है? वहाँ तो वह अन्तः अनन्त दुःखसे पीड़ित हैं, और यह दुःख केवल बेहोशीकी मौज है। जैसे कोई बावला पुरुष खूब हँसता है, प्रसन्न हो रहा है तो क्या वह वास्तवमें प्रसन्न है? अरे वह तो भीतरमें बहुत ही दुःखी हो रहा है, इसी प्रकार भोगोंमें मौज मानने वाले लोग बाहरसे तो सुखी दीखते हैं पर वे सदा भीतरसे महादुःखी रहा करते हैं। तो कर्मका ऐसा प्रभाव है कि जिससे यह जीव महा दुःखी रहा करता है।

अस्ति स्वस्यानुमेयत्वाद् बुद्धिजं दुःखमात्मनः ।
सिद्धत्वात्साधनेनालं वर्जनीयो वृथा श्रमः ॥३१०॥

बुद्धिपूर्वक दुःखोंके परिचयकी सुगमता—इस श्लोकमें बता रहे हैं कि बुद्धिपूर्वक दुःख को सिद्ध करनेकी क्या अधिक चेष्टा करें, यह तो सभी लोग समझ रहे हैं । बुद्धि जान रही है कि मुझे दुःख है और बहुतसे लोग तो ऐसा बता भी देते हैं कि मुझे ऐसा क्लेश हो रहा है । तो बुद्धिपूर्वक दुःखको समझनेके लिए अधिक परिश्रमकी आवश्यकता नहीं है । वह तो स्वतः सिद्ध है, साधन द्वारा क्या बताया जाय, उसके लिए क्या श्रम करना ? यह है उनका बुद्धिपूर्वक दुःख । जैसे धनी पुरुष तृष्णावश दुःखी रहा करते हैं, निर्धन लोग धनकी आशामें दुःखी रहा करते हैं, तो उनके दुःखको सिद्ध करनेके लिए अधिक श्रम नहीं करना है । तो जैसे धनी और निर्धनकी बात है ऐसे ही सभी बातें हैं । जो लौकिक विद्यावान पुरुष हैं वे भी दुःखी रहा करते हैं । जैसे एक घटना कभी बतायी थी कि एक बहुत ऊँचा विद्वान् बनारसमें रहता था । उसकी विद्वत्ताकी प्रशंसा चारों ओर फैल चुकी थी । लेकिन वह वृद्ध हो जानेपर भी अध्ययनकार्यको छोड़ नहीं रहा था । किसीने कहा कि पंडित जी आप तो इतने ऊँचे विद्वान् माने जाते हैं फिर भी आप इस वृद्धावस्थामें भी इतना अधिक अध्ययन करनेका श्रम क्यों करते हैं ? तो वह वृद्ध विद्वान् बोला कि हम इसलिए इतना अधिक शास्त्राध्ययन करते हैं कि कभी किसीसे शास्त्रार्थमें हार न जायें । अगर हार गये तो मेरी मौत ही हो जायगी । आखिर हुआ भी ऐसा ही । तो देखिये—यह लौकिक विद्या पाने वाले भी दुःखी रहते हैं, और जिनको यह लौकिक विद्या नहीं मिली है वे मन ही मन ऐसा कुढ़ करके कि हाय मुझे न मिली ऐसी विद्या, नहीं तो मैं भी ऐसा बन जाता, यों मन ही मन वे भी दुःखी रहा करते हैं । तो दो ही संसारमें स्थितियाँ हैं—किसी चीजका मिलना और न मिलना । सो देखा यह जाता है कि उस चीजके पाने वाले लोग भी दुःखी हैं और न पाने वाले लोग भी दुःखी हैं । तो इस दुःखका कारण क्या है कि कर्मोदयकी ऐसी उपाधि लगी है कि उसके भीतर ज्ञानप्रकाश आवृत्त हो गया है, इसलिए वे सभो जगह दुःखी रहा करते हैं ।

साध्यं तन्निहितं दुःखं नाम यावदबुद्धिजम् ।
कार्यानुमानतो हेतुर्वाच्यो वा परमागमात् ॥३११॥

अबुद्धिपूर्वक दुःखकी कार्यानुमानसे व परमागमसे साध्यता—उक्त श्लोकमें यह बताया है कि बुद्धिपूर्वक दुःखको सिद्ध करनेके लिए क्या श्रम करना है ? श्रम करे तो अबुद्धिपूर्वक दुःखको सिद्ध करनेमें । सो श्रम क्या है ? युक्तियोंका बल लिया जाय । तो यहाँ बतलाते हैं कि जो अबुद्धिपूर्वक दुःख है वही यहाँ साध्य बनाना चाहिए । बुद्धिपूर्वक दुःख स्पष्ट है लेकिन यह समझनेकी कोशिश कीजिए कि इन सब संसारी प्राणियोंमें अबुद्धिपूर्वक दुःख भी सदा

बना हुसा है। जो लोग बहुत धन वैभव राज्यसम्पदा पाकर बड़ा मौज मान रहे हैं वे भी इस अबुद्धिपूर्वक दुःखसे पीड़ित हैं, और जो जीव संज्ञी नहीं हैं कीड़ा मकोड़ा वगैरह उनमें भी यह दुःख पाया जा रहा है। ये जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक स्थावर जीव दिख रहे हैं उनमें भी अबुद्धिपूर्वक दुःख पाया जाता है। उस दुःखको सिद्ध करना चाहिए। कैसे सिद्ध हो तो उस अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धिके दो उपाय हैं—जैसे जो परोक्षभूत पदार्थ हैं, जो अपनेको प्रत्यक्ष नहीं हैं उनको सिद्ध करनेके दो उपाय होते हैं, इसी प्रकार इनकी सिद्धिके भी दो उपाय हैं—१—अनुमान, २—आगम। इन दो उपायों की प्राप्ति हो तभी इस अबुद्धिपूर्वक दुःखको सिद्ध किया जा सकेगा। अनुमान द्वारा क्या सिद्ध हो रहा है और परमागममें क्या लिखा हुआ है—इन दोनों बातोंको दृष्टिमें रखकर जब सिद्ध किया जायगा तभी इस अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सही सिद्धि की जा सकेगी। अब कार्यानुमानके सम्बंधमें बात कह रहे हैं।

अस्ति कार्यानुमानाद्वै कारणानुमितिः क्वचित्।
दर्शनान्नदपूरस्य देवो वृष्टो यथोपरि ।।३१२।।

कार्यानुमानसे कारणानुमान होनेकी पद्धतिका दृष्टान्त—कार्यानुमानसे अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धि की जाय, इससे पहिले कार्यानुमानके स्वरूपका विवरण एक दृष्टान्त द्वारा बताया जा रहा है, और उससे यह सिद्ध किया जा रहा है कि कार्यानुमानमें कार्यका हेतु बताकर कारणका अनुमान किया जाता है अर्थात् कार्यरूप साधनसे कारणरूप साध्यकी सिद्धि की जाती है। इसके लिए दृष्टान्त दे रहे हैं कि जैसे नदीमें बहुत बड़ा पूर आया हो, जलका तेज प्रवाह बह रहा हो तो उस समय यह अनुमान होता है कि ऊपर कहीं वर्षा हुई है, क्योंकि नदीमें जलका तीव्र प्रवाह चल रहा है। तो नदीका वह पूर हुआ कार्य और मेघवर्षण हुआ कारण। तो कार्यको देखकर कारणका अनुमान किया गया। जैसे दार्शनिक शास्त्रोंमें एक प्रसिद्ध दृष्टान्त दिया जाता है कि पर्वतमें अग्नि है धुवाँ होनेसे। तो पर्वतकी अग्निका अनुमान करनेके लिए वह धुवां कार्य हुआ, अग्नि कारण हुई। तो जब कार्य दिख गया तो कारणकी सिद्धि हो ही जाती है। इसी प्रकार अबुद्धिपूर्वक दुःख तो है यहाँ साध्य सो यह बनेगा कारण रूप साध्य। तो बताना होगा कि अबुद्धिपूर्वक दुःख क्यों लोगोंको दिख रहा है जिससे कि यह सिद्ध हो सके कि सर्व संसारी जीवोंमें अबुद्धिपूर्वक दुःख है, सो उसके कार्य हेतुको बतलानेके लिए आगेके दो श्लोक कहते हैं।

अस्त्यात्मनो गुणः सौख्यं स्वतः सिद्धमनश्वरम्।
घातिकर्माभिघातत्वादसद्वाऽदृश्यतां गतम् ।।३१३।।
सुखस्यादर्शनं कार्यलिङ्ग लिङ्गमिवात्र तत्।
कारणं तद्विपक्षस्य दुःखस्यानुमितिः सतः ।।३१४।।

सुखादर्शनरूप कार्यलिङ्गसे कारणभूत दुःखके अनुमानकी प्रमाणता—अबुद्धिपूर्वक दुःखका कार्य बताकर अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धि करना है। इससे पहिले थोड़ा भूमिकामें यह बतला रहे हैं कि आत्माका सुख एक स्वतःसिद्ध गुण है। यह स्वाभाविक है, सहज सिद्ध है अर्थात् आत्मा आनन्दमय है। आत्माका स्वरूप ज्ञान और आनन्द है। ज्ञान और आनन्दको छोड़कर इस आत्मामें और क्या बात पायेंगे जिससे कि हमें आत्माका परिचय मिले ? तो आत्मा ज्ञान और आनन्दकी अनुभूतिसे परखा जाता है कि यह मैं आत्मा हूं। तो आत्माका स्वाभाविक गुण है सुख (आनन्द) और यह है स्वतःसिद्ध, शाश्वत नित्य है। पदार्थका जो स्वरूप होता है वह सदा रहता है, स्वतःसिद्ध है और नित्य है तब तो आत्मा है और तब ही आनन्द गुण है, क्योंकि आत्माका जो सहज स्वरूप है वह तो आत्मामें अनादिसे है, अर्थात् जबसे आत्मा है तबसे ही मेरा स्वरूप है। आत्मा है अनादिकालसे तो यह स्वरूप भी अनादिकालसे है। तो यों आत्मा आनन्दमय है; और देखिये—जब हम आप ऐसा प्रतीतिमें लें कि मेरेमें सदा आनन्द है, यह सबसे निराला आत्मा जिसका किसी बाह्य पदार्थसे कुछ लेनदेन नहीं है, स्वयं आनन्दस्वरूप है, यहाँ ही दृष्टि रहे तो किसी प्रकारकी व्याकुलता ही नहीं हो सकती है। व्याकुलता तो बाह्यमें दृष्टि करनेसे होती है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि आत्मा स्वतःसिद्ध नित्य आनन्दमय है। अब वर्तमानमें देख तो रहे हैं कि आनन्द किसीके प्रकट ही नहीं हो रहा है, सब दुःखी ही दिख रहे हैं, तो यह आनन्द जो प्रकट नहीं हो रहा है यह जीव आनन्दस्वरूप है, किन्तु मोहनीयकर्मका ऐसा विपाक है कि जिससे उसकी बुद्धि भ्रष्ट है अथवा बाह्यकी ओर इसकी रुचि लग रही है, तब ही तो इस आनन्दका घात हो गया और यह आनन्द नहीं मिल पा रहा। तब हेतु क्या बना ? इन जीवोंमें सुख नहीं देखा जा रहा है। जो आत्माका सहज अनुपम विलक्षण अलौकिक आनन्द है वह यहाँ कहाँ देखा जा रहा है ? तो ऐसा सुख नहीं देखा जा रहा है। इससे सिद्ध होता है कि जीवके अबुद्धिपूर्वक दुःख है और इस हेतुसे अबुद्धिपूर्वक दुःख भी सिद्ध होता है। जैसे इन स्थावर जीवोंके, कीड़ा मकोड़ोंके, इन तिर्यञ्चोंके अथवा मनुष्योंके भी यह सुख कहाँ देखा जा रहा है ? सुखका अदर्शन है यह है हेतु और उसका साध्य मिलता है कि जीवोंमें अबुद्धिपूर्वक दुःख है। सुख दुःखका विपक्षी है याने जहाँ सुख नहीं है वहाँ दुःख है और जहाँ सुख है वहाँ दुःख नहीं है। तो इससे सिद्ध है कि यह जीव वहाँ दुःखी बराबर हो रहा है। तो यों जीवोंमें जो आनन्द नहीं दिख रहा, सुख नहीं दिख रहा तो इससे यह सिद्ध है कि इस आत्मामें दुःख है, और ऐसे जीवोंमें सुखका अदर्शन है, तो उससे यह सिद्ध होता है कि इन जीवोंमें अबुद्धिपूर्वक दुःख बना है। यदि अबुद्धिपूर्वक दुःख न हो तो यहां सुख नजर आना चाहिये था। इस अन्यथानुपत्ति

हेतुके द्वारा इस अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धि होती है, इसीका स्पष्ट कथन किया जा रहा है।

सर्वसंसारिजीवानामस्ति दुःखमबुद्धिजम्।
हेतोर्नैसर्गिकस्यात्र सुखस्याभावदर्शनात् ॥३१५॥

सुखाभावदर्शनसे सर्व संसारी जीवोंके अबुद्धिज दुःखकी सिद्धि—सभी संसारी जीवोंके अबुद्धिपूर्वक दुःख बना हुआ है। पुराणोंमें पढ़ते हैं कि इस संसारी जीवकी अनादि दशा निगोद है। ऐसी है निगोदिया जीवोंकी स्थिति कि जिनके शरीरको हम निरख भी नहीं सकते हैं। वादर निगोद शरीर भी इतना सूक्ष्म है कि हम आपकी आंखोंसे नहीं दिख सकते। जितने दिखते हुए शरीर, नजरमें आ रहे वे सब प्रत्येक शरीर नजरमें आते हैं। जैसे——लोग कहते हैं कि आलू कंद आदिक साधारण हैं। तो वे साधारण नहीं किन्तु साधारणसहित प्रत्येक हैं। जो दिखनेमें आ रहा है वह देह भी तो प्रत्येक है, और उसके आधारमें निगोदिया जीव अनंत बसे हैं साधारण हैं। तो निगोदिया जीव, जिस एक देहके आश्रयमें अनन्त निगोद होते हैं, जिनका एक ही देह सबका रहता है, बताओ ऐसे देह कहाँ नजर आते हैं? एक जीव अपने देहका खुद अधिकारी है, कोई दूसरा जीव दूसरेके शरीरका अधिकारी नहीं, मगर देखो कि कर्मोपाधिका विचित्र फल और उस दुःखकी पराकाष्ठा कि औदारिक शरीर एक है और वही सब निगोदिया जीवोंका शरीर है जो उसके आधारमें रह रहे हैं। तो वहाँ एक साथ जन्म मरण होता—यह बात तो जन्म मरणकी बतायी है उनके दुःखकी सिद्धिके लिए। चूंकि हम लोगोंके जन्म मरण होते हैं, इससे जान जाते हैं कि दुःख है, पर ज्ञान चूँकि ढक गया है इससे अबुद्धिपूर्वक जो दुःख होता है उसका अनुभव नहीं कर पाते। हम आपका ज्ञान ढक गया है, आवृत्त हो गया है, और इतना ही नहीं, हम आप एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय हुए तो वहाँपर भी अबुद्धिपूर्वक दुःख चलता रहा। तो अब समझिये कि जिन जीवोंका क्लेश हम आपको नजर नहीं आ रहा उनके अन्दर भी अबुद्धिपूर्वक दुःख निरन्तर चलता रहता है। नरकगतिमें घोर दुःख बताये गए हैं, लेकिन वहाँ संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव हैं, उनके सम्यग्दर्शन भी हो सकता है, वे अन्तः प्रसन्न भी रह सकते हैं, लेकिन इन निगोदिया जीवोंको तो कुछ भी सुखी होनेका जरा भी अवकाश नहीं है। उनके अबुद्धिपूर्वक दुःख निरंतर चलता रहता है। इसी तरह अन्य स्थावर आदिक सभीमें समझना चाहिए कि यह अबुद्धि पूर्वक दुःख निरन्तर बना रहता है। यह बात इस हेतुसे सिद्ध है कि जो नैसर्गिक सुख है, आत्माका जो स्वाभाविक आनन्द है, वह आनन्द यहाँ देखा नहीं जा रहा है। यदि इस आत्मा में अबुद्धिपूर्वक दुःख न हो तो आनन्दकी झाँकी तो होनी चाहिये थी। तो सुखका अदर्शन है। इस हेतुसे यह सिद्ध होता है कि इन समस्त संसारी जीवोंमें दुःख निरन्तर ही बसा हुआ है।

नासौ हेतुरसिद्धोस्ति सिद्धसंदृष्टिदर्शनात् ।
व्याप्तेः सद्भावतो नूनमन्यथानुपपत्तितः ॥३१६॥

अबुद्धिपूर्वक दुःखसाधक सुखादर्शन साधनमें असिद्धत्वका अभाव––पहिले यह बताया गया था कि संसारमें जितने भी जीव हैं उन सबमें अबुद्धिपूर्वक दुःख पाया जाता है, क्योंकि उनमें सुख नहीं देखा जा रहा है। अबुद्धिपूर्वक दुःखका अर्थ यह है कि ऐसा दुःख कि खुदको भी समझमें खूब नहीं आ पाता और भीतरमें दुःख हो रहा है। जैसे कोई आदमी सोया हुआ है तो वह सोये हुएमें भी दुःखी रहता है। किसी दुःखीको बहुत जगनेके कारण उसे नींद न आये तो भीतरमें वह दुःखी रहता है, मगर उसकी बुद्धिमें यह नहीं समाता कि मैं दुःखी हूं, सोया हुआ पुरुष अपनेको मैं दुःखी ऐसा अनुभव कर नहीं पाता, लेकिन है वह दुःखी। जैसे कोई मदिरा पी लेता है, बेहोश होकर पड़ गया तो क्या उसे भीतरमें दुःख है नहीं ? अरे वह तो बहुत दुःखी है और दुःख है तभी वह बेहोश हुआ है, अब उसके दुःखको वह बुद्धिमें नहीं समझ पा रहा है। ये एकेन्द्रिय आदिक जीव जो पेड़ वगैरह हैं क्या ये दुःखी नहीं हैं ? अरे ये भी दुःखी हैं मगर इनमें बुद्धि कहाँ है कि अपनेको इस तरह समझ सकें कि मैं बड़ा दुःखी हो रहा हूं। ऐसे बहुतसे दुःख अबुद्धिपूर्वक होते हैं जो जीवोंमें हैं, क्योंकि उन्हें सुखी नहीं देखा जा रहा है। इस तरहका हेतु बताया गया है–सुखका अदर्शन। उस हेतुसे यह सिद्ध हो रहा है कि संसारी जीवोंके अबुद्धिपूर्वक दुःख होता है। उसीके सम्बंधमें यहाँ यह कहा जा रहा है कि यह हेतु असिद्ध नहीं है, किन्तु इसके अनेक दृष्टान्त पाये जाते हैं। जिनसे यह सिद्ध होता है कि जहाँ सुखका अभाव है वहाँ दुःख अवश्य है और जहां दुःख नहीं है वहां सुखका अभाव भी नहीं देखा जाता है। जहां अनन्त सुख पाये जा रहे हों वहां दुःख नहीं है। दोनों तरहसे यह व्याप्ति मिल जाती है। तो जब अन्यथानुपपत्ति सिद्ध हो जाती है तो यह हेतु निर्दोष बन जाता है। कोई सी भी चीज सिद्ध करना हो तो उसके लिए जो हेतु दिया जाता है उसमें अन्यथानुपपत्ति होनी चाहिए अर्थात् यदि ऐसा न हो और फिर यह हो तो उससे यह सिद्ध है कि यह अवश्य है। जैसे यहां अग्नि होनी चाहिए, क्योंकि यहां धुवां उठ रहा है। तो यदि अग्नि न हो तो धुवां नहीं हो सकता, तब धुवां देखकर यह सिद्ध हो जाता है कि यहां अग्नि अवश्य है। तो ऐसे ही जीवोंमें सुखका अभाव पाया जा रहा है, उससे यह सिद्ध है कि इन जीवोंमें दुःख अवश्य है।

व्याप्तिर्यथा विचेष्टस्य मूर्छितस्येव कस्यचित् ।
अदृश्यमपि मद्यादिपानमस्त्यत्र कारणम् ॥३१७॥

सुखादर्शन और अबुद्धिपूर्वक दुःखमें व्याप्तिके समर्थनके अनुरूप दृष्टान्त––जहां सुख न पाया जा रहा हो वहां समझना चाहिए कि भीतरमें दुःख अवश्य है, और वह दुःख दो प्रकार

का है । एक तो समझमें आ जाय ऐसा दुःख और एक समझमें ही न आ सके, मगर भीतरमें दुःखका बोझ है, कर्मबन्धन है तो दोनों प्रकारके दुःख वहां हैं, जहाँ सुख न देखा जा रहा हो । तो बुद्धिपूर्वक जो दुःख है उसको सिद्ध करनेके लिए तो श्रम करनेकी आवश्यकता नहीं, वह तो स्पष्ट है किन्तु जो अबुद्धिपूर्वक दुःख है उसे यहाँ सिद्ध किया जा रहा है । उसके लिए कुछ दृष्टान्त देखिये—जैसे कोई पुरुष मूर्छित हो गया किसी रोगके कारण या किसी वजहसे मूर्छा आ गयी, बेहोश पड़ गया तो जो बेहोश पड़ गया है वह चेष्टारहित हो जाता है । ऐसे चेष्टाहीन पुरुषको देखकर लोग यह अनुमान कर लेते हैं कि इसने मदिरा पी लिया है । यद्यपि वहाँ मदिराका प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है, किन्तु उसकी बेहोशीका कार्य समझमें आया । उससे सिद्ध हुआ कि इसने मदिरा पी लिया है । इसी तरह समझना चाहिए कि भाई जब इस संसारमें कहीं कोई सुखी नहीं नजर आता तो इनमें अवश्य ही दुःख है, और दुःखकी बात कहाँ तक सोची जाय ? जहाँ बड़ा सुख मालूम कर रहा हो कोई कि हम तो बड़ा मिष्ट स्वादिष्ट भोजन कर रहे हैं, बड़ा ही मधुर स्वाद ले रहे हैं उस समय वह बड़ा मौज मानता है, ऐसा मौज माननेके समयमें भी उसमें दुःख पड़ा हुआ है और उस दुःखकी वेदना हो रही है, जिस वेदनाको वह खुद समझ नहीं पा रहा है । वह तो यही समझता है कि मुझे मौज मिल रही है । संसारकी किसी भी स्थितिमें आनन्द नहीं है । इस तरह इस दृष्टान्तके अनुसार यहाँ अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्ध होता है ।

अस्ति संसारिजीवस्य नूनं दुःखमबुद्धिजम् ।
सुखस्यादर्शनं स्वस्य सर्वतः कथमन्यथा ।।३१८।।

संसारी जीवोंमें सुखादर्शनकी अबुद्धिपूर्वक दुःखके साथ व्याप्तिका कथन—संसारी जीवोंके अबुद्धिपूर्वक दुःख है अन्यथा अर्थात् यदि अबुद्धिपूर्वक दुःख न होता तो अरहंत, सिद्ध प्रभु या बड़े-बड़े योगीश्वर—जैसे ये सुखी नजर आते हैं, इस तरहसे ये संसारी प्राणी भी सुखी नजर आने चाहियें थे, लेकिन इनमें आनन्द नहीं देखा जा रहा है । इससे सिद्ध है कि इनके दुःख ही है । देखिये—आनन्द और मौजमें बड़ा अन्तर है । मौजके साथ भीतरमें दुःख मिला हुआ है, पर आनन्दमें दुःखका लेश नहीं है । मोहग्रस्त हो जाना इससे बढ़कर अन्य कोई विपदा नहीं है । एक तो कोई दुःखी हो रहा है और एक दुःखी होता हुआ भी अपनेको सुखी समझ रहा है तो इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है । दुःखी होता हुआ जो अपनेको समझ रहा हो कि यह दुःख है वह तो कुछ होशमें है लेकिन यह दुःखी हो रहा है और समझमें नहीं आ पाता और उल्टा कारण है, वह खतरेसे भरपूर है, इसीको कहते हैं मिथ्यादृष्टि । वह है तो दुःख और मानता है अपनेको मौज वाला, विषयसुख वाला, तो ऐसी जब मिथ्याबुद्धि होती है तो उसकी चिकित्सा बड़ी कठिन हुआ करती है । इसे कहते हैं भ्रम । बात तो हो और कुछ

और सोच ली जाय और कुछ तो ऐसे भ्रम वालेको फिर सब बातें उल्टी-उल्टी ही नजर आती हैं। एक ऐसी घटना है कि किसी गांवके किनारेपर एक बढ़ई रहता था। उसका सबसे पहिले घर मिलता था, और वह था बड़ा मजाकिया। एक दिन वहाँसे एक मुसाफिर निकला, उसने बढ़ईसे अपने इष्ट गाँवका रास्ता पूछा, तो था तो मान लो वह गाँव पश्चिमकी ओर और रास्ता बता दिया पूरबकी ओरका, और साथ ही यह भी कह दिया कि देखो इस गाँवके लोग बड़े मजाकिया हैं। उनकी बातोंमें न आ जाना, कहीं तुम्हें रास्ता भटक जाना पड़े। सो जब वह मुसाफिर कुछ आगे बढ़ा, अन्य लोगोंसे उस गाँवका रास्ता पूछा तो सभीने कहा कि तुम तो गलत रास्ता आ गये, वह गांव तो पश्चिमकी ओर है। तो उसने समझ लिया कि देखो यह बढ़ई ठीक ही कह रहा था कि यहां तो सभी लोग मजाकिया हैं। सो उसने किसीकी बात न मानी। आखिर सबकी बातें अनसुनी करके वह आगे बढ़ता गया। जब किसी दूसरे गांवमें पहुंचा और वहांके लोगोंने बताया कि अरे तुम तो रास्ता अमुक गांवसे ही भूल गए। वह रास्ता तो अमुक गांवसे पश्चिमकी ओरको जाता है। अब वह मुसाफिर बहुत पछताया। तो प्रयोजन कहनेका यह है कि एक तो भूल हो जाना इसका दुःख और एक भूल जानेपर भी भ्रम रखना यह हुआ डबल दुःख। यही हालत अज्ञानी जीवोंकी है कि एक तो ये भूले हुए हैं, भ्रम भरे हुए हैं और दूसरे उसीको ही ये सत्य मान रहे हैं तो ऐसी स्थितिमें इनका जो दुःख है वह बहुत बड़ा गाढ़ दुःख है और अबुद्धिपूर्वक भी दुःख पड़ा हुआ है और किन्हींके बुद्धिपूर्वक भी दुःख चल रहा है। यदि इनके अबुद्धिपूर्वक दुःख न हो तो इन्हें सुखी होते नजर आना चाहिये था, पर ये कहां सुखी नजर आते ? अपनी ही बात अगर बहुत दृष्टिसे देखेंगे तो जिन विचारोंमें और जिन बातोंमें हम कुछ मौजसा समझते हैं और यह मानते हैं कि यह बात होनेपर आनन्द होगा, लेकिन उस समय हमको कितना दुःख है ? जब यह जीव अपने इस आनन्दमय आत्माके उपयोगसे चिग गया और बाहरमें कहीं देख रहा तो बस उपयोगका भीतरसे हटकर बाहर कहीं लगना बस यही दुःखरूप बन जाता है, और यही एक दुःख है। अरे आत्मन् ! तुम तो खुद ही इस अपने आनन्दधामसे हट गए, इसलिए तुम दुःखी हो रहे हो। जैसे मछली पानीसे हटकर बिल्कुल पानीके बाहर पहुंच जाय तो जैसे वह तड़फती है, इसी तरह यह जीव अपने आपके स्वरूपसे हटकर कहीं बाहर निकल गया तो वहां यह तड़फता है, इसको चैन नहीं मिलती।

ततोनुमीयते दुःखमस्ति नूनमबुद्धिजम ।
अवश्यं कर्मबद्धस्य नैरन्तर्योदयादितः ॥३१६॥

कर्मबद्ध जीवके निरन्तर कर्मोदयादिके कारण अबुद्धिज दुःखका निर्णय—इस जीवके निरन्तर उदय और उदीर्णा चल रहे हैं, अर्थात् जो कर्म पहिले बाँधे थे वे कर्म अपने समयपर

उदयमें आ रहे हैं, उनका फल मिल रहा है अथवा कुछ कर्मोदयके समयसे पहिले भी फल देने लगते हैं इसको कहते हैं उदीर्णा। तो कर्मोंके उदय और उदीर्णा इस जीवके चल रहे हैं? इससे सिद्ध है कि इस जीवके निश्चयतः अबुद्धिपूर्वक दुःख है। कर्मोंका फल भी दुःखरूप ही है। अब शुभ कर्मोंका उदय आता है तो यह जीव चैन मानता है—अहो, मेरा बड़ा अच्छा भाग्य है, मेरा बड़ा अच्छा पुण्यका उदय है जिससे मुझे सब प्रकारके सुख-साधन प्राप्त हो रहे हैं। तो ठीक है, लेकिन वहां सुख-साधनोंमें भी निरन्तर ऐसा दुःखका वेदन चलता है जिसका खुद को पता नहीं पड़ रहा। तथ्यकी बात यह है कि जब तक मोहनीय कर्मका विपाक है तब तक यह जीव किसी भी स्थितिमें चला जाय, यह आनन्द नहीं पा सकता। तो आनन्द पानेके लिए इतने बड़े कष्ट सहे जा रहे हैं, लेकिन फल इनका उल्टा होता है। जैसे मानो आग बुझानेके लिए कोई उसपर घी डालता है तो उसका परिणाम उल्टा निकलता है, आग बढ़ती जाती है। इसी प्रकार इन अज्ञानी प्राणियोंके रागके समयमें, मौजके प्रसंगोंमें बड़ा दुःख मचता रहता है, पर वे उस रागजन्य दुःखको मेटनेके लिए राग ही बढ़ाते हैं। फल उसका यह होता है कि उनका दुःख और भी बढ़ता रहता है। जैसे किसीने सोच रखा था कि मेरा अमुक काम निपट जावे, बस दो चार सालकी बात है, फिर मैं निश्चित होकर धर्मसाधनामें लग जाऊँगा, पर देखा यह जाता है कि जब दो चार वर्ष और व्यतीत हो जाते हैं तो उस समय अपनेको ऐसी बँधी हुई स्थितियोंमें पाते हैं जैसे कि १०-५ वर्ष पहिले बँधे थे। बँधे तो वस्तुतः न तब थे, न अब भी हैं लेकिन कल्पनासे बँधे हुए थे और अब भी कल्पनासे ही बँधे हैं। बल्कि पहिले तो कुछ कम विकल्प थे, अब तो और भी अधिक विकल्प बढ़ गए हैं। तो इसका कारण क्या है? अरे जिस समय इच्छा हो कि हमें धर्म करना है उस ही स्थितिमें उस ही में अपना ढंग निकालकर धर्ममें लग जाओ, यह तो है रीति धर्मकी। कोई सोचे कि ५-७ वर्षों तक तो हम इस धर्मको ताखपर रखकर खूब धन कमा लें, खूब बढ़िया साधन बना लें, फिर डटकर धर्म किया जायगा, तो उन ५-७ वर्षोंमें जो अधर्मका, पापका संस्कार लग रहा था वह संस्कार क्या ५-७ वर्ष बादमें पूरा मिट जायगा और यह बड़ा दूधका धोया बन जायगा, ऐसी आशा पूरी तरहसे की जा सकती है क्या? अरे कैसी ही स्थिति हो, चाहे आज फेरी करके २-२॥ रुपये ही प्रतिदिन कमाकर परिवारका पालन-पोषण किया जा रहा हो, उस ही स्थितिमें भी समय धर्मपालनके लिए निकाला जा सकता है, और धर्म होता है ज्ञानसे, भेदविज्ञानसे, आत्मा के चिन्तनसे। तो धन नहीं है उस ज्ञानी पुरुषके पास तो उसका टोटा कहाँ है? समय भी उसके पास है और ज्ञान भी उसके पास है, अगर चाहे तो वह धर्म पाल सकता है, फिर क्यों इस धर्मके प्रोग्रामके लिए अपने समयको लम्बा बताया जा रहा है? उचित यह है कि जो जिस स्थितिमें है उसी स्थितिमें रहकर धर्मसाधना करे, ज्ञानकी आराधना करे, आत्माका

चिन्तन करे, कषायोंका खण्डन मण्डन करे। दूसरोंका सन्मान रखनेकी जिसकी आदत बन जायगी वह इस जीवनमें भी हैरान न हो सकेगा और उसको उतने विकल्प भी न सता सकेंगे। तो जो करने योग्य कार्य हैं उनको करें, इसीमें अपनी रक्षा है, और ज्ञानस्वरूप धर्मकी साधना बनानी चाहिए, उसी स्थितिमें जो भी स्थिति आज हो। तो इस जीवके जब निरन्तर कर्मोंका उदय और उदीर्णा चल रही है तो सिद्ध होता है कि जीवके निरन्तर ही दुःख पाया जा रहा है।

नाऽवाच्यता यथोक्तस्य दुःखजातस्य साधनम्।
अर्थादबुद्धिमात्रस्य हेतोरौदयिकत्वतः ॥३२०॥

अबुद्धिपूर्वक दुःखके सर्वथा अवाच्यत्वकी असिद्धि—उक्त सब विवरणोंमें जो यह बात इस समय सिद्ध की जा रही है कि संसारी जीवोंके अविवेकपूर्वक दुःख है, सो इसकी सिद्धि करनेमें कोई कठिनाई नहीं है। और यह बात वचनों द्वारा भी बतायी जा सकती है। कोई ऐसा नहीं है कि अबुद्धिपूर्वक दुःख वचनके सर्वथा ही अगोचर हो, अर्थात् दुःखको कहा ही न जा सकता हो। उसके सम्बंधमें सब बताया जा सकता है और वह इसी तरह बताया ही तो जा रहा है कि जब जीवोंके कर्मका उदय पाया जा रहा है, तो समझना चाहिए कि इस आत्मामें दुःख है। अगर दुःख न हो तो यह शरीर क्यों लादे फिरता और इसकी यह स्थिति क्यों बनती कि जन्म मरण कर रहा है, और साथ ही यहाँ भोगसाधनोंके प्रसंगमें भी इसके भीतर आकुलता बनी रहती है। तब ही तो यह आकुलित होकर इतना घोर दुःखी हो रहा है। तो अबुद्धिपूर्वक इस जीवके दुःख है।

तद्यथा कश्चिदत्राह नास्ति बद्धस्य तत्सुखम्।
यत्सुखं स्वात्मनस्तत्त्वं मूर्छितं कर्मभिर्बलात् ॥३२१॥
अस्त्यनिष्टार्थसंयोगाच्छारीरं दुःखमात्मनः।
ऐन्द्रियं बुद्धिजं नाम प्रसिद्धं जगति स्फुटम् ॥३२२॥
मनोदेहेन्द्रियादिभ्यः पृथग् दुःखं न बुद्धिजम्।
यद्ग्राहकप्रमाणस्य शून्यत्वाद् व्योमपुष्पवत् ॥३२३॥
साध्ये वाऽबुद्धजे दुःखे साधनं तत्सुखक्षतिः।
हेत्वाभासः स व्याप्यत्वासिद्धौ व्याप्तेरसंभवात् ॥३२४॥

संसारी प्राणियोंमें अबुद्धिपूर्वक दुःखके असद्भावविषयक शङ्काकारकी आशङ्का—उक्त प्रकरणको सुनकर शङ्काकार यह चौथी शङ्का रख रहा है कि हमको तो ऐसा मालूम पड़ता है कि जो कर्मोंसे बँधे हुए जीव हैं उनके सुख तो है ही नहीं, क्योंकि ये कर्मोंके द्वारा बलपूर्वक ऐसा मूर्छित हो गए हैं कि उस सुखको तो लेशमात्र भी नहीं पाया जा रहा है। तब क्या

पाया जा रहा इन जीवोंमें ? अनिष्ट पदार्थोंका संयोग है ना यहां तब शारीरिक दुःख पाया जा रहा, जो इन्द्रियसे उत्पन्न होता है और बुद्धिपूर्वक है याने संसारमें जीवोंके जो भी दुःख पाये जा रहे हैं या तो शरीरके कारणसे पाये जा रहे अथवा इन्द्रियके कारणसे। तो ये सारे दुःख बुद्धिपूर्वक हैं, सब बुद्धिमें समझमें आ रहे हैं। तो मन, देह, इन्द्रिय इनसे अलग कोई और दुःख नहीं हैं। जितने भी दुःख हैं वे मनसे मिलेंगे या शरीरसे बनेंगे या इंद्रियसे, इनके अलावा और कोई दुःख हैं ही नहीं जिनको कि हम सिद्ध करके इस जीवके अबुद्धिपूर्वक दिखें। पाये जा रहे हैं वे सब बुद्धिपूर्वक। शरीरका दुःख हो, मनका दुःख हो, इन्द्रियका दुःख हो, ये सब समझमें आ रहे हैं, हम सब लोग भी जान रहे हैं और जिसे दुःख हो रहा है वह भी अनुभव कर रहा है, उसे छोड़ करके और कोई दुःख नहीं है। अबुद्धिपूर्वकको सिद्ध कर रहे यह बात असिद्ध है। जैसे कोई आकाशका फूल सिद्ध करे तो आकाशका फूल तो कहीं होता नहीं। कोई कहे कि आकाशके फूलकी माला बनाकर लाओ तो भला बतलाओ माला बनायी जा सकेगी क्या ?····नहीं। ठीक इसी तरह ये अबुद्धिपूर्वक दुःख जब हैं ही नहीं तो फिर इनको सिद्ध करनेकी जबरदस्ती क्यों की जा रही है ? जब सुख नहीं पाया जा रहा तो इससे ही सिद्ध है कि अबुद्धिपूर्वक दुःख है। अरे दुःख सही, सुख नहीं देखा जा रहा है तो इससे अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं सिद्ध होता, किन्तु बुद्धिपूर्वक ही दुःख सिद्ध होता है, और फिर जो सुखका अभाव बतला रहे हो उसकी व्याप्ति अबुद्धिपूर्वक दुःखके साथ नहीं है। इस कारणसे तुम्हारा हेतु असिद्ध है। इससे बुद्धिपूर्वक दुःख दुनियामें है ही नहीं, यह बात यदि कही जा रही है कि सभी जीवोंके बुद्धिपूर्वक दुःख जो है, उसके अतिरिक्त अबुद्धिपूर्वक दुःख भी निरन्तर चल रहा है, लेकिन शंकाकार यह कहता कि ऐसा दुःख वह कौनसा है कि जो बुद्धिमें नहीं आया और हो रहा है। इस शङ्काको समझनेके लिए थोड़ी यह बात समझ लीजिए कि जैसे कोई जीव मरा, यह देह तो छूट गया और अगले जन्ममें दूसरा देह धारण करेगा तो रास्तेमें विग्रह गतिमें न देह रहा, न इन्द्रियाँ रहीं, न मन रहा हो तो किसी बीचकी गतिमें कैसे सुखी है, दुःखी है ? तो अबुद्धिपूर्वक ही तो दुःख है। ऐसे ही और भी दुःख होते हैं, लेकिन शङ्काकार यहाँ यह शङ्का कर रहा कि अबुद्धिपूर्वक दुःख तो कुछ हुआ ही नहीं करता। उसमें देहका दुःख है ? या इन्द्रियका ?? या मनका ??? अब इन शङ्काओंका समाधान करते हैं—

नैवं यत्तद्विपक्षस्य व्याप्तिर्दुःखस्य साधने।
कर्मणस्तद्विपक्षत्वं सिद्धं न्यायात्कुतोन्यथा ॥३२५॥

सुखविपक्षभूतकर्मोपाधिको दुःखसाधन बताते हुए उक्त शङ्काके समाधानका प्रारम्भ— शङ्काकारका यह कहना था कि संसारी जीवोंमें भगवान जैसा सुख तो होता ही नहीं है और साथ ही यह भी बात है कि जितना भी दुःख जाता है वह शारीरिक हो, इन्द्रियजन्य हो,

मानसिक हो, ये ही तो बातें पायी जायेंगी, इन दुःखोंको छोड़कर अन्य कोई अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं पाया जाता है। इस शङ्काके समाधानमें विस्तृत वर्णन चलेगा। अतः उसकी भूमिका जैसा समाधान करते हुए कह रहे हैं कि शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दुःखको सिद्ध करनेमें दुःखका विपक्षी हुआ सुख और सुखका होता अदर्शन तो सुखके अदर्शनकी उस दुःखके साथ व्याप्ति है, याने जो सुखका विपक्षी हो वह दुःखका साधक है। सुख और दुःख दोनों ही सप्रतिपक्षी भाव हैं। दुःख है तो सुख नहीं और सुख है तो दुःख नहीं। जब दुःखका विपक्षी मौजूद हो तो वहाँ दुःख न कहलायगा और जब सुखका विपक्षी न हो तो सुख न कहलायगा। सुखका विपक्षी है कर्म और कर्म है दुःखको सिद्ध करने वाला। जीवोंके साथ जब तक कर्म लगे हैं तब तक उन्हें दुःखी ही समझियेगा। दुःखका विपक्षी है सुख। सुखका अदर्शन है यों समझ लीजिए अथवा सुखका विपक्षी चूंकि कर्म है, इस कारण सुख नहीं किन्तु दुःख ही है, यह कह लीजिए। प्रयोजन यह है कि जहाँ सुख न देखा जाता हो वहाँ दुःख ही है ऐसा निर्णय होता है।

विरुद्धधर्मयोरेव वैपक्ष्यं नाऽविरुद्धयोः।
शीतोष्णधर्मयोर्वैरं न तत्क्षारद्रवत्वयोः ॥३२६॥

सुख और कर्ममें विरुद्धधर्मता होनेसे विपक्षत्वकी सिद्धि—जो विरोधी धर्म होता है उसे ही परस्पर विपक्षता हुआ करती है, किन्तु जो एक साथ रह सकता हो याने अविरुद्ध न हो, वह तो वहाँ रह ही सकता, उनमें विपक्षता नहीं हुआ करती। जैसे शीत और उष्ण इन दोनोंमें स्पर्शोंका विपक्ष है। जहाँ शीत है वहाँ उष्ण नहीं, जहां उष्ण है। वहाँ शीत नहीं। इसी प्रकार कर्म और सुखका विपक्ष है, अर्थात् यहां कर्म है वहां सुख नहीं और जहां सुख है वहां कर्म नहीं। कर्मबद्ध जीवके जो उदय उदीर्णा विपाक चलता है वहां सुख न समझना चाहिए बल्कि दुःख ही सिद्ध होता है। तो जहां परस्पर विरोध हो वहां एक हो तो दूसरा नहीं, लेकिन जो अविरुद्ध हों, एक साथ रह सकते हों उनमें कोई विरोध नहीं होता। जैसे समुद्रका पानी खारा भी है और पतला भी है तो खारापनेका पतलापनके साथ बैर नहीं हुआ करता, किन्तु वे एक साथ चल रहे हैं। जिनका परस्परमें कोई विरोध नहीं वे एक साथ रह जाया करते हैं किन्तु जिनका परस्परमें विरोध है वे एक साथ रह ही नहीं सकते। सुख और दुःख इनका विरोध है। दुःख और सुखका अदर्शन इनमें विरोध है। सुख और कर्मविपाक इनमें विरोध है। इस तरह सिद्ध होता है कि जब संसारी प्राणी कर्मबद्ध हैं तो उनके दुःख ही है।

निराकुलं सुखं जीवशक्तिर्द्रव्योपजीविनी।
तद्विरुद्धाकुलत्वं वै शक्तिस्तद्घातिकर्मणः ॥३२७॥

विपक्षत्वकी सिद्धिके लिये सुख और घातिकर्मशक्तिके स्वरूपणमें सुखका विवरण—सुख क्या चीज है, उसका यहाँ स्वरूप बताया जा रहा है। यहाँ इन्द्रियजन्य सुखका अर्थ सुख न लेना, किन्तु आनन्दगुण और आनन्दविकास लेना। यदि शब्दके विश्लेषणकी दृष्टिसे देखा जाय तो यहाँ तीन बातें कहनी चाहिएँ—आनन्द, सुख और दुःख। सुख और दुःख तो आकुलतापूर्ण हैं और आनन्द सो ही निराकुलता धर्म वाला है तो उस ही आनन्दकी बात कह रहे हैं। उसीको यहाँ सुख शब्दसे कहा गया है ऐसा जानकर यहाँ सुनना है। सुख होता है निराकुल। जहाँ आकुलता न हो, जैसे कहना कि आत्माका हित सुख है और सुख क्या है? जहां निराकुलता है और निराकुलता कहाँ है? मोक्षमें, कैवल्यमें। जहाँ कर्म, नोकर्मके उपद्रव नहीं हैं ऐसा जब यह आत्मा केवल होता है तब वहाँ निराकुल आनन्द पाया जाता है। सो जो आनन्द पाया गया उस आनन्दकी शक्ति जीवमें है। जीव स्वयं आनन्दस्वभाव वाला है। सो यह सुख शक्ति इस जीवका अनुजीवी गुण है, अर्थात् जीवका सद्भावात्मक है। कोई ऐसा न समझे कि सुख उसका नाम है जहाँ आकुलता नहीं है। तो आकुलता तो कोई सत्य है, आकुलता कुछ चीज है। वह आकुलता न रहे तो उसीका नाम निराकुलता है। सो निराकुलता कुछ चीज है। निराकुलता है मात्र आकुलताका अभाव कोई ऐसा न जान ले, किन्तु वास्तवमें आनन्द गुण है, आनन्द शक्ति है, उस आनन्दके तीन परिणमन होते हैं। जब अशुभ कर्म उदयमें आता है, पापकर्म उदयमें आता है तो वहां दुःख है। जब पुण्यकर्मका उदय होता है तो वहां सुख है, और जहां कर्मसे रहित अवस्था है या नाशोन्मुख अवशिष्टका जहां कुछ प्रभाव नही है वहां आनन्द है तो ऐसा वह आनन्द ज्ञानकी भांति ही गुण है। हां यह बात अवश्य है कि आनन्दका ज्ञानमें अन्तर्भाव कर लिया जाता है अनुभवके बतानेके लिए। जैसे कोई जीव ऐसे सोचे कि मैं आनन्दस्वरूप हूं, तो उसकी इस अनुभूतिकी पद्धतिसे ज्ञानानुभूति होना सुगम नहीं हो पाता, किन्तु कोई यह अनुभव करे कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूं तो चूंकि जानने वाला तो यह ज्ञानपरिणमन है, ज्ञानने ही जाना और ज्ञानको ही जाना तो वहां स्थिति अभेद हो जाती और यह स्वानुभूति सुगम प्रकट हो जाती है। यों ज्ञानमात्रकी प्रधानतामें आनन्दका अन्तर्भाव कर लीजिये। और वहाँ समझ लीजिए कि ज्ञानका अविनाभावी है आनन्द, फिर भी विश्लेषण करके यह समझा जायगा कि ज्ञान भी एक गुण है और आनंद भी एक गुण है, यों विश्लेषणमें गुणोंका सद्भाव समझमें आयगा और अभेदमें विदित होगा कि वह तो एक ज्ञायकस्वभावमात्र है। यह आनन्द जीवकी उपजीवनी शक्ति है।

सुखविरोधिनी आकुलताका चित्रण—इस सुखशक्तिके अथवा सुखके विरुद्ध है आकुलता, तो उस शक्तिका विपरिणमन समझिये। सुखका विपक्षी है आकुलता। तो वह आकुलता घातिया कर्मोंकी शक्ति है। घातिया कर्मके उदयमें यह आत्मा घाता जाता है, मथा जाता

है और वहां इसका आनन्द भी मथ जाता है, दुःखरूप परिणम जाता है, वहां क्षोभ हो जाया करता है। यद्यपि है आत्मा आनन्दस्वरूप, लेकिन जहां इसकी दृष्टि बाहर गई, मोहकर्मका विपाक हुआ, मुग्ध हो गया, बेहोश हो गया तो फिर वह अपने आपकी ओर उन्मुख नहीं हो पाता। लोकमें बेहोश उसीको कहते हैं जो सही ढंगसे बात न करे, जो सही ढंगसे काम न करे, गड़बड़ काम करे, और होश नाम उसका है कि आत्मा अपने निर्विकल्प ज्ञानस्वभाव मात्र को निरखे, उस ही ओर उन्मुख हो, उसीमें सन्तुष्ट रहे। जिसे ऐसा अपना होश नहीं है, बाहर में कुछ भी विकल्प विचार बनें वह तो बेहोशी है, और जो बेहोश है उसे सुख कहां रखा है? लोग भले ही पागल पुरुषको देखकर सोचते हैं कि यह है बादशाह, क्योंकि वह अगर पढ़ा लिखा था तो व्याख्यान भी अच्छा झाड़ लेता है। कोई किसी पागलसे कुछ व्याख्यान न करवाये या करवाये, उसके सनक आये तो वह पागल कुछ मिनट तक अच्छी-अच्छी बातें भी बोल जाता है और कभी-कभी तो एक राज्यशासन जैसा हुक्म चलाता है, छोटा बड़ा कोई भी व्यक्ति हो उसपर वह हुक्म चलाता है, उसे किसका डर? तो उसकी ऐसी बातें देखकर लोग सोचते हैं कि यह पागल तो बड़ा सुखी है, बादशाह है। और उसे हर कोई खानेको भी दे देता है, इसे कोई चिन्ता फिक्र नहीं। तो लोग सोच बैठते हैं कि यह बड़ा सुखी है, देखो हम लोगोंको तो बड़ी-बड़ी चिन्ता फिक्र लगी हैं। लोग उसकी बाहरी स्थितिको देखकर सोचते हैं कि हमसे सुखी तो यह पागल है। लेकिन बात वहां क्या बीत रही है कि वह पागल तो बेहोशीके कारण निरन्तर अन्तः दुःखी बना रहता है। वह अपने इस अन्तः दुःखको समझ नहीं पाता, तो जैसी बात उस पागलके प्रति है ऐसी ही बात यहांके मोही, पागल, अज्ञानी उन्मत्त प्राणियोंकी है। जिसे अपने आपकी सुध नहीं है, बाहर ही कुछ निरख रहा है उसे अपने दुःखका बोध नहीं है, बस विषयसुख पाये उनका मौज मानता रहता है। तिर्यञ्च, पशु पक्षी, मनुष्य विषयसुखोंके मौजोंमें वह अपने दुःखका भान ही नहीं करता है। ऐसे कठिन दुःखी हैं ये संसारी प्राणी।

घातिकर्मशक्तिका प्रभाव सुखविरोधिनी आकुलता—ये सब दुःख क्यों हुए? ये सब हुए घातिमा कर्मके प्रभावसे। तो कोई यह आशङ्का न रखे कि सुख नामकी कोई चीज नहीं है। केवल घातिया कर्मोंका अभाव होनेसे जो आकुलता न रही उसीको लोग सुख कह दिया करते हैं। ऐसा कोई न समझे, क्योंकि अभाव कोई वस्तु नहीं हुआ करती है। सुख तो एक भावरूप शक्ति है। जैसे ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, चारित्रशक्ति, श्रद्धानशक्ति, इस ही प्रकार आनंद शक्ति भी है, और यह भावरूप शक्ति है, द्रव्यका अनुजीवी गुण है, यह एक स्वतंत्र गुण है और इस सुखका घातने वाला कोई कर्म है तो अलगसे कोई कर्म न मिलेगा। इसके घातनेकी परिभाषा जुदी-जुदी स्थितिको निरखकर जुदे-जुदे उत्तरमें हो सकती है। एक उत्तर यह है कि

जहां दर्शनमोह है वहां सभी गुण घाते जा रहे हैं। दर्शनमोह खत्म हो तो यह आनन्दगुण प्रकट होता है। एक परिभाषामें यह कह सकते हैं कि मोहनीय कर्ममात्र इस सुखका घातने वाला है। जहां मोहनीय कर्म नहीं रहता वहां आनन्द प्रकट हो गया। एक परिभाषामें यह कह सकते कि चार घातिया कर्म जब तक हैं तब तक जीवमें आनन्द प्रकट नहीं है। चार घातिया कर्मोंका क्षय हो तो वहां आनन्द प्रकट होता है और एक परिभाषामें तो यह कहते हैं कि आठों प्रकारके कार्य ही आनन्दका घात करने वाले हैं। जहाँ कर्मका विनाश हुआ वहाँ आनंद प्रकट होता। इन सब परिभाषाओंमें मुख्य अर्थ और प्रासंगिक अर्थ और समझनेके लिए भी पहिला उपयोगी अर्थ यह है कि घातिया कर्मका क्षय होनेपर यह आनन्दगुण प्रकट होता है और तब ही इसका अनन्त आनन्द, अनन्त सुख नाम होता है। तो यह सुखगुण एक भावात्मक शक्ति है और उसका घात करने वाला घातिया कर्म है। उसका क्षय होनेपर आनन्दगुण प्रकट हो जाता है। तो आनन्दको सुखको अभावात्मक न समझिये। जिस जीवमें ज्ञान बसा है वहाँ ही जीवके स्वरूपमें आनन्द भी बसा हुआ है।

असिद्धा न तथा शक्तिः कर्मणः फलदर्शनात्।
अन्यथाऽऽत्मतया शक्तेर्बाधकं कर्म तत्कथम् ॥३२८॥

घातिया कर्मोंमें सुखघातिनी शक्तिका समर्थन—अब इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि घातिया कर्ममें एक प्रभाव है सुख गुण घाता जाता है, यह बात असिद्ध नहीं है। सुख गुणके अभावमें जो आकुलता उत्पन्न होती है वह तो घातिया कर्मकी शक्ति है। घातिया कर्म भाव पद्धतिसे देखें तो घातियाकर्म याने घातने वाले ये सब विभाव इस सुख गुणका घात करते हैं। द्रव्यदृष्टिसे देखो तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—इनका जहाँ तक विपाक है वहाँ अनन्त सुख नहीं प्रकट होता। तो ऐसी शक्ति इस घातिया कर्ममें पायी जाती है कि आत्माका आनन्दगुण प्रकट नहीं हो पाता, यह बात सिद्ध नहीं है। यदि कर्मशक्ति न हो तो आत्माकी शक्तिमें बाधा कैसे आती? बाधा तो है ही। यह सब जीवोंका दुःख है और जब इसमें तारतम्य पाया जाता, किसीको कम दुःख, किसीको अधिक दुःख, किसीको कम सुख, किसीको अधिक सुख आदि, तो जीवमें कोई सुख नामकी शक्ति तो है और उसका घात करने वाला घातिया कर्म है। यह सब उस शङ्काके समाधानमें कहा जा रहा है जो शङ्काकारने यह शङ्का की थी कि जीवोंके अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं है। जो भी दुःख है वह बुद्धिपूर्वक है, मानसिक है, शारीरिक है, इन्द्रियज है। इससे अलग कोई अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं है। तो उस अबुद्धिपूर्वक दुःखको स्पष्ट करनेमें यह एक मौलिक समाधान दिया जा रहा है जिससे पहिले यह सिद्ध किया जा रहा है कि आत्मामें सुख गुण है और उस सुख गुणका घात करने वाला घातिया कर्म है।

नयात्सिद्धं ततो दुःखं सर्वदेशप्रकम्पवत् ।
आत्मनः कर्मबद्धस्य यावत्कर्मरसोदयात् ॥३२९॥

कर्मबद्ध जीवके कर्मरसोदयके कारण सर्वप्रदेशप्रकम्पी दुःखकी सिद्धि––इतने उक्त विवेचनसे यहाँ तक यह निर्णय करके जो कर्मबद्ध जीव है उस जीवके जब तक कर्मोंका रसोदय चल रहा है, विपाक अनुभाग चल रहा है तब तक समझिये कि उसके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें कंपा देने वाला दुःख है । देखिये––दुःखके स्वरूपकी बात इस ओरसे भी समझ सकते हैं कि यह दुःख आत्माके प्रदेशोंको कंपा देता है और यह बात बहुत कुछ स्पष्ट भी मालूम होती है कि जब दुःख होता है जीवके तो यह प्रदेशोंमें कम्पित हो जाता है और कभी-कभी तो शरीरके ऊपर भी इसका दृश्य दिखाई देने लगता है । यही बात वैषयिक सुखमें मिलेगी । सो उसे भी दुःख ही समझें । जीवप्रदेशके कम्पनके साथ अविनाभाव है दुःखका याने जहाँ दुःख है वह प्रदेशचलात्मकता अवश्य है । सो यहाँ यह तो नियम नहीं है कि जहाँ प्रदेशप्रकम्पन हो वहाँ दुःख अवश्य है, किन्तु यह नियम है कि जिस जीवके दुःख और वैषयिक सुख हो रहा है उसके नियमसे प्रदेशकी प्रकम्पता हो रही है । फिर तो जैसे इन कर्मोंके रसोदयमें प्रदेश प्रकम्पन होता है, ऐसा प्रकम्पन वाला यहाँ दुःख पाया जा रहा है । तो प्रकम्पताको साथ लिए हुए यह दुःख है जो कि लोग स्वयं अनुभव भी कर सकते हैं, भीतरमें व्याकुल हैं । कैसा व्याकुल हैं, उस व्याकुलताका यदि हम स्वरूप समझना चाहे तो यह खौलते हुए पानीको निरखकर समझ लो । जैसे कहते हैं कि यह पानी खौल रहा है, उस पानीमें खलबली मच जाती है, नीचेका पानी ऊपर तक पहुंच जाता है, उसी सिलसिलेमें पानीमें छोटे-छोटे बिन्दुओंका बड़ा तेज उबाल होता है । नीचेका पानी ऊपर जाता है और ऊपरका पानी नीचे जाता है । तो जैसे खौलते हुए जलमें एक तेज कम्पन होता है इसी तरह जब यह जीव खौलता है, दुःखी होता है, तो इसके ये प्रदेश कांप जाते हैं । तो ऐसे दुःख हैं जीवोंके, यह बात असिद्ध नहीं, किन्तु भली भाँति सिद्ध है ।

देशतोस्त्यत्र दृष्टान्तो वारिधिर्वायुना हतः ।
व्याकुलोऽव्याकुलः स्वस्थः स्वाधिकारप्रमत्तवान् ॥३३०॥

दृष्टान्तपूर्वक कर्मप्रेरित जीवमें व्याकुलताका चित्रण––उक्त श्लोकमें जिसका निर्णय किया गया है उस ही निर्णयवाली घटनाका यह दृष्टांत दे रहे हैं । उसका एकदेश घातने वाला यह दृष्टान्त है कि जैसे हवासे प्रेरित हुआ समुद्र व्याकुल होता है । जब बहुत हवा चल रही है उस ढंगमें हवा चली, जो उस समुद्रमें बड़ी-बड़ी तरंगें उठती हैं और उनके सम्बंधमें सभी लोग कहते हैं कि यह समुद्र व्याकुल हो रहा है, गड़बड़ा रहा है । इसकी लहरें ऊँची नीची उठ रही हैं, इसलिए व्याकुलता वहाँ दिखती है, और जब वायुसे रहित अपने अधिकारमें समुद्र

आ जाता है तो वह अपनी व्याकुलतासे रहित हो जाता है। यहाँ यह भी देखो कि जब तूफान चल रहा है तो समुद्र अपने अधिकारमें न रहा। यद्यपि बड़ी तरंग उठकर भी है समुद्र, पर समुद्र तो स्थिर रहे, इसीमें उसकी गम्भीरता प्रकट होती है, और उसकी ऐसी एक स्वाभाविक बात भी होती है लेकिन जब तूफान चलता है तो समुद्र अपने अधिकारमें नहीं रहता है और तरंगोंसे व्याकुल बन जाता है। तो जैसे वायुसे रहित समुद्र स्वस्थ है, स्वधिकारी है, व्याकुल नहीं है, और वायुसे ताड़ित हुआ समुद्र स्वस्थ नहीं है, व्याकुल बना हुआ है, इसी प्रकार इन घातिया कर्मोंसे पीड़ित हुआ यह संसारी प्राणी व्याकुल है, स्वस्थ नहीं है, सुखमें नहीं है, और घातिया कर्मका जब अभाव हो जाता है तो यही जीव स्वस्थ है, व्याकुलतासे रहित है और यह कहो कि वह अपने पूर्ण अधिकारमें आ गया है, अपने आपपर पूरा कंट्रोल कर लिया गया है। कहाँ ? उस परमात्म दशामें। तो ये घातिया कर्म हैं जीवके सुख गुणका घात करने वाले और ये घातिया कर्म जब तक इस जीवके लगे हैं तब तक उसके दुःख ही समझना चाहिये।

न च वाक्यं सुखं शश्वद्विद्यमानमिवास्ति तत्।
बद्धस्याथाप्यबद्धस्य हेतोस्तच्छक्तिमात्रतः ॥३३१॥

बद्ध अथवा अबद्ध सभी जीवोंके सुखके शाश्वत विद्यमान रहनेकी शंकाकारकी आरेका—वहां शङ्काकार कहता है कि चाहे कोई जीव कर्मसे बँधा हो, चाहे न बँधा हो, सभी जीवोंमें सुख सदाकाल रहता है क्योंकि आत्मामें सुखकी शक्ति पायी जाती है। शङ्का करने वालेका यह भाव है कि जब आत्मामें सुख नामकी शक्ति है और आत्माका स्वरूप सुखमय है तब फिर ऐसी कोई वजह नहीं है कि वहां सुख न हो, सुख तो वहां सदाकाल ही रहता है। जब शक्ति है आत्मामें तो शक्ति तो नित्य हुआ करती है। तो नित्य शक्ति जब सुख की है तो जीवमें सुख भी सदाकाल है। वहां ऐसा मानना कि कर्मबद्ध जीवमें तो सुख नहीं है और जो कर्मसे मुक्त है उसके सुख है ऐसी दुविधा क्यों डाल रहे हो ? सभी जीव सुखमय हैं, चाहे बद्ध हों, चाहे अबद्ध, ऐसा मान लेना चाहिए। ऐसी शङ्काकारकी शङ्का है। अब इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं।

अत्र दोषावतारस्य युक्तिः प्रागेव दर्शिता।
यथा स्वस्थस्य जीवस्य व्याकुलत्वं कुतोर्थतः ॥३३२॥

बद्ध जीवके शाश्वत सुख रहनेका अभाव सिद्ध करते हुए उक्त शंकाका समाधान—शङ्काकारने जो यह कहा है कि चाहे कर्मसे बँधा हो जीव, चाहे न बँधा हो, सभी जीवोंके दोष आता है। वह दोष यही है कि यदि जीवके दुःख सदाकाल होता तो इसका अर्थ है कि वह जीव सुखमें है। तो सुखमें जब जीव है अर्थात् अपने स्वरूपमें जब वह जीव है, चाहे कर्मका बन्ध हो, चाहे न बन्ध हो तो उसे फिर व्याकुलता क्यों हो जाती है ? उत्तरमें यह

बताया जा रहा कि तब यह मान लिया शङ्काकारने कि सभी जीवोंमें सुख सदाकाल है क्योंकि सुख शक्ति नित्य है और नित्य होनेसे सदा विद्यमान है तो इसके उत्तरमें यह कहा जा रहा कि इसका अर्थ यह हुआ कि जीवका सुख स्वरूप है और सुख नित्य है, इसलिए वह जीव सुखमें सदा रहता है। तो चाहे कर्मसे बद्ध हो अथवा अबद्ध हो, तब सभी जीव स्वस्थ हो गए। अपने सुखमें बने रहना इसको ही तो स्वस्थ कहते हैं। तो कर्मसे बँधा हुआ भी जीव स्वस्थ मान लिया गया, सुखमय मान लिया गया तो फिर उसके व्याकुलता क्यों हो जाती है ? फिर यह व्याकुलता न होनी चाहिये, किन्तु देखे जा रहे हैं दुःखी, इस कारण कर्मबद्ध जीवके सुख नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्याकुलता पायी जा रही है। कोई मनुष्य रोता हो, चिल्लाता हो, पागल हो रहा हो और कहो कि यह जीव सुखमय है तो यह बात कौन मान लेगा ? इस कारण कर्मबद्ध जीवको सुखमय नहीं कहा जा सकता। तब मानना चाहिए कि उसके सुखका अभाव है। यह प्रकरण शङ्काकारकी इस मूल शङ्कापर चल रहा है, जो उसने पहिले शङ्का की थी कि अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं होता। जो होता है वह सब बुद्धिपूर्वक ही है। शारीरिक हो, इन्द्रियज हो, मानसिक हो, ये सारे बुद्धि वाले दुःख हैं, अबुद्धिपूर्वक नहीं। उसका समाधान देते देते जब कुछ यह बात सिद्ध हुई तब शङ्काकारने एक यह शङ्का छेड़ दी कि सभी जीवोंके सुख क्यों न माना जाय, क्योंकि सभी हैं। तो उसका उत्तर देकर उसी साधनको सिद्ध किया गया कि समस्त संसारी प्राणियोंमें सुखका अभाव देखा जाता है, और जब सुखका अभाव देखा जाता है तो अबुद्धिपूर्वक दुःख स्वतःसिद्ध हो जाता है।

न चैकतः सुखव्यक्तिरेकतो दुःखमस्ति तत्।
एकस्यैकपदे सिद्धमित्यनेकान्तवादिनाम ॥३३३॥

एक जीवमें सुख दुःख दोनोंके एक साथ बने रहनेकी आशङ्का—अब शङ्काकार यह कह रहा है कि आप लोग तो अनेकान्तवादी हैं, तो अनेकान्त मान लेना चाहिये कि इस कर्मबद्ध जीवके सुख भी है और दुःख भी है, क्योंकि अनेकान्तमें यही तो माना गया कि एक स्थान में एक पदार्थमें एक जगह दो धर्म हों, अनेक धर्म हों और विरोधी धर्म हों तो सुख और दुःख ये दोनों विरोधी धर्म हैं। तो ये विरोधी धर्म भी उस एक जीव पदार्थमें मान लेना चाहिए। तब यह सिद्ध हो जायगा कि इस एक संसारी जीवमें भी सुख भी प्रकट है और दुःख भी प्रकट है। यों केवल दुःख ही क्यों कह रहे हो ? और यहाँ तक कह डाला है कि सभी कर्मबद्ध जीवोंके दुःख ही है। शुभ कर्मके उदयसे जो मौज माना जा रहा है वह भी दुःख है। जहाँ दुःख स्पष्ट प्रकट हो वह भी दुःख है। और जहाँ न भी दुःख मालूम पड़ रहा हो, लेकिन कर्मका बन्ध है तो दुःख अवश्य है। इस तरह दुःखका एकान्त क्यों किया जा रहा है ? अने-

कान्तका सहारा ले लिया ना कि चाहे निगोद हो, कीड़ा मकोड़ा हो, इनमें सुख भी है और दुःख भी है। अब इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—

अनेकान्तः प्रमाणं स्यादर्थादिकत्र वस्तुनि।
गुणपर्याययोर्द्वैताद् गुणमुख्यव्यवस्थया ॥३३४॥

विपक्षभूत पर्याय होनेसे सुख दुःख दोनोंकी एक जीवमें एक साथ रहनेकी असंभवता— शङ्काकारने जो अनेकान्तका दुरुपयोग करके यह सिद्ध करना चाहा कि इन कर्मबद्ध प्राणियोंमें सुख भी है, दुःख भी है, दोनोंके परिणमन चल रहे हैं। साथ ही साथ ऐसा कहना बिना समझ का है, क्योंकि अनेकांत है तो प्रमाण, मगर किसी प्रयोजनके वशसे एक वस्तुमें गुण और पर्याय नयसे किसीको मुख्य और किसीको गौण करके वहाँ धर्मव्यवस्था बनायी जाती है। जैसे जीव नित्य है और अनित्य है। जब जीवको कहा कि यह जीव नित्य है तब वहां गुणको तो मुख्य किया और पर्यायको गौण किया, क्योंकि जीव तो द्रव्यदृष्टिसे ही नित्य है, पर्यायसे अनित्य है, आज मनुष्य हैं, मरकर देव हो गए, तिर्यञ्च हो गए, कुछ भी हो रहे। आखिर बदलते ही तो रहते हैं। यहाँ भी देख लो—एक ही दिनमें कितनी तरहके परिणाम होते हैं, दो ही मिनटमें कितनी तरहके चढ़ाव उतारके परिणाम होते हैं, तो ये बदलते ही तो रहते हैं। उन दृष्टियोंसे देखा जाय तो जीव अनित्य है। जिस समय जीवको नित्य सिद्ध किया जा रहा है तब तो गुण हुआ मुख्य और पर्याय हुई गौण, इसी तरह जब जीवको अनित्य कहा जाय तो पर्याय हुई मुख्य और गुण हुआ गौण, तो इस तरह गुण और पर्यायमें मुख्य और गौणकी विवक्षा होनेपर विरुद्ध दो धर्मोंकी सिद्धि की जाती है। पर ऐसे विरुद्ध धर्मकी सिद्धि नहीं की जाती कि मुख्य गौण हो जाय और गौण मुख्य हो जाय। इस प्रसंगमें यह बात बतायी जा रही है कि आत्मामें एक आनन्द नामका गुण है और उस आनन्द गुणके तीन परिणमन हुआ करते हैं—(१) एक तो आनन्द (२) सुख और (३) गुण। दुःखको तो सभी लोग जानते ही हैं, लेकिन जो इन्द्रियोंको असुहावना लगे उसका नाम दुःख है और सुख नाम उसका है जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे। आकुलता दोनोंमें है। ये विभावपरिणमन हैं, और आनन्द नाम उसका है कि जहाँ न मौजकी आकुलता है, न दुःखकी। आकुलतासे रहित केवल ज्ञानानुभव की स्थिति हो उसे आनन्द कहते हैं। अब आनन्दके ३ परिणमन हैं—कोई कहे कि तीनों एक साथ हो जायें, सुख दुःख एक साथ हो जायें। इस प्रकरणमें आनन्दका नाम तो सुख दे रखा है और सुख दुःख दोनोंका नाम दुःख दे रखा है, तो यहाँ सुख दुःख दोनोंकी बात कह दीजिए कि जीवमें दुःख भी होता और सुख भी होता, दोनों ही बातें एक साथ होतीं, ऐसा यों न होगा कि ये दोनों एक गुणकी पर्यायें हैं। तो एक गुणकी दो पर्यायें एक साथ नहीं हो सकती हैं। जैसे व्यञ्जन पर्यायमें जरा सुगमतासे समझमें आ जायगा। एक जीव एक ही साथ मनुष्य

भी हो और देव भी हो, यह हो सकता है क्या ? अरे जब मनुष्य है तब देव नहीं, जब देव है तब मनुष्य नहीं, ऐसी बेढंगी दो बातें एक जगह नहीं निपोरी जा सकती हैं। इसी तरह सुख दुःखकी बात समझना चाहिए कि एक गुणकी दो पर्यायें एक साथ नहीं हो सकतीं। कोई इन्हें एक साथ कहे तो वह अनेकान्तका दुरुपयोग है। अनेकान्तका उपयोग होता है गुण और पर्याय में—एक तो मुख्य और एकको गौण करके अनेकान्तका प्रयोग हुआ करता है। तो ये सुख और दुःख ये दोनों ही एक गुणकी पर्याय हैं। तो ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते।

अभिव्यक्ति पर्यायरूपा स्यात्सुखदुःखयोः।
तदात्वे तन्न तद्द्वैतं द्वैतं चेद्द्रव्यतः क्वचित् ॥३३५॥

एक गुणकी दो पर्यायोंका एक साथ रहनेका विरोध होनेसे सुख दुःख दोनों पर्यायों की एक साथ एक जीवमें रहनेकी असंभवता—उसी उक्त श्लोकके कथनसे सम्बंध रखते हुए यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं कि सुख और दुःख इनकी जो व्यक्ति है, सुख और दुःख जो प्रकट हुआ है वह तो पर्यायस्वरूप है तो एक गुणकी इन दो पर्यायोंमें यह बात न घट सकेगी कि दोनों पर्यायें जीवमें एक साथ बन जायें। तो ऐसे दो धर्म अगर कहीं होंगे भी तो द्रव्यतः होंगे, अर्थात् उस द्रव्यका जो गुण और पर्याय दो प्रकारकी बात सामान्य और विशेष दोनोंसे एक को गौण करके एकको मुख्य करके ही द्वैत बनेगा अर्थात् दोनों धर्मोंकी एक साथ सिद्धि हो सकेगी, पर एक ही गुणकी दो पर्यायोंमें एक साथ सिद्धि नहीं हो सकती। तो यहां मूल शङ्का तो यह थी कि अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं है। उसका समाधान देते हुएमें दो आशङ्कायें आयीं—एक आशङ्का यह थी कि जीवमें सदाकाल सुख रहना मान लिया जाय क्योंकि सुखशक्ति नित्य है। उसके उत्तरमें बता दिया था कि सुख जीवमें सदाकाल रहता होता तो यह स्वस्थ कहलाता। फिर संसार ही क्या और व्याकुलता ही क्यों हो ? अतः कर्मबद्ध जीवमें सुख नहीं है। वहां दुःख ही पाया जाता है। दूसरी आशङ्का यह की गई कि चलो सुख दुःख दोनों मान लें, तुम तुम भी राजी हो जाओगे, हम भी, समाधान देने वालेकी भी बात रहेगी, इन शङ्काकारों की भी बात रहेगी और अनेकान्तकी भी ऊँची प्रतिष्ठा हो जायगी। उसके उत्तरमें बताया है कि यों अनेकान्तकी प्रतिष्ठा नहीं होती। वह तो गुण पर्यायके बीचकी बात है, जहां अनेकान्त प्रतिष्ठित होता है। यहां तो एक गुणकी दो पर्यायें एक साथ बता रहे हैं। दो द्रव्योंकी पर्यायें एक द्रव्यमें नहीं होतीं अथवा दो गुणोंकी पर्यायें एक गुणमें नहीं होतीं, इसी तरह एक गुण की दो पर्यायें भी उस पदार्थमें नहीं हो सकती हैं। तो कर्मबद्ध जीवके सुख नहीं माना जा सकता। दूसरी बात मोटे रूपसे यह भी समझ सकते हैं कि देखो—दुःख तो है वैभाविक परिणमन, अशुद्ध परिणमन और सुख है स्वाभाविक परिणमन। तो स्वाभाविक और वैभाविक परिणमन ये दोनों एक साथ कैसे हो सकेंगे ? अतः एक ही समयमें सुख दुःख दोनोंको

बताना ठीक नहीं है।

बहुप्रलपनेनालं साध्यं सिद्धं प्रमाणतः।
सिद्धं जैनागमाच्चापि स्वतः सिद्धो यथागमः ।।३३६।।

कर्मबद्ध जीवके दुःखित्वकी सिद्धि अनुमान प्रमाणसे करके आगमसे सिद्धि करनेका उपक्रम और आगमकी स्वतः प्रमाणताका कथन—अब पहिली शङ्काका उत्तर देनेके बाद शंकाकार कहता है कि बहुत अधिक बोलनेसे क्या प्रयोजन ? बहुत बोला जा चुका है। अब तो यहाँ सारांशपर आइये। हमारा साध्य था कि कर्मबद्ध आत्मा दुःखी है। जो जीव कर्मसे बद्ध हैं उसके दुःख निरन्तर रहता है। वह चाहे कल्पनामें कभी मौज भी मान रहा हो, तो वह उसकी कल्पना है। वह अन्दरमें दुःखी है। तो कर्मबद्ध जीव निरन्तर दुःखी है। यह बात युक्तियोंसे भली-भाँति सिद्ध हो गई, और युक्तियोंसे सिद्ध है सो बताया ही गया है, मगर जैन आगमसे भी यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है, और फिर कोई कहे कि आगम कैसे सिद्ध हुआ ? तो सुनो—अरे आगम तो स्वतः प्रमाण है। आगममें लिखी हुई बातको आगमकी दृष्टिसे निरखा जानेपर वहाँ उसमें तर्क नहीं उठाया जा सकता। वह प्रमाणभूत चीज है। हाँ जब युक्तिके मैदानमें आयें तब युक्ति दी जायगी, पर कोई आगमप्रमाणसे उस बातको समझना चाहता है तो आगम प्रमाण दे दिया, बस मान लेना चाहिए। वहाँ यह तर्क न उठा सकेंगे कि आगम कैसे प्रमाण है ? वह तो स्वतः सिद्ध प्रमाण है। जैसे किसी वस्तुका ज्ञान करना है तो ज्ञान किया जाय, युक्तियाँ दी जायें, बन जायगा प्रमाण, पर किसी चीजको प्रत्यक्षसे जान लिया तो प्रत्यक्षज्ञानमें प्रमाणता कैसे आयी, यह तर्क न उठेगा। प्रत्यक्ष प्रमाण स्वतः सिद्ध है। बाह्य वस्तुमें किए जाने वाले ज्ञानमें तर्क उठाया जायगा। अब उसको सिद्ध कर देने वाला जो प्रमाण है उस ही प्रमाणमें तर्क नहीं उठाया जा सकता कि यह कैसे प्रमाण है ? वह स्वतः सिद्ध प्रमाण है।

आगमकी स्वतः प्रमाणता न मानकर कुतर्क उठानेकी विडम्बना—यदि कुतर्क उठाया जाने लगे—प्रत्यक्ष कैसे प्रमाण है ? आगम कैसे प्रमाण है ? प्रमाण कैसे प्रमाण है ? प्रमाण की प्रमाणतामें भी कुछ बुद्धि जाय, यह भी कैसे प्रमाण है ? तो यह तो इस तरहकी बात हो गयी कि जैसे किसीको क्योंका रोग लग गया। ऐसा रोग वाला स्वस्थ हो ही नहीं सकता। एक ऐसी घटना है कि एक पुरुषको क्योंकी आदत थी, हर बातमें क्यों-क्यों करता था। जैसे हमने ऐसा घर बनाया,....क्यों ?....छत गिर गई,....क्यों ?....पानी चू रहा,....क्यों ? यों हर बातमें क्यों-क्यों करनेकी आदत हो गयी थी। उस क्योंके पीछे उसे बीच-बीचमें बड़ा दुःखी भी होना पड़ता था। उसके मनमें आया कि मैं इस क्योंकी बीमारीको किसी दूसरेके सुपुर्द कर दूं तो अच्छा होगा। सो स्कूलके किसी विद्यार्थीसे कहा—बेटे हम तुमको १००) रु० देते

हैं तुम हमारा यह हर बातमें क्यों-क्यों करनेका रोग ले लो।....अच्छी बात। उसने सोचा कि चलो १००) रु० मिल रहे हैं, क्यों क्यों बोलनेमें क्या बात? अब वह विद्यार्थी जब स्कूल पहुंचा, मास्टरने पूछा—कहो बेटे! तुमने कलका पाठ याद कर लिया?....क्यों?...सुना दीजिए ....क्यों?....अरे क्यों क्या, बेंतोंसे पिटाई पड़ी। अब उस विद्यार्थीने सोचा कि यह क्योंका रोग तो हमें टालना चाहिए। सो वह एक वकीलके पास पहुंचा, बोला—ये १००) रु० लीजिए और हमारा क्योंका रोग ले लीजिए....अच्छी बात। कचहरी लगी थी, जजने कहा—बताइये वकील साहब! यह बात ऐसे क्यों?....क्यों?...नहीं बताइयेगा क्या? क्यों? बस मुकदमा खारिज कर दिया गया। वकीलने सोचा—अरे इस क्योंके रोगको तो हटाना चाहिए, सो किसी अस्पताल पहुंचा और एक मरीजसे कहा—भैया! हम तुम्हें १००) रु० देते हैं, हमारा यह क्योंका रोग ले लो, अपनी दवा-दारु उन रुपयोंसे कर लेना,....अच्छी बात। अब उस मरीजको जब दवा देने डाक्टर आया तो पूछा—अब कैसी तबियत है?....क्यों....अरे दवा लेना है कि नहीं लेना है?....क्यों?....अरे क्यों तो क्यों, चला गया डाक्टर। अब बताओ किसी बातको सिद्ध कर रहे हों, और कोई लगाये उसमें क्यों, जब आगममें ऐसा लिखा है तो आगम प्रमाण क्यों है?....बस उसकी बात आगे न चलेगी। वह तो एक दूसरा विषय हो जायगा। वहाँ आगमकी प्रमाणता सिद्ध हो जायगी, प्रमाण स्वतःसिद्ध हो जायगा। फिर यह क्यों नहीं लगाया जा सकता। आगम तो स्वतः प्रमाणभूत है। वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनिकी परम्परासे निकले हुए ये वचन गुथे हैं और उनमें जो तत्त्व भरे हैं, उनका बड़ा परिचय है, कि चूंकि भगवानकी दिव्यध्वनिके स्रोतसे यह कथन चला आ रहा है इसलिए जैसा बताया है वैसा जानना और फिर स्वतः प्रमाणभूत मानकर समझना है, वहां शङ्का न होनी चाहिए।

चतुर्मुख ब्रह्मासे आगत आगम द्वारा कर्मबद्ध जीवके दुःखकी ही सिद्धि—यहां बतला रहे हैं कि कर्मबद्ध जन्य जो दुःख है, यह बात युक्तिसे भी सिद्ध है और आगमसे भी। आगम का अर्थ है आया, कहांसे आया?....सो कोई लोग तो कहते हैं कि आकाशसे आया, कोई कहते कि ब्रह्मासे आया, कोई और कुछ कहते। यों हर एक कोई अपनी-अपनी बात लगाते हैं। अब जिन लोगोंने ऐसा माना चलो उनकी भी बात ठीक मान लेते हैं, अरे ये सब शास्त्र आकाशसे ही तो आये, आकाश नामक पदार्थसे नहीं, किन्तु आकाशमें ५ हजार धनुष ऊपर अरहंत देव विराजमान हैं, वहांसे दिव्यध्वनि खिरी और यहां नीचे तक बात आयी। वहां गणधरोंने समझा, वहां आचार्योंने समझा, यहां हम आप लोगोंने समझा। तो यह सब आगम आकाशसे ही तो आया, और कहांसे आया? जो लोग कहते हैं कि ये शास्त्र ब्रह्मासे आये हैं और ब्रह्मा हैं चतुर्मुख, तो ठीक है, अरहंत देव भी चतुर्मुख हैं, इन्हींकी दिव्य वाणी तो ये

शास्त्र हैं। तो इस आगमकी प्रमाणताको माननेमें क्या हर्ज है ? यह तो वीतराग सर्वज्ञदेवके पिरूपणके मूलसे आया है। तब ही तो शास्त्रके मंगलाचरणमें कहते हैं कि इसका मूल कारण सर्वज्ञदेव हैं और उत्तरकर्ता फिर आचार्य होते हैं, और उनकी परम्परासे आया हुआ धर्म है। तो ये शास्त्र वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत हैं। इस कारण स्वतः प्रमाण हैं, ऐसे स्वतःभूत आगमसे भी यह बात सिद्ध है कि कर्मबद्ध जीवके दुःख है।

एतत्सर्वज्ञवचनमाज्ञामात्रं तदागमः।
यावत्कर्मफलं दुःखं पच्यमानं रसोन्मुखम् ॥३३७॥

स्वतः प्रमाणभूत सर्वज्ञवचनरूप आगमकी आज्ञारूपता—अबुद्धिपूर्वक दुःख अथवा कर्मबद्ध जीवके साथ सदा काल ही रहने वाला दुःख युक्तियोंसे सिद्ध करके उक्त श्लोकमें यह बताया था कि आगमसे भी यह सिद्ध होता है। उस ही आगमके सम्बन्धमें इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है कि सर्वज्ञदेवके वचनोंको आज्ञामात्र समझना चाहिए। उसीका नाम आगम है, आगमसे कर्मबद्ध जीवके दुःखकी सिद्धि की जा रही है। आगम स्वतः प्रमाण है क्योंकि वह सर्वज्ञदेवका वचन है। सर्वज्ञदेव साक्षात् स्वतः प्रमाण हैं, क्योंकि वे केवलज्ञानमय हैं, इससे बढ़कर और क्या बात होगी ? उनके निकले हुए जो भाव हैं वे तो परिपूर्ण स्वतः प्रमाण ही हैं। सर्वज्ञका जो वचन है उसको आज्ञा समझना चाहिए, जिस आज्ञामें कोई तर्क नहीं लगाया जा सकता, और आज्ञा उसकी मानी जाती है जो हितरूप हो, प्रमाणित हो। तो जो पहिलेसे प्रमाणित स्वभूत किया गया है उसकी जो आज्ञा है उस आज्ञाके अनुसार उस तत्त्वको मान लिया जाता है। भगवन्तकी आज्ञा है, उनके उपदेश वचन हैं, जो उदय है, जो फल है वही दुःख है, अर्थात् रसोन्मुख जो कर्मफल है सो साक्षात् दुःखरूप ही है। वहाँ भी सोच लीजिए कि जब मेरा स्वरूप आनन्दमय है तो उस आनन्दस्वरूपको प्रकट होनेके लिए किसी परकी अपेक्षा नहीं होती। वह स्वयं आनन्दमय है। अब आनन्दस्वरूप चेतनके साथ कोई विरुद्ध पदार्थ उपाधि लगी हो तो उस विरुद्ध उपाधिके सम्बंधके समय इस जीवकी कितनी विचित्र दुर्दशा हो जाती है, और कर्मका उदयमात्र इस जीवके लिए दुःखस्वरूप है।

अभिज्ञानं यदत्रैतज्जीवाः कार्माणकायकाः।
आ एकाक्षादापञ्चाक्षा अप्यन्ये दुःखिनोमताः ॥३३८॥

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, विग्रहगतिस्थ सर्व कर्मबद्ध प्राणियोंके दुःखकी निरन्तरता—इसका अभिज्ञान अर्थात् भले प्रकारसे स्पष्ट जानकारीकी बात तो यहीं मालूम पड़ रही है। एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तकके जितने जीव हैं ये सब कार्माण शरीर वाले हैं। इनके कार्माण शरीर सदा लगा हुआ है। अनादिकालसे लेकर अब तक इस जीवके कार्माण शरीर निरन्तर चला आया है और भले ही उन कर्मोंमें नवीन कर्म आये और

पुराने कर्म गए, लेकिन कार्माण शरीर तो वही चला आया। उसमें थोड़ा आना जाना रहा आया। ऐसा कार्माण शरीर इस जीवके साथ लगा है और तभी यह बात विषम स्थितिमें, दुःखपरिस्थितिमें यह अवस्थित है, और इतना ही नहीं कि ये एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीव दुःखी हैं किन्तु जिनके द्रव्येन्द्रियां नहीं मिल सकतीं, मरनेके बाद विग्रहगतिमें हैं वे भी कार्माण कायवाले हैं और दुःखी रहते हैं। भेदज्ञानका प्रकाश, यह सम्यग्ज्ञान जिसको प्राप्त हुआ है बस वही कृतार्थ है। अब उसे इस जगतमें सताने वाली कोई शक्ति नहीं रही। पूर्वबद्ध कर्मविपाकवश भोग सामग्रियाँ प्राप्त होंगी, पर उनमें ज्ञानी जीव लिप्त नहीं होता। उनसे निराले इस ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्माको ही ज्ञानो निर्णयमें लिए हुए हैं, इस कारण बाह्य बातें उसे सता न सकेंगी। यों समझ लीजिए कि जिसको सम्यग्ज्ञान हो गया है, कुछ यथार्थ अपना बोध हो गया है तो उसके प्रबोधमें उसका सब फल आ जाता कि नहीं? जैसा क्रोध जरा-जरासी बातोंपर पहिले हो जाया करता था वैसा क्रोध अब तो नहीं आता, इसी प्रकार जैसे मान, माया, लोभ आदिक कषायें पहिले हो जाया करती थीं वैसे अब तो नहीं आतीं। तो यह किसका प्रताप है?····भेदज्ञानका। यही भेदज्ञान जिसके दृढ़तम हो जाता है और इस भेदज्ञानके फलमें सर्वपरविविक्त आत्माका ग्रहण होता है, ऐसे जीवके फिर विषय कषायोंकी बुद्धि कहाँसे आयगी? विषयकषाय ही इस जीवके लिए विपत्ति हैं, जन्ममरण उसका आधार है और यह जीव इस तरह दुःखी हो रहा है जन्ममरणके बीचमें कि जैसे कि किसी बाँसके पोरके बीच कोई कीड़ा बैठा हो और बाँसके ओर-छोरमें (दोनों ओर) आग लगी हो। ऐसी दशामें उस कीड़ेकी विह्वलताका क्या ठिकाना, ठीक इसी प्रकार इस संसाररूपी बाँसमें पड़ा हुआ यह प्राणी है। इसके दोनों ओर-छोरमें जन्म और मरणरूपी आग लगी हुई है, अब बताइये इस प्राणीकी विह्वलताका क्या ठिकाना? इस जन्म मरणके बीच भी क्लेशका अन्तर नहीं रहता कि इसे क्षणभर भी तो आराम मिल जाय। अगर यहाँसे मरण करके विग्रह गति में गया तो वहाँ भी इस जीवको आराम नहीं, दुःख है, घोर दुःख है, अबुद्धिपूर्वक दुःख है। लोग ऐसा अज्ञानवश कहा करते हैं कि जब किसी मनुष्यका मरण हो गया तो वह ३ दिन या १३ दिन तक यत्र तत्र भ्रमता फिरता है, उसे कोई ठिकाना नहीं मिल पाता, और जब पंडोंको जिमा देते हैं (खिला पिला देते हैं) तो बस उस जीवका ठिकाना हो जाता है, यह रूढ़ि चलायी है पंडोंने अपने भोजनके लिए, और ऐसी प्रसिद्धि कर रखी है, लेकिन उससे इतनी बात तो कुछ जाननेमें आ जाती है कि मरणके बाद जब तक कि जन्मस्थानपर जीव नहीं पहुंचता वह चाहे दो तीन समय ही क्यों न हो, वहाँ इतना घोर दुःख है कि जैसा लोग ३ दिन या १३ दिनकी बात कहकर दुःख बताते हैं। लो, जब तक वह भ्रमता है तब तक उसको बड़ी विह्वलता रहती है, तो वह है जीवकी विग्रहगति। इस विग्रहगतिका दुःख तो बहुत ही

कठिन है । अबुद्धिपूर्वक दुःख है । जब तक इस जीवास्तिकायके साथ यह कर्मबन्धन लगा हुआ है तब तक सारा ही वह जीवास्तिकाय उलटसा गया है, उसे चैन कहाँ मिलती है ? जहाँ ज्ञान के साधन भी हीन हो जाते हैं वहाँ तो इसके क्लेश बढ़े हुए होते हैं । तो कर्मबद्ध जीवोंके दुःख बना रहता है, इसका अभिज्ञान यह स्पष्ट है कि एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तकके जीव सब दुःखमें पाये जा रहे हैं, क्योंकि शरीर वाले हैं ना, और विग्रहगतिमें रहने वाले जीव जो थोड़े समयको हैं वे ऐसी कार्माण काय वाले हैं अतएव दुःखी हैं ।

तत्राभिव्यञ्जको भावो वाच्यं दुःखमनीहितम् ।
घातिकर्मोदयाघाताज्जीवदेशवधात्मकम् ॥३३९॥

घातिकर्मोदयाघातसे जीवदेशबधात्मक अनीहित दुःखका अभिव्यञ्जन—घातियाकर्मका उदय ऐसा आघात उत्पन्न करता है कि जीवके सारे प्रदेशोंमें मानो घात हो गया, ये सब गुण मथ गये, वहाँ गुण विपरीत परिणम रहे, यही दुःखका सूचक है । तो सारांश यह है कि घातिया कर्मका उदय ही दुःख है । अब जहाँ सर्वघातियाके उदयको ही दुःख बताया गया है तो अब उनमें समझ लीजिए—कुछ अन्तर तो यह है कि दर्शनमोहके उदयमें तीव्र उदय है । दर्शनमोह न रहे, चारित्र रहे तो वहाँ भी दुःख है, दर्शनमोह और चारित्रमोह न रहा, किन्तु ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय रह गया तो यद्यपि बताया गया है कि वहाँ कोई दुःख नहीं है, क्योंकि मोहकर्म सब समाप्त हो गया है, मगर उस आत्मामें कुछ कमी ही तो है । उन शेष तीन घातिया कर्मोंके उदयमें, सो वह न्यूनता, इस जीवके लिए दुःखरूप हो रही है । तो घातिया कर्मोंका उदय सर्वदुःखरूप है, और यह तो इतनी ही बात है । खेदकी बात तो यह भी है कि अघातिया कर्म इस जीवके साथ रह रहे हैं, अरहंत अवस्था जीवके शुद्ध विकास होनेके कारण पूज्य मानी गई है । उत्कृष्ट है, मगर अब भी जो कर्मबन्ध होता है, अघातिया है क्या यह भी उत्कृष्टताकी बात है ? उसे तो ध्वंस किया जायगा । परम उत्कृष्ट परम शुद्ध सिद्ध दशा प्रकट होती है । तो ये कर्म बैरी इस जीवके साथ लगे हैं, इनको उस तरहसे धुनना योग्य है जैसे कि एक रुई धुनता है । मानो आधा सेर रुईको धुनिया धुननेके लिए बैठा तो वह क्या करता है कि अपने ताकपर पहिले रुईको रखता है फिर उसे धुनकर अलग-अलग कर देता है । उन अलग-अलग हुए रुई-खण्डोंको फिर दुबारा, तिबारा अथवा चौबारा भी धुन धुनकर उसके लच्छे लच्छेको अलग-अलग कर देता है, फिर उस रुईमें रही सही छोटी मोटी फुटकियोंको भी धुन करके रुईको बिल्कुल निर्मल बना देता है, ठीक इसी प्रकार योगी जन इन कर्मोंको इस तरहसे धुन देते हैं कि जिसमें फिर ये कर्म फटकने नहीं पाते । कर्मोंका धुनना यही है कि अपने ज्ञानबलसे जो भावकर्म हैं उनको निरन्तर छाँट छाँटकर धुनते रहना । उन भावकर्मोंको धुननेपर कर्म अपने आप धुन जायेंगे । जैसे लोकमें कहते हैं कि शत्रुका अंश भी

रह जाना बुरा है। एक राजा किसी शत्रुपर चढ़ाई करता है और उसका सब विध्वंस कर देता है, पर यदि उसके वंशमें कोई बच्चा भी जीवित है तो वह भी उस राजाके लिए बुरा ही है। (यह एक लौकिक बात कही गई है)। यहाँ इस तरहसे समझ लेना चाहिए कि ये कर्मबैरी इस जीवकी समस्त प्रकारकी विपदाओंके कारणभूत हैं। तो ये कर्मबैरी जरा भी न रहने चाहिएँ। यहां कोई बाहरी जीवकी बात नहीं कही जा रही, किन्तु अपने आपमें ही उदित होने वाले इन विषयकषायके भावोंकी बात कही जा रही है। नहीं तो कोई ऐसा समझे कि जैसे कि राजाने उस शत्रु राजापर जरा भी दया नहीं की, निर्दयी हो गया, ऐसे ही ये योगीश्वर भी निर्दयी हो गए। अलंकारमें कह लो कि हाँ वे योगीश्वर निर्दयी हो गए, क्योंकि उन्होंने समस्त प्रकारके कर्मशत्रुओंका विध्वंस कर दिया। तो ठीक है, अलंकाररूपमें उन्हें निर्दयी कह लो, पर वह योगीश्वरोंकी निर्दयता नहीं है, वह तो उनकी परम करुणा है।····किस पर?····अपने आपके कारणपरमात्म तत्त्वपर। जो कर्म उस आत्मतत्त्वके घातक हैं, जो उस पर अन्याय मचाये हुए हैं, जिनके कारण मैं स्वयं परमात्मतत्त्व नीच अवस्थाको प्राप्त होता हूं, वे कर्म, भावकर्म दूर किए जा रहे हैं। यह तो परम दयाकी बात हो रही है। यों समझिये कि जैसे किसीपर तूफानका उपसर्ग हो, यहाँ वहाँसे उड़ते हुए तमाम कंकड़ पत्थर लग रहे हों ऐसे पुरुषको उन कंकड़ पत्थरोंसे बचा करके एक आरामघरमें बैठा दिया जाय, उसको रक्षित बना दिया जाय तो यह तो उसकी एक परमदयाकी बात है, ठीक इसी प्रकार ये रागादिक अचेतन भाव जिसको पीड़ा दे रहे हैं उसे यदि इन रागादिक भावोंकी पीड़ासे बचाकर किसी आनन्दधाममें बिठाकर रक्षित कर दिया जाय तो यह तो उसकी एक परमदयाकी (करुणाकी) बात है। ये बद्धकर्म इस जीवको इस तरहसे घात रहे हैं कि जीवके सर्व प्रदेशोंमें बंध हो रहा है, मानो इसी भवमें इस तरह जब तक कर्मोंका उदय बना हुआ है तब तक जीवको दुःख ही है, उसे सुख न कहा जायगा। इस लोकमें सुख तो लोग दुःखकी कमीको कह बैठते हैं। दुःख जरा कम हुआ तो कम क्या हुआ? एक ओरके उपयोगकी बात गई, कमी हो गयी, मगर साथ ही दूसरा दुःख तो मान लिया गया। तो दुःखकी थोड़ी बहुत कमीको लोग सुख कह देते हैं, पर वास्तवमें वह दुःख ही हैं चाहे थोड़े अंशमें रहें। तो सभी कर्मबद्ध जीवों के निरन्तर दुःख ही रहता है।

अन्यथा न गतिः साध्वी दोषाणां सन्निपाततः।
संज्ञिनां दुःखमेवैकं दुःखं नाऽसंज्ञिनामिति ॥३४०॥
महच्चेत्संज्ञिनां दुःखं स्वल्पं चाऽसंज्ञिनां न वा।
यतो नीचपदादुच्चैः पदं श्रेयस्तथामतम् ॥३४१॥

कर्मोंकी दुःखहेतुता—यहाँ किसी जिज्ञासुकी एक जिज्ञासाका समाधान कर रहे हैं कि

यदि कोई सोचे कि कर्म दुःखके कारण नहीं हैं, यों यदि कर्मको दुःखका कारण न माना जाय तो फिर दुःखके कारणका और कोई उपाय ही नहीं है। फिर सिद्ध करिये कि ये जीव जो दुःखी हो रहे, विकल हो रहे, इनके दुःखका कारण क्या है? कोई गुस्सा होकर अपने आपमें जल भुन रहा है, कोई मान कषायमें आकर अपनेको ऐंठा कर दुःखी कर रहा है, माया लोभके रंगमें ये जो घुले जा रहे हैं तो इनके दुःखका कारण क्या है, सो तो बताओ। कर्मको दुःखका कारण तो माना नहीं इस जिज्ञासु ने तो और क्या बताओगे? जिसे बताओगे जो कुछ भी कहोगे वह होगी कोई सूक्ष्म बात। उसीका नाम कर्म रख लीजियेगा। किसी बाह्य उपाधिके सम्बन्ध बिना जीवको दुःख नहीं होता। तो कर्म दुःखका कारण है। कर्मको दुःखका कारण न माना जाय तो उसमें अनेक दोष आते हैं। वे दोष क्या हैं? यही तो दोष हैं। कारण तो कुछ है, माना नहीं और दुःखी हो रहे हैं जीव। तो जो अहेतुक बात है, बिना कारणके होने वाली बात है उसको दूर कैसे किया जा सकता है? तो यदि कर्मोंको दुःखका कारण नहीं माना जाता तब फिर इन जीवोंको दुःख कैसे होता? इसका कारण तो बताओ?

कर्मोदयाघातसे संज्ञी व असंज्ञी सभी प्राणियोंके दुःखका अभिव्यञ्जन एवं असंज्ञियों की संज्ञियोंसे भी अधिक दुःखविशिष्टता तथा निकृष्टता—अब यदि कोई ऐसा मानता है कि चलो कारण रहा इसके दुःखका कर्म, लेकिन संज्ञी जीवोंको ही दुःख है। यदि कोई ऐसा माने तो यह भी बात उसकी सत्य नहीं हो सकती। असंज्ञी जीवोंमें इन कीड़े मकोड़ोंको ही देखो ये कितने विह्वल होते हैं? किसी चींटीको या खटमलको छेड़ दिया जाय तो देखिये वह कितना विह्वल होकर यहां वहां तेजीसे भागता है? उसकी क्रिया यह नहीं सिद्ध कराती है कि इस जीवको बहुत दुःख होता है? तो संज्ञी जीव ही दुःखी हैं असंज्ञी नहीं, ऐसी मान्यता सत्य नहीं है और कदाचित् जिज्ञासु यह कहे कि चलो असंज्ञियोंके भी दुःख मान लो—लेकिन इतना फर्क है कि संज्ञियोंको तो बड़े दुःख हैं और असंज्ञियोंको कम दुःख हैं और यहाँ हम आप लोगोंको दिखता भी है कि अगर मनुष्य अधिक दुःखी हो गया तो कहो अपनी झोंपड़ी भी जला दे या और भी न जाने क्यासे क्या अनर्थ करदे, पर यदि किसी पशु पक्षीको अधिक दुःख हो जाय या किसी कीड़ा मकोड़ाको अधिक दुःख हो जाय तो वह इतना अनर्थ करता हुआ नहीं देखा जाता है। और फिर इन पेड़ पौधोंको देख लो, इन आग, पानी आदि को देख लो ये तो कुछ भी दुःखी नहीं मालूम होते, अथवा उनके कोई दुःख है ही नहीं, तो इससे मालूम होता है कि संज्ञी जीवोंको बड़ा दुःख है और असंज्ञियोंको उनसे कम। तो इस के समाधानमें कहते हैं कि ऐसा सोचना भी गलत है, क्योंकि एक नीति है कि नीचस्थानसे उच्चस्थान श्रेष्ठ माना गया है। अब यह बतलाओ कि संज्ञियोंका उच्चस्थान है कि असंज्ञियों

का ? असंज्ञियोंका स्थान उच्च तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उनकी दशा प्रत्यक्ष हम आप देख ही रहे हैं। हां यदि हठ करके आप असंज्ञियोंका स्थान उच्च मानते हैं तब तो फिर आप असंज्ञियोंके सिरताज जो एकेन्द्रिय हैं उनको सिद्धके समान कह डालिये। पर ऐसी बात तो है नहीं। इससे भी सिद्ध है कि असंज्ञियोंका स्थान संज्ञियोंकी अपेक्षा नीचा है। अब देखो—नीच पदसे उच्चकी श्रेष्ठता मानी गई है। सो यह सिद्ध हो गया कि संज्ञी जीवोंसे असंज्ञी अधिक दुःखी हैं। हाँ इतनी बात अवश्य है कि असंज्ञी जीवोंको अपने दुःख प्रकट करनेके साधन विशेष नहीं मिले हुए हैं और इन संज्ञी जीवोंको दुःख प्रकट करनेके साधन विशेष मिले हुए हैं। एक साधन तो यही है कि संज्ञी जीव बोल लेते हैं, बात कर लेते हैं। यदि संज्ञी जीव दुःखी होगा तो वह अपने दुःखको व्यक्त कर देगा, किन्तु असंज्ञी जीव अपना दुःख दूसरोंको कैसे व्यक्त कर सकेगा ? यहाँ एक जीता-जागता उदाहरण ले लीजिये। जैसे कोई गाय बाहर बंधी है। वह धूपमें खड़ी हुई भूख प्यासकी वेदनासे पीड़ित हो रही है तो वह बेचारी गाय संज्ञी होकर भी अपने दुःखको सही तौरसे व्यक्त कहाँ कर पाती ? हाँ फिर भी रंभा कर दुःख व्यक्त कर देती, पर उसके दुःखको वही जाने। अथवा जैसे किसी मनुष्य को ही उसके मुँह, कान, नाक, आँख आदिक समस्त इन्द्रियोंको बन्द करके जमीनमें किसी गड्ढेमें गाड़ दिया जाय तो वह अपने दुःखको व्यक्त तो नहीं कर सकता, पर उसको क्या दुःख होता है उसका अनुभव वही कर सकता है। ठीक इसी प्रकारसे समझ लीजिए कि असंज्ञी जीवोंको अपने दुःख व्यक्त करनेकी शक्ति नहीं मिली हुई है इससे वे अपने दुःखोंको व्यक्त नहीं कर पाते और हम आप उनके दुःखका अनुभव नहीं कर पाते, पर उनको क्या दुःख होता है उसका अनुभव वे ही करते होंगे।

असंज्ञियोंसे संज्ञियोंके विकासकी श्रेष्ठता—अब संज्ञी और असंज्ञीमें उच्चता नीचता का परिचय करनेके लिए उनके शारीरिक विकास पर भी कुछ ध्यान दें—इन पृथ्वी, जल, अग्नि आदिक जीवोंके आकार देखो—इनके हुंडक संस्थान है, और वह भी बेढब। जब जीव दो इन्द्रिय हुआ तो इसमें शरीरका भी कुछ विकास है। शरीर तो मिला, पर हाथ पैर आदि नहीं मिले। जब तीनइन्द्रिय हुआ तो पैर भी मिल गए। चारइन्द्रिय हुआ तो हाथ भी मिल गए, लेकिन वे हाथ मनुष्योंके जैसे निकले नहीं हैं, एक पंखके ढंगके हैं और पञ्चेन्द्रिय हुआ, पक्षी हुआ तो हाथ पैर भी मजबूत मिले मगर पंखके रूपमें ही हाथ मिले, और पशुओंमें बन्दर हुए तो देखो कैसे मनुष्यों जैसे हाथ पैर मिल गए, पर वे उन हाथ पैरोंका उपयोग मनुष्योंके ढंगसे नहीं कर सकते क्योंकि मनुष्योंकी जैसी बुद्धि उनमें नहीं है। अब मनुष्य हुआ तो इसके सम्पूर्ण अंग बन गए, सारी बात ठीक बन गई, बुद्धि भी मिल गई। तो प्रयोजन कहने का यह है कि असंज्ञियोंकी अपेक्षा संज्ञियोंमें शारीरिक दृष्टिसे भी विकास

अधिक है, आन्तरिक ज्ञानकी अपेक्षा भी विकास अधिक है। विकासका स्थान पतनके स्थान की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। अतः यह शंका मनमें कभी न लानी चाहिए कि संज्ञियोंकी अपेक्षा असंज्ञी कम दुखी हैं। असंज्ञीका संज्ञीसे नीचा दर्जा है। अतः संज्ञियोंकी अपेक्षा असंज्ञी कम दुःखी हैं। असंज्ञीका संज्ञीसे नीचा दर्जा है। अतः संज्ञियोंकी अपेक्षा असंज्ञी कम दुखी हैं, ऐसा सोचना मिथ्या है।

न च वाच्यं शरीरं च स्पर्शनादीन्द्रियाणि च।
सन्ति सूक्ष्मेषु जीवेषु तत्फलं दुःखमङ्गिनाम् ॥३४२॥

सूक्ष्म जीवोंके भी शरीर, और स्पर्शनादिक इन्द्रिय होनेके कारण शारीरिक और इन्द्रियज ही दुःख होनेके कारण अबुद्धिपूर्वक दुःखकी असिद्धिकी आरेका—मूल शंका यह चल रही थी कि जीवोंमें अबुद्धिपूर्वक दुःख पाया जाता है और उसका हेतु दिया गया था सुखका अदर्शन। चूँकि इन जीवोंमें सुख नहीं देखा जाता, इससे सिद्ध है कि इनमें दुःख है और जिनका दुःख स्पष्ट समझमें नहीं आता उनके अबुद्धिपूर्वक दुःख है, इस पर शंकाकारने फिर यह कहा था कि अबुद्धिपूर्वक दुःख तो कोई होता ही नहीं है। जितने भी दुःख होते हैं वे शारीरिक हों, मानसिक हों, इन्द्रियज हों, इनको छोड़कर अन्य कोई दुःख नहीं होता। तब यह समाधान दिया गया था कि जो एकेन्द्रिय आदिक जीव हैं, सूक्ष्म जीव हैं उनमें भी दुःख पाया जाता है। इससे सिद्ध है कि कोई अबुद्धिपूर्वक दुःख होता है। इस समाधानके प्रतिशंकाकार अब यह कह रहे हैं कि जो सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदिक जीव हैं उनमें स्पर्शन आदिक इन्द्रियां तो पायी जाती हैं शरीर पाया जाता है तब उनको भी जो दुःख हुआ है वह शरीर के कारण हुआ है, इन्द्रियके कारण हुआ है। शरीर और इन्द्रिय, मनके अतिरिक्त अन्य कोई दुःख नही होता है। तो शंकाकार अपनी मूल शंकाके दिये गए समाधानके उत्तरमें कह रहा है यह कि अबुद्धिपूर्वक दुःख और कुछ नहीं है। जो भी दुःख है वह शारीरिक है, इन्द्रियज है, मानसिक है। जो एकेन्द्रिय आदिक जीवोंको बात कहकर अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। वह युक्त नहीं है, क्योंकि वहाँ शरीर पाया जा रहा है, इन्द्रियाँ पायी जा रही हैं। अब इस शंकाके समाधानमें कह रहे हैं—

अव्याप्तिः कार्मणावस्थावस्थितेषु तथा सति।
देहेन्द्रियादिनोकर्मशून्यस्य तस्य दर्शनात् ॥१३४३॥

विग्रहगतिस्थ जीवके शरीर और इन्द्रिय न होनेपर भी दुःखका सद्भाव बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—उक्त शंकाके उत्तरमें कहा जा रहा है कि यदि केवल शारीरिक और इन्द्रियजन्य ही दुःख माना जाय ? यहाँ शंकाके उत्तरमें कह रहे हैं इसलिए दो दो की बातें कही हैं। यदि केवल शारीरिक और इन्द्रियजन्य दुःखको ही दुःख माना जाय, इसके

अतिरिक्त और कोई दुःख माना ही न जाय तो जरा यह तो बतलाओ कि जिस जीवने मरण किया है और जन्मस्थानको जा रहा है, विग्रहगतिमें है तो विग्रहगतिकी दशामें पूर्व शरीर तो है यही, उत्तर शरीर ग्रहण नहीं किया तो उस समय न तो शरीर है, न इन्द्रियाँ हैं तो क्या उसे दुःखी न कहेंगे ? क्या वह प्रभु सिद्धकी तरह सुखी बन जायगा ? अरे विग्रहगतिमें भी बहुत क्लेश हैं, वह तो अबुद्धिपूर्वक दुःख हैं । तो केवल शरीर और इन्द्रियजन्य ही दुःख नहीं है, किन्तु कर्मबद्ध जीवके घातियाकर्मोंके उदयकी आफतके कारण सर्वप्रदेशोंमें महान दुःख निरन्तर पड़ा रहता है । इस कारण यह हठ न करें कि शारीरिक, इन्द्रियज और मानसिकके जो दुःख हैं, जो अनुभवमें आ रहे हैं वे ही दुःख हैं, इनके अतिरिक्त अन्य कोई दुःख नहीं हैं । यह निर्णय रखना चाहिये कि जब तक जीवके साथ कर्मबन्धन है तब तक इस जीवके निरन्तर ही क्लेश रहा करते हैं ।

अस्ति चेत्कार्मणो देहस्तत्र कर्मकदम्बकः ।
दुःखं तद्धेतुरित्यस्तु सिद्धं दुःखमनीहितम् ।।३४४।।

विग्रहगतिस्थ जीवके कार्माणशरीरके कारण दुःख बतानेपर प्रकृत कर्मोदय हेतुक दुःखकी सिद्धिका समर्थन—अब शंकाकार यह कह रहा है कि जो विग्रहगतिका उदाहरण देकर समाधान दिया गया है कि देखो–विग्रहगतिमें जीवके न शरीर है, न इन्द्रियाँ हैं, फिर भी दुःख ही रहे, इस कारण शरीर और इन्द्रियसे भिन्न कोई दुःख हुआ करता है । इसके उत्तरमें शंकाकार यह कह रहा है कि देखिये—जब विग्रहगतिमें जीव रहता है तो वहाँ कार्माण शरीर तो है, फिर कैसे उनके शरीरका अभाव कहा जायगा ? इसीसे विग्रहगतिमें भी दुःखी रहते हैं । विग्रहगतिमें भी जो जीव दुःखी रहा वह शरीरजन्य दुःखसे दुःखी रहा और वह शरीर है कार्माणशरीर, इस कारण शरीरजन्य दुःख विग्रहगतिमें भी है । शरीर इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ दुःख ही दुःख है, अन्य कोई दुःख नहीं है, यह बात फिर निर्बाध सिद्ध हो जाती है । कार्माणशरीर वाले विग्रहगतिमें रहने वाले जीवके साथ अव्याप्ति दोष नहीं दिया जा सकता कि शरीर तो वहाँ नहीं है और दुःख पाया जा रहा है । शरीरजन्य दुःख ही वास्तव में दुःख है । इसकी व्याप्ति तब ही तो बनती है कि जहाँ-जहाँ शरीर हो वहाँ-वहाँ ही दुःख है । जहाँ शरीर नहीं वहाँ दुःख नहीं । तो विग्रहगतिमें औदारिक वैक्रियक स्थूल शरीर नहीं है लेकिन कार्माणशरीर तो है ? अब इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि बहुत ठीक कह रहे हैं शंकाकार कि विग्रहगतिमें कार्माण शरीर है सो कार्माण शरीरका अर्थ क्या है ? कर्म, तो यही तो रहा कि कर्मके कारण दुःख है । तो कर्मबद्ध जीवके निरन्तर दुःख है तथा कहीं बुद्धिपूर्वक दुःख है और अबुद्धिपूर्वक दुःख तो सर्व संसारियोंमें है, इसमें कोई संदेह नहीं रहा । जब औदारिक आदिक स्थूल शरीर होते हैं तब भी कर्मके कारण दुःख है और जहां

श्रौदारिक श्रादिक स्थूल शरीर नहीं हैं वहाँ भी कर्मकी वजहसे दुःख है श्रौर जो मूल सिद्धान्त कहा उसका प्रतिकार शङ्काकारने किया, इसलिए यह बात सिद्ध हो गयी कि कर्म ही दुःख देने वाला है ।

अपि सिद्धं सुखं नाम यदनाकुललक्षणम् ।
सिद्धत्वादपि नोकर्मविप्रमुक्तौ चिदात्मनः ।।३४५।।

कर्म श्रौर नोकर्मके छूट जानेपर ही जीवके वास्तविक सुखकी उपलब्धि—दुःखके सम्बंधमें बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया कि दुःख होता है कर्मबन्धनके कारण। कर्मबद्ध जीवके शाश्वत दुःख रहता है, बुद्धिपूर्वक हो या श्रबुद्धिपूर्वक ही हो, श्रतः कर्मसम्बंध हेय है । कर्मबन्धसे दुःख होता है—यह बात बतानेके पश्चात् श्रब यहाँ यह कह रहे हैं कि वास्तविक सुख क्या है श्रौर वह कहाँ होता है ? इसका वर्णन करके ग्रंथकार संकेतमें कहते हैं कि देखो दुःखका जो वर्णन किया गया है उसी वर्णनसे ही सिद्ध हो जाता है कि सुख क्या है श्रौर सुख कहाँ है ? सुख क्या है ? जहाँ श्रनाकुलता है । दुःख क्या था ?···जहाँ श्राकुलता थी, व्याकुलता थी, सर्व जीव प्रदेशोंमें विह्वलता थी, वह तो दुःख था, श्रौर वह जहाँ न रहा बस वही सुख है श्रर्थात् व्याकुलता न रहे, श्राकुलता ही न हो, इसका नाम सुख है श्रौर यह सुख मिलता कहां ? श्रौर कब है ? तो बतलाश्रो दुःख मिलता क्यों था श्रौर कब था ?···उसका जो उत्तर होगा वह इसका प्रतिपक्ष उत्तर हो जायगा—दुःख हो जायगा कर्मबन्धनमें, तो उत्तर हुश्रा कि कर्मबंधन न रहे, कर्मका सम्बंध हट जाय तो सुख हो जाय । तो दुःख कहाँ हो जाता है ? संसार श्रवस्थामें, जन्ममरणसे परिपूर्ण श्रवस्थामें । यही परिवर्तन उसमें हो रहा था, तो सुख कहां होगा ? जहाँ जन्ममरण न रहा, परिवर्तन न रहा वहाँ सुख होगा । तो तात्पर्य यह निकला कि जब जीवके कोई प्रकारके कर्मोंका बन्धन नहीं रहता तो उसको निराकुल सुख प्राप्त होता है श्रौर वह है सुख निराकुलता रूप । इसका श्रर्थ यह न लेना कि श्राकुलताका श्रभाव होना सो सुख है श्रर्थात् उसे मात्र सुख है, सुख कोई सद्भावात्मक नहीं है, किन्तु श्राकुलतायें न रहें इस शून्यका नाम श्रानन्द है तो श्रानन्द शून्य नहीं है । यह तो उस श्रानन्द की तारीफ की गई है कि वहाँ श्राकुलता नहीं है, पर श्राकुलता के श्रभावका नाम सुख है सो बात नहीं, किन्तु सुख है एक परम श्राल्हाद रूप । वह सुख कहां है—ऐसा पूछा जानेपर दुःखकी श्रोरसे बताया जायगा कि जहाँ दुःख नहीं है बस ऐसा है वह श्रानन्द । तो महान दुःख (श्रनंत दुःख) था इस संसार श्रवस्थामें, पर वह श्रब नहीं रहा, बस श्रानंदगुणकी शुद्ध श्रवस्था प्रकट हो गयी । जहाँ श्राकुलता नहीं वहाँ सुख है क्योंकि वहाँ कर्म नोकर्म तक बिल्कुल दूर हो चुके हैं ।

ननु देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धः परमात्मनि ।
तदभावे सुख ज्ञानं सिद्धिमुन्नीयत कथम् ॥३४६॥

इन्द्रियजज्ञान और सुखकी दोषबहुलताके कारण हेयता—इस श्लोकसे पहिले उक्त प्रसंगमें यह सिद्ध किया गया था कि संसारी जीवोंको शाश्वत दुःख है और अबुद्धिपूर्वक दुःख तो निरन्तर लगा ही हुआ है । जिन जीवोंको वैषयिक सुखोंमें सुख मालूम होता है उनके भी दुःख निरन्तर चल रहा है और वे उस ही दुःखकी वेदनासे त्रस्त होकर विषयसाधनोंकी खोज करते हैं और विषयोंको भोगते हैं । भोगनेका कारण दुःख है । भोगते समयमें भी तृष्णाके कारण दुःख है, भोगनेके बाद भी दुःख है, यह तो संज्ञी जीवोंमें स्पष्ट मालूम होता है, किन्तु जो असंज्ञी जीवमें एकेन्द्रिय आदिक हैं उनमें भी दुःख पाया जाता है और जिन जीवोंके देह नहीं है, इन्द्रियाँ नहीं हैं, किन्तु कर्म लगे हैं, ऐसे विग्रहगतिके जीवके न कुछ शरीर मिला, न अंगका शरीर रहा, किन्तु एक कर्म है वही उनके शरीर हैं, ऐसे विग्रहगतिके जीव भी निरन्तर दुःखी हैं, ऐसे दुःखपूर्ण संसारमें विश्राम आराम मौज क्या लेना ? इनसे निवृत्त होनेमें ही श्रेय है, और फिर साथ ही पहिले यह भी बताया गया था कि जिस इन्द्रियज्ञानपर हम आप इतराते हैं, जिसपर अपनी बड़ी चतुराई समझते हैं, और जिस ज्ञानके आधारपर विकल्प करके विकल्पोंका आग्रह किया करते हैं वे सब इन्द्रियज्ञान हेय हैं, क्यों हेय हैं ? तो प्रथम बात तो यह है कि वह इन्द्रियज्ञान बहुत कम जानता है और बड़ी पराधीनतासे जानता है । उसमें कितने दोष हैं ? तो पहिली बात यह कही कि इन्द्रियजज्ञान केवल मूर्त पदार्थोंको जानता है, और मूर्तमें भी स्थूलको जानता है और स्थूलमें भी ग्राह्यको जानता है । वहां भी सन्निहितको जानता है, जो सामने हो, इतनेपर भी जब इन्द्रिय और पदार्थका योग्य सन्निधान, सन्निकर्ष हो तब जानता है, और इतनेपर भी वर्तमानको ही जानता है, भूत भविष्यको नहीं जानता, और वर्तमानमें भी सबको नहीं जानता, कुछको जान पाता है । जैसे चक्षुइन्द्रियसे जाना तो रसभर जान पाया और कुछ नहीं समझ पाया और इतना भी जो कुछ जान पाता है वह भी एक बड़ी पराधीनतासे जान पाता है । उसमें क्षयोपशम होना चाहिए, फिर उपयोग होना चाहिए और उपयोग होनेके लिए पञ्चेन्द्रिय कर्म या मानसिक कर्म भी होना चाहिए, उसके लिए बन्ध होना चाहिए । बंध भी कर लिया तो अब कोई झोंका ऐसा नहीं आया कि उसका संक्रमण बन जाय, तो उसका सत्त्व रहना चाहिए, इतना होनेपर भी उपयोग उस तरह हो तब ज्ञान होगा, और इतनेपर भी बाह्य साधन मिले हुए हों तब ज्ञान होगा । प्रकाश भी मिला हुआ हो और तद्विषयक ज्ञानका संस्कार भी चल रहा हो तब जाकर ज्ञान होता है । इन कारणोंमें से कोई भी कारण कम हो तो नहीं होता है, यह तो है हमारे इन्द्रियज्ञानकी

अज्ञताकी बात । उसमें दोष और भी देखिये—यह इन्द्रियज्ञान निकृष्ट ज्ञान है, एक दुःखमय ज्ञान है । विकल्पोंका साधन यह इन्द्रियज ज्ञान बन रहा है, ऐसे इन्द्रियज ज्ञानमें विश्राम न लेना चाहिए । जैसे ये इन्द्रियज ज्ञान हेय हैं इसी तरह ये इन्द्रियजन्य सुख भी हेय हैं । जो अध्रुव हैं, विषम हैं, क्षणिक हैं, अपवित्र हैं, अपूर्ण हैं, ऐसे इन इन्द्रियज सुखोंमें क्या विश्राम लेना ?

केवल आत्मद्रव्यकी दृष्टिमें शुद्ध ज्ञान और सुखका अभ्युदय—आत्माका आनन्द तो आत्माके स्पर्शमें, आत्माकी, दृष्टिमें, विशुद्ध आत्मद्रव्यमें है । विशुद्धके मायने यहाँ अरहंत सिद्ध नहीं, किन्तु जब मैं सत् हूं तो अपने आप केवल तो जरूर हूं, ऐसा जो पदार्थ होता है वह केवल होता है, फिर उससे सम्बंध बन जाय, उसकी पर्याय हो, विघात हो, पिण्ड हो, कुछ हो, लेकिन सत् जो भी होगा वह नियमसे केवल ही होगा । केवल होकर ही वह सदा रह सकता है, दूसरेसे मिलकर स्वरूपमें एक होकर कोई सत् नहीं रह सकता । तो जब मैं सत् हूं तो सबमें केवल हूं । अब जो वह मैं केवल हूं बस उसकी दृष्टि करना उसीको कहते हैं शुद्ध आत्मद्रव्यकी दृष्टि । तो ऐसे अपने आपमें हमने अपने केवलको नहीं परख पाया, यही कारण है कि इसकी इतनी विडम्बनायें बन रही हैं, इतने जन्ममरण करने पड़ रहे हैं, और बाह्यविकल्पोंमें हम लीन हो रहे, ये सब अनर्थ हो रहे । तो इन सब झंझटोंसे मुक्त होनेका उपाय है केवलदृष्टि, अपने आपको केवल निरखना । व्यवहारमें भी देखते हैं कि जब कोई बड़ा झगड़ा हो जाता है तो उस समय लोग उन सबसे अलग होकर अपने घरको सम्हालते हैं, और जब घरमें झगड़ा हो जाता है तो कहते हैं कि अरे घरके इन लोगोंसे हमें कोई मतलब नहीं, इन्हें जो करना हो करें । हमें तो अपने आपकी सम्हाल करना है । अब यहाँ देखिये—अपने आपके अन्दर आकुलताओंका विकल्पोंका झगड़ा मच रहा है, तो यहाँ हमें क्या चतुराईका काम करना है जिससे रक्षा हो सके ? तो चतुराईका काम यही है कि इन समस्त प्रकारकी उपाधियोंसे हटकर अपने कैवल्यस्वरूपकी ओर आयें । सभी जगह आप देख लो—जितना जितना केवलकी ओर आना होता है उतना उतना उसकी आकुलतायें दूर होती जाती हैं । तो ऐसे इस केवलकी दृष्टि किए बिना इन्द्रियजन्य सुखोंमें यह जीव लीन हो रहा है, जिसके कारण इसे बहुत दुःखी होना पड़ रहा है ।

देह और इन्द्रियका अभाव होनेपर सिद्धात्माके सुखके सद्भावमें शंकाकारकी आशंका—उक्त प्रकरणको सुनकर यहाँ शंकाकार यह शंका कर रहा है कि यह जो कहा गया है कि सुख तो शुद्ध अवस्थामें ही है, जहाँ कर्म नहीं रहे, नोकर्म नहीं रहे, आकुलतायें नहीं रहीं, वहाँ ही परम आनन्द है । तो हमें शंका है कि जहाँ शरीर न रहा, इन्द्रियाँ न रहीं वहाँ सुख कैसे

होता होगा ? शंकाकार सुखको तो मान रहा कि सुख कोई चीज है और यह भी समझ रहा कि सुख आत्माकी चीज है, यह भी जान रहा कि सुख आत्मासे ही होता है, मगर यह भी साथमें उसके चित्तमें आग्रह पड़ा हुआ है कि आत्माका सुख होता है देह और इन्द्रियके सद्भाव में, यहाँ देह और इन्द्रिय हैं, उसी साधनसे यहाँ आनंद हो रहा है। जैसे कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि चित्तक्षण जरूर है, ज्ञानक्षण जरूर है, लेकिन उसकी उत्पत्ति होती है तो बाह्य पदार्थसे होती है और उसका सारूप्य जो होता है बाह्य पदार्थकी तरहसे होता है, पर ऐसा जब कोई कुछ दार्शनिकतासे सोचता है तो लगता ही ऐसा है कि ज्ञान जब बना है आत्मामें तो ज्ञानकी मुद्रा क्या रही ? वह मुद्रा रही जो बाह्य पदार्थकी है। तो सारूप्य बन गया, और बाह्य पदार्थोंका जब ज्ञान बना तब आँखोंसे बना, सो आँखोंसे ज्ञान पैदा हुआ। यों अर्थोंसे अर्थोंके आकारक ज्ञान हो गया तो बाह्य पदार्थोंसे ज्ञान सारूप्य हुआ। जैसे दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि इस तरह शंकाकार यह मान रहा है कि सुख जितने होते हैं वे देह और इन्द्रिय से होते हैं। देह और इन्द्रियके बिना सुख हो ही नहीं सकते। इसी भावको लेकर यहाँ शङ्का की जा रही है कि परमात्मामें यह बात प्रसिद्ध है कि देह और इन्द्रियका अभाव और उस देह इन्द्रियके अभावमें सुख और ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—

न तद्यतः प्रमाणं स्यात् साधने ज्ञानसौख्ययोः ।
अत्यक्षस्याशरीरस्य हेतोः सिद्धस्य साधनम् ॥३४७॥

ज्ञान और सुखकी सिद्धिमें देह और इन्द्रियकी अप्रमाणता बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान—शङ्काकारने यह कहा कि ज्ञान और सुखकी सिद्धिमें इन्द्रिय और देह प्रमाणभूत नहीं हैं अर्थात् इन्द्रिय और देहके बिना भी ज्ञान और सुख हुआ करता है। अतीन्द्रिय और अशरीरपना ही सुखकी सिद्धिमें कारण है। इसी बातको आगे बहुत खुलासा करके कहेंगे। यहां इतना संकेत किया है कि ज्ञान जो हो रहा है, जहां हो रहा है वह इन्द्रिय और शरीर को ग्रहण किए बिना हो रहा है अर्थात् ज्ञानइन्द्रिय और देहके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको ग्रहण किए बिना केवल आत्मामें हुआ करता है। इस कारणसे ज्ञानकी सिद्धि इन्द्रिय और देहसे नहीं होती है। भले ही किन्हीं परिस्थितियोंमें देह और इन्द्रियमें ज्ञानकी उत्पत्ति कारणभूत है, साधन है, लेकिन एक दृष्टिसे साधन भी हो रहे हैं और एक दृष्टिसे ये बाधक भी हो रहे हैं। इन्द्रिय और देह न हों तो इस ज्ञानको प्रकट होनेमें सर्व ओरसे इसके विकासकी बात आती है तो ये किसी दृष्टिमें साधन भी हैं और किसी दृष्टिमें बाधक भी हैं। इन्द्रिय और देहसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं है, इसी तरह इन्द्रिय और देहसे आनन्दकी उत्पत्ति नहीं है। जैसे देह, इन्द्रिय किसी-किसी आनन्दमें साधन बन जाते हैं, लेकिन वे विकृत आनन्दके साधन हैं, वास्त-

विक आनन्दके तो ये बाधक ही हैं, तो इन्द्रिय और देह यहाँ सुखकी सिद्धिमें कारण नहीं हैं, इसके बिना ही ज्ञान और सुखकी सिद्धि हुआ करती है। इसी बातको युक्तिपूर्वक सिद्ध कर रहे हैं।

अस्ति शुद्धं सुखं ज्ञानं सर्वतः कस्यचिद्यथा।
देशतोप्यस्मदादीनां स्वादुमात्रं वत द्वयोः ।।३४८।।

शुद्ध ज्ञान और शुद्ध सुखकी सिद्धिका प्रयोग—सभी जीवोंके ज्ञान और सुख आत्माके उपादानसे ही प्रकट होते हैं। यहाँ भी देखा ही जा रहा है। हम आप लोगोंके कि किसीके भी जिसके एक देश ज्ञान सुख प्रकट होता है और होता है परका आश्रय छोड़कर केवल अपने आत्मस्वभावके आश्रयसे तो उनको भी यह स्वाद आता है कि ज्ञान और सुख तो आत्मासे स्वयं स्वतः प्रकट होते हैं, हां जब आवरण लगे हैं और उसमें बाधा पड़ रही है तो जैसे-जैसे बाधा दूर होती है वैसे ही वैसे ज्ञान और सुख प्रकट होता है। बाधाके अभावमें सुख प्रकट होता है, लेकिन मोही जीव यह जानते हैं कि बाधाका अभाव है तो पदार्थके सद्भावरूप है इसलिए वे सद्भावसे सुख मानते हैं, ज्ञान मानते हैं, वस्तुतः इन्द्रिय देह आवरण किसीके सद्भावसे सुख नहीं होता। सुख और ज्ञान आत्मामें अपने आपके उपादानसे हुआ करते हैं। जब यह बात कोई जान लेगा कि ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म हैं, स्वरूप हैं तब उसे यह स्वीकार करनेकी आपत्ति न आयगी कि ज्ञान और आनन्द आत्मामें आत्मासे प्रकट होता है। जैसे देह और इन्द्रिय नहीं रहे उनके अनन्त आनन्द प्रकट होता है, थोड़ा कोई इतना भी विचार ले कि मानो हुए वैषयिक सुख इन्द्रिय और देहके इस सम्बंधमें, लेकिन ये सुख कब तक रहेंगे और इनसे कहां तक पूरा पड़ेगा ? और जिस कालमें ये सुख मिल रहे हैं उस कालमें जो मोह बस रहा है, अज्ञान बस रहा है, इतनी बड़ी वेदना जो भीतर चल रही है, उस भीतरी तीव्र वेदनाके ऊपर थोड़ा ये वैषयिक सुख मिले हैं सो सुख नहीं हैं, किन्तु वेदनाको बढ़ानेके लिए एक लालच मिला हुआ है। लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्तिके बड़ा पुण्यका उदय है, यह बड़े मौजमें है, पर यदि वह मोही है, अज्ञानी है और उस पुण्योदयकी अवस्थामें अपनेको सुखी मानता है तो वह सुख नहीं मानता, वह तो एक ऐसा लालच है कि जो उसको दुःखको बढ़ानेका ही साधनभूत बन रहा है। जैसे कि कभी किसी गांवमें अथवा नगरमें हैजाकी बीमारी आ जाती है तो वहांके लोग यह समझ लेते हैं कि इन कुत्तोंके कारण हैजा फैला है तो क्या उपाय करते हैं कि नगरपालिकाकी ओरसे कोई जहरीली दवा सुन्दर भोजनमें मिलाकर कुत्तोंके सामने वह भोजन डाल देते हैं, वे कुत्ते सुन्दर स्वादिष्ट भोजन समझकर उसपर टूट पड़ते हैं और उस भोजनको खाकर मरणको प्राप्त हो जाते हैं, ठीक इसी तरह समझिये कि ये सांसारिक सुख रम्य प्रतीत होते हैं, जिनमें रमकर ये संसारी प्राणी अपना जीवन बर-

बाद कर देते है। तो इन इन्द्रियज सुखोंमें क्या सुख माना जाय? ये तो दुःखरूप ही हैं।

ज्ञानानन्दौ चित्तो धर्मौ नित्यौ द्रव्योपजीविनौ।
देहेन्द्रियाद्यभावेपि नाभावस्तद्द्वयोरिति ॥३४९॥

ज्ञान और आनन्दका द्रव्योपजीवित्व व आत्मधर्मत्व होनेसे देहेन्द्रियादिका अभाव होने पर भी उत्कृष्ट ज्ञान और आनन्दके सद्भावकी सिद्धि—अब आत्माका अन्तः विचार करिये तो यह विदित होगा कि ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म हैं, स्वरूप हैं, स्वभाव हैं। जैसे केलों का पेड़ क्या है? केवल पत्तोंका समूह। भीतरमें कोई स्कंध तना न मिलेगा, किन्तु वे जो पत्ते हुए हैं वे ही सघन हो होकर इतने मोटे हो जाते हैं। उन पत्तोंको छीलने लगें तो वहां ठोस चीज कुछ न मिलेगी। इसी तरह इस स्वरूपकी बात है। जिसका जो स्वरूप है उसे निकालकर अगर फेंक दिया जाय तो उसकी सत्ता नहीं रह सकती। पुद्गलका स्वरूप रूप, रस, गंध, स्पर्श है अब उनमेंसे उसके रूप, रस, गंध, स्पर्श उखाड़कर फेंक दें (कल्पनासे फेंकने की बात कह रहे हैं, वैसे फेंके नहीं जा सकते) तो फिर वहां पुद्गलमें स्कंध क्या रहेगा? ऐसी कल्पना करो कि आत्मामें अनन्त गुण कहे गए हैं शास्त्रोंमें, तो कोई यह सोचे कि वे अनन्त गुण हैं, उनमें से दो गुण ज्ञान और (आनन्द) हटा लें, बाकी और अनन्त गुण बने रहने दें, तो यह बात न हो सकेगी। वे अनन्त गुण तो इन दो (ज्ञान और आनन्द) गुणोंको राजा बनानेके लिए ही बन रहे थे, अब इन दो गुणोंको अलग कर दिया तो आत्मामें रहा क्या? आत्माका स्वरूप क्या रहा? ज्ञान भी न रहा, आनन्द भी न रहा। अस्तित्व वस्तुत्व आदिक जो आत्मामें गुण हैं, ये साधारण गुण भी तो असाधारण गुणके बलपर अपना विलास किये हुए हैं, किसी भी पदार्थमें यदि असाधारण गुण न हो तो साधारण गुण रह भी सकते हैं क्या? नहीं रह सकते। असाधारण गुण है उसीकी महिमाका वर्णन करनेके लिए साधारण गुणोंके रूपमें बात कही जा रही है।

दृष्टान्तपूर्वक आत्माके ज्ञानानन्दस्वरूप असाधारण धर्मके अवश्यास्तित्वका समर्थन—जैसे आवान्तर सत्त्व और महासत्ता। महासत्त्वकी प्रतिष्ठा आवान्तर सत्ताके आधारपर है। मानने कोई ऐसा स्वीकार करे कि महासत्ता है, आवान्तर सत्ता नहीं है, तो बतलाओ फिर वह महासत्ता क्या चीज है? तो महासत्त्व या जाति जैसे व्यक्तिपर ही जीवित है ऐसे ही साधारण गुण, असाधारण गुणोंके मिलनेपर उनके बलपर ही प्रतिष्ठा पाते हैं, तो आत्मामें अनन्त गुण क्या हैं? ये आत्माके जो असाधारण गुण हैं—ज्ञान और दर्शन, इनके बलपर ही वे और शक्तियां पायी जा रही हैं। जैसे आत्मामें अनेक शक्तियां बतायी गई थीं वे सब असाधारण गुणके बलपर ही अस्तित्व रखती हैं, जैसे त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति, बाह्य पदार्थका कुछ यह उपादान न ले सके, ग्रहण न कर सके और अपने आपके स्वरूपका यह त्याग न कर

सके ऐसी एक इसमें शक्ति पड़ी है। इस शक्तिको चाहे आत्मामें अच्छी तरहसे बाँध दो, हम तो केवल ज्ञान और आनन्द शक्तिको खोज रहे हैं। आत्मामें ज्ञान और आनन्द शक्ति नहीं है, गुण नहीं है और यह त्यागउपादानशून्यत्वशक्ति रहे तो अब यहाँ क्या रहेगा ? किसका त्याग नहीं हो सकता, किसका ग्रहण नहीं हो सकता ? जब आवान्तर सत्त्व ही न रहे तो ऐसी ये समस्त शक्तियाँ क्या इनका स्वरूप बन सकेगा ? मानना होगा कि प्रत्येक पदार्थमें असाधारण गुण हुआ करता है। तो आत्मामें असाधारण गुण है ज्ञान और आनन्द। जिसका जो स्वरूप है उसको अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा रखनेके लिए किसी परकी कृपा न चाहिए। किसी परके आधारसे वस्तुका स्वरूप सत्त्वको प्राप्त नहीं होता है। तो जब आत्मामें ज्ञान और आनन्द धर्म हैं, तो वे नित्य हैं और आत्माके उपजीवी गुण हैं। जैसे अग्निकी उष्णता कभी खत्म नहीं हो सकती। दृष्टान्तमें जितनी बात कही गई उतनी मानना चाहिए। कोई कहे कि लो आगमें पानी डाल दिया तो बस उसकी उष्णता खतम हो गई, तो उसकी बात न मानी जायगी। जब अग्नि खतम हो गई तभी उष्णता खतम हो गयी। यदि अग्नि है तो वह नियमसे उष्ण है। ऐसे ही समझिये कि जब तक जीव है तब तक ज्ञान और आनन्द जरूर रहेगा, और जब उस पर्यायमें (वर्तमान पर्यायमें) जीव न रहेगा तब भी ज्ञान और आनन्द जरूर रहेगा। अग्नि तो एक पर्याय है, वह मिट गई। जीव यहाँ द्रव्य है, यह कभी मिटेगा नहीं। तो जीवका उपजीवी गुण है ज्ञान और आनन्द, तो ज्ञान और आनन्दका कभी भी अभाव नहीं हो सकता, और इसी कारण शरीर और इन्द्रियके अभावमें भी आत्माके ज्ञान और आनन्दका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान और आनन्द आत्माके उपजीवी गुण हैं, शाश्वत, सदाकाल रहने वाले गुण हैं, इस कारण कोई परद्रव्य न इसके साथ हो तो ये ज्ञान और आनन्द मिट जायेंगे, यह बात कभी नहीं हो सकती, बल्कि परद्रव्य साथ लगा है तो उसके ज्ञान और आनन्दमें बाधा है। यह दूर हो जायगी तो ज्ञान आनंद निर्बाधरूपसे भली-भाँति विकसित हो जायेंगे।

सिद्धं धर्मत्वमानन्दज्ञानयोगुणलक्षणात् ।
यतस्तत्राप्यवस्थायां किञ्चिद्देहेन्द्रियं बिना ॥३५०॥

ज्ञान और आनन्दकी आत्मधर्मता होनेसे देह और इन्द्रियके बिना उद्‌भूति—ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म हैं, यह बात भली-भाँति सिद्ध है, क्योंकि इनमें गुणका लक्षण पाया जा रहा है। गुण कहते हैं—गुण्यते भिद्दते अनयन स गुणः। एक गुण अखण्ड सत् जिसके द्वारा भेदा जाय उसे कहते हैं गुण। भेदनेका अर्थ यह है कि वस्तु तो एक अखण्ड है, पर उसका जब हम प्रतिबोध करनेके लिए कुछ समझायेंगे तो उसमें कुछ हम भेद करके ही समझायेंगे। जैसे आत्मा जो है एक ज्ञायकस्वभाव, जिसे शब्दों द्वारा कहा नहीं जा सकता, ज्ञायक शब्द द्वारा भी वास्तवमें कहा नहीं जा सकता, और कुछ कहना तो चाहा, रख दिया रूढ़िमें

इस शब्दको कि यह है आत्माका वाचक, क्यों नहीं कहा जा सकता वचनोंसे कि जितने भी वचन होते हैं वे एक अर्थको लिए हुए होते हैं । शब्दोंमें सर्वज्ञदेवका बतानेका सामर्थ्य नहीं है । ज्ञायक कहा तो उसका अर्थ जानने वाला ही तो रहा और जानन एक गुण रहा तो शब्द वस्तु का प्रतिपादन नहीं कर सकता, यह सब व्यवहारसे ही प्रतिपादन नहीं कर सकता । यह सब व्ययहारसे ही प्रतिपादन होता है । खैर, उस सद्भूत व्यवहारसे भी प्रतिपादन चला तो वहाँ भी शक्तियोंका, ज्ञानोंका भेद करके कहा जाय उसका नाम गुण है किन्तु ऐसा भेद कि द्रव्यके समान शाश्वत हो और अनादि अनन्त हो उसे कहते हैं गुण । तो ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म हैं, गुण एक है एक वह चिद्द्रव्य, ज्ञान और आनन्द द्वारा विभक्त करके बताया गया है, इस कारणसे ज्ञान आनंद आत्माके धर्म हैं और इसी कारण जिस किसी भी अवस्थामें कोई जीव हो, उसका जो भी ज्ञान और आनंद जगता है सो देह और इन्द्रियके बिना ही जग रहा है चाहे वह संसारी जीव हो, देव हो, मनुष्य हो उन्हें भी जो ज्ञान जग रहा है वह शरीर और इन्द्रियके बिना जग रहा है । हमें इस ओर दृष्टि नहीं करनी है कि इनके निमित्त बिना जग रहा है । अरे इन्द्रियपूर्वक जग रहा है—उसका अर्थ है कि निमित्तके बिना जग रहा है । यह अर्थ कैसे निकला ? निमित्तपूर्वक हो रहा है । इसके मायने यह निकला कि निमित्तभूत पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वीकार किए बिना होता है । जैसे घड़ा बन रहा है, उस घड़ेके बननेमें निमित्त वह कुम्हार है दंड, चक्रादिक हैं, मगर घड़ेमें जो निष्पन्न हो रहा है वह दंड, चक्रादिकसे रहित होता हुआ बन रहा है अर्थात् उस मिट्टीमें न कुम्हार घुसा है, न दंड चक्रादिक । तो देह और इन्द्रिय निमित्त हो जानेमें भी यह बात है कि वहाँ जो ज्ञानविकास है, जो आनन्दविकास है वह तो केवल आत्माके उपादानसे अर्थात् अन्यके उपादान बिना हुआ है, तब समझना चाहिए कि ज्ञान और आनंद आत्माके धर्म ही हैं, और जब धर्म हैं तो सिद्ध हो गया कि ज्ञान और आनंदके लिए किसीके अपेक्षाकी आवश्यकता नहीं है ।

छद्मस्थावस्थामें भी ज्ञानपरिणतिकी देह इन्द्रियको लिये बिना ही उद्भूति—यद्यपि निर्बल अवस्थामें आवश्यक हो गया है कि देह भी चाहिए, इन्द्रिय भी चाहिए, जिस ज्ञानके लिए जो सीमामें है, रुकावट सहित है उस ज्ञानकी निष्पत्तिके लिए साधन चाहिए, पर साधन होकर भी, निष्पत्ति होकर भी ज्ञान और आनंद जगा है तो केवलसे जगा है । जैसे एक दृष्टांत यह लीजिए कि कोई तबला बजाने वाला पुरुष तबला बजाते हैं तो वह कितने वेगपूर्वक अपने हाथ चलाता है और किस-किस जगह चलाता है, पर हाथका थापड़ लगाकर भी इस तरहसे क्रियाशील उस पुरुषके कारण वह तबला बज रहा है, हाथकी थापड़ लग गयी, ठीक है पर उसमें जो ध्वनि निकल रही है, जो शब्द निकल रहे हैं उस शब्द निष्पत्तिमें वे अंगुलियां नहीं घुसी हैं । वहां शब्द उनके केवलसे निकल रहे हैं । तो जैसे निमित्त होनेपर भी शब्द तो

प्रकृत्या हुआ है, हाथकी चीज लेकर नहीं हुआ है, इसी तरह ज्ञान और आनन्दकी भी बात समझना चाहिए कि देह और इन्द्रियका साधन होनेपर भी ज्ञान और आनंद इस जीवमें शीलत: उत्पन्न हुए हैं, उपादानसे ही अपनेसे हुए हैं, अन्यका उपादान लेकर नहीं हुए, इस कारण वह ख्याल करना शङ्काकारका कि जहाँ देह भी नहीं, इन्द्रिय भी नहीं, ऐसे सिद्ध भगवानको सुख कहाँके होगा ? अरे यहाँ भी हम आपको देह और इन्द्रियके बिना ज्ञान ही मिल रहा है निष्पत्तिमें कारण है, सो वह हीन अवस्थामें साधन बनता रहता है, पर यहाँके साधन देखकर यह व्याप्ति नहीं बनायी जा सकती कि देह और इन्द्रियके बिना ज्ञान और आनंद नहीं हो सकता ।

मतिज्ञानादिवेलायामात्मोपादानकारणम ।
देहेन्द्रियास्तदर्थाश्च बाह्यं हेतुरहेतुवत् ।।३५१।।

आत्मोपादानकारणक मतिज्ञानादिके समयमें भी देह, इन्द्रिय व पदार्थोंकी अहेतुवत् स्थिति—जिस समय जीवके मतिज्ञान श्रुतज्ञान हो रहे हैं, मतिज्ञान बड़ा पराधीन ज्ञान है, इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर होता है और बाह्य अर्थ आलोक आदिकका भी सन्निधान हो, सन्निकर्ष भी चल रहा हो तब जाकर इन्द्रियजज्ञान होता है, इतनेपर भी वह ज्ञान आत्मोपादानकारणक है । आत्माके उपादानसे सिद्ध है । अब वहाँ देह इन्द्रिय और पदार्थ और अन्य बाह्य हेतु ये सब अहेतुकी तरह हैं । उपादानदृष्टिसे कथन चल रहा है । जितने ये बाह्य निमित्त हैं—अन्य निमित्त, बाह्य निमित्त निमित्तमात्रकी सब प्रकृति विवक्षित उपादानसे पृथक् हुई है, अन्तः निमित्त यों कहलाता है कि उस एक क्षेत्रावगाहमें निमित्त है, उसके साथ अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति चलती है । बाह्य निमित्त यों कहलाता है कि बाह्यमें अन्वयव्यतिरेक नहीं है, पर आश्रयभूत साधन है । कोई भी साधन हो उनमेंसे कोई भी उपादान न बन सके, किसीकी भी क्रिया न बन सके, किसीका भाव न बन सके । ज्ञान और आनंद तो आत्माके उपादान कारणक होते हैं, इस कारण यह भ्रम करना अयुक्त है कि देह और इन्द्रिय जहाँ न हों वहाँ आनंद कैसे ?

संसारे वा विमुक्तौ वा जीवो ज्ञानादिलक्षणः ।
स्वयमात्मा भवत्येष ज्ञानं वा सौख्यमेव वा ।।३५२।।

संसार अथवा मुक्तिमें ज्ञानलक्षण जीवकी स्वयं ज्ञानरूपता व स्वयं सुखरूपता—चाहे जीव संसार अवस्थामें हो, चाहे मुक्त अवस्थामें हो, ज्ञानादिक लक्षण वाला है, ऐसा ही ध्रुव सत्य है, अर्थात् संसारी जीव है तब भी वह ज्ञानादिक लक्षण वाला है और मुक्त जीव है तब भी वह ज्ञानादिक लक्षण वाला है । इस कारणसे आत्मा स्वयं ही ज्ञानरूप और सौख्यरूप होता है । स्वयं होता है के मायने परका मिश्रण होकर नहीं होता है । दो मिलकर ज्ञानरूप

हो, सुखरूप हो सो बात नहीं है, ज्ञानरूप तो वह अकेला ही हुआ । बड़े साधन हों मगर ज्ञान सुखरूप तो यह आत्मा अकेला ही होता, इसलिए कहा जा सकता है कि स्वयं ही ज्ञानरूप होता, स्वयं ही सुखरूप होता । तबला बजाने वालेने कितना ही हाथ चलाया लेकिन शब्दरूप वह तबला ही हुआ । तबला भी क्या, वे शब्द वर्गणायें ही शब्दरूप परिणम गईं, कहीं वह बजाने वाला नहीं उस रूप हो गया अथवा कहीं देखने वाले लोग नहीं उस रूप हो गए । इसी तरह किसी भी साधनसे हो, संसार अवस्थामें भी हो, ज्ञान और आनन्द जो हुआ है वह स्वयं ही हुआ है अर्थात् केवल आत्मा ही ज्ञानस्वरूप और सुख स्वरूप है, दूसरा वहाँ नहीं है । इससे भी यह निर्णय रख लेना चाहिए कि आत्माका धर्म है ज्ञान और आनंद । जो धर्म है वह कहीं मिटता नहीं है । वह संसार अवस्थामें देह और इन्द्रियके कारणसे ज्ञान और सुखमें रुकावट थी, जब वह निकल गया तो निर्वाध ज्ञान और आनंद प्रकट होता है ।

स्पर्शादीन् प्राप्य जीवश्च स्वयं ज्ञानं सुखं च तत् ।
अर्थाः स्पर्शादयस्तत्र किं करिष्यन्ति ते जड़ा ॥३५३॥

आत्माकी ज्ञानपरिणति व सुखपरिणतिमें स्पर्शादिक अर्थोंकी अकिञ्चित्करता व निमित्तमात्रता—यहाँ मतिज्ञानकी निष्पत्तिमें जो पद्धति बनी हुई है उस पद्धतिसे भी यह निरखें कि उन स्पर्श, रस, गंधादिक विषयोंका निमित्त पाकर जीव स्वयं ही तो ज्ञानरूप हुआ है अर्थात् वह अकेला ही तो ज्ञानरूप और सुखरूप हुआ है । तो जब वह अकेला ही ज्ञानरूप सुखरूप हुआ है तो स्पर्शादिक पदार्थोंमें ज्ञान सुखमें क्या करेगा ? वह भी तो जड़ है । यहाँ बहुत सावधानीकी दृष्टि रखकर विचार करना है । जैसे तबला बजाने वालेने कितना ही श्रम किया, पर शब्दरूप तो केवल वही तबला हुआ । यों कहो कि शब्दवर्गणायें उससे स्पर्श होकर वहांसे प्रकट हुई हैं, इस कारण यों ही कह लीजिए । जैसे उस शब्दरूप जो ता तई धिनकधिनक आदिक शब्द निकले तो उस शब्दरूप केवल बजाने वाला बना कि तबला ?····तबला । तो उस प्रवृत्तिमें यह बजाने वाला क्या करता है ? कुछ भी नहीं । बजाने वालेने जो कुछ किया वह अपनेमें किया । अब शब्दरूप परिणम रहे उस पुद्गलमें, उस क्रियामें यह बजाने वाला क्या करेगा ? कुछ नहीं । एक निमित्त भाव होकर भी, इतना तक भी स्पष्ट परिचय होनेपर भी कि न बजाने वाला हो तो कहांसे शब्द निकलें ? इतना सब कुछ होनेपर भी वस्तुके चतुष्टयपर दृष्टि देकर देखिये—तो शब्दरूप जब वह परिणम रहा है तो शब्दरूप परिणमते हुए उसमें दूसरा क्या कर रहा है ? कुछ भी नहीं । दूसरा क्या करेगा ? कुछ भी नहीं । यों ही देह और इन्द्रियका निमित्त पाकर जीव ज्ञान और सुखरूप परिणम रहा है । अब ज्ञान-सुखरूप परिणमते हुए उस जीवमें देह इन्द्रिय क्या कर रही हैं ? कुछ नहीं कर रही हैं, देह और इन्द्रिय भी कुछ हिस्सा परिणम कर सहयोगी बनें, क्या इस तरह सहयोगी हैं ? तो जब ज्ञान

और सुखरूप स्वयं यह जीव परिणम रहा है तो वहाँ ये स्पर्श आदिक पदार्थ क्या करेंगे ? ये तो जड़ हैं, इससे यह बात सिद्ध होती है कि आत्माका ज्ञान और आनन्द धर्म है, वह अग्नि का स्वरूप है और वह स्वरूप कहीं जायगा नहीं। तो देह और इन्द्रिय दूर भी हो गए, मुक्त हो गए तब तो इस ज्ञान और आनन्दका और पवित्र विकास हो जायगा।

अर्थाः स्पर्शादयः स्वैरं ज्ञानमुत्पादयन्ति चेत्।
घटादौ ज्ञानशून्ये च तत्किं नोत्पादयन्ति ते ॥३५४॥

जड़ पदार्थोंको आत्मामें ज्ञानका उत्पादक माननेपर घटादिकमें ज्ञानकी उत्पादकताका प्रसङ्ग—जो उक्त श्लोकमें बात कही गई है उसकी सामर्थ्यमें युक्तिपूर्वक कहा जा रहा है कि स्पर्शादिक पदार्थ ही स्वयं ज्ञानको पैदा कर देते हों तो ज्ञानशून्य जो भींत, चटाई आदिक पदार्थ हैं इनमें क्यों नहीं ज्ञान उत्पन्न कर देते ? तो इससे यह जाहिर है कि ये देह इन्द्रिय स्पर्शादिक पदार्थ ये सब एक निमित्तमात्र हैं, इससे ज्ञानकी उत्पत्ति और आनन्दकी उत्पत्ति नहीं है, इसके बिना ही ज्ञान और आनंद बर्त रहे हैं, यह बात कही जा रही है। प्रकृतमें केवल इतना अंश स्पष्ट किया जा रहा है कि संसार अवस्थामें भी जो ज्ञान उत्पन्न हो रहा है वह देह, पदार्थ आदिक समस्त पदार्थोंके बिना केवल आत्मासे उत्पन्न हो रहा है। बिनाके मायने यहाँ निमित्त निषेधकी बात नहीं कही जा रही है, क्योंकि वह तो अलग ही रहता है और ज्ञानान्दरूप केवल यह जीव ही परिणम पाता है। दो पदार्थ मिलकर ज्ञान और आनंदरूप नहीं परिणम सकते। उसीको युक्तिपूर्वक बताया गया है। स्पर्शादिक पदार्थ यदि ये ज्ञान उत्पन्न कर देते हों तो ज्ञानशून्य घटादिक पदार्थोंमें यह ज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न कर देते ? जो विज्ञानवादी भी ऐसा मानते हैं कि जितने भी ज्ञान होते हैं वे पदार्थसे उत्पन्न होते हैं, पदार्थ उत्पन्न करते हैं और पदार्थका सारूप्य रहता है तो वहाँ भी यह ही बात आती है आपत्तिकी कि जब पदार्थसे ही ज्ञान उत्पन्न हुआ, पदार्थसे ही ज्ञान निकला तो चित्तक्षण न भी हो जैसा कि कोई लोग कहते हैं तो चित्तक्षण न होनेपर भी ज्ञान उत्पन्न हो जाना चाहिये, सो नहीं होता। इससे मानना चाहिए कि ज्ञान आत्माका धर्म है, इसी प्रकार आनंद भी आत्माका धर्म है और वह स्पर्शादिक पदार्थके बिना, देह इन्द्रिय आदिकके बिना ही होता रहता है। अर्थात् उनका कुछ भी मिश्रण किए बिना केवल जीव ही ज्ञान और आनंदरूप परिणमता है।

अथ चेच्चेतने द्रव्ये ज्ञानस्योत्पादकाः क्वचित्।
चेतनत्वात्स्वयं तस्य किं तत्रोत्पादयन्ति वा ॥३५५॥

जड़ पदार्थोंको चेतनमें ही ज्ञानका उत्पादक माननेपर चेतनमें स्वयं ज्ञानरूपताकी सिद्धि—यदि शंकाकार उक्त समाधानमें दखल देता हुआ यह कहे कि स्पर्शादिक पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न तो करते हैं पर चेतनद्रव्यको ही उत्पन्न करते हैं, बात इतनी है, तो इस प्रश्न

के उत्तरमें या इस प्रतिशंकाके समाधानमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस स्पर्शादिक पदार्थ ने या देह इन्द्रिय आदिकने चेतनमें ही ज्ञान उत्पन्न किया, अचेतनमें नहीं। तो इससे स्पष्ट है कि चेतन स्वयं ज्ञानधर्म वाला है। इसका कारण क्या है कि स्पर्शादिक पदार्थ देह इन्द्रिय आदिक ये जीवमें ही ज्ञान उत्पन्न करें, अन्यमें न करें, इसका भी तो कुछ कारण बतलाओ। अगर नहीं है यह कारण कि चेतन स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं इसलिए वहाँ ही ये विकार कर पाते हैं, यदि यह कारण नहीं है तो जैसे जीव वैसे अजीव, सब बराबर समान हो गए। फिर वे स्पर्शादिक पदार्थ इन भींत, चटाई आदिकमें क्यों ज्ञान नहीं उत्पन्न कर देते ? चेतनमें ही उत्पन्न करते हैं, यह शंकाकारका जो कहना है वही यह साबित करता है कि वह चेतन स्वयं ज्ञानरूप है और जब वह चेतन स्वयं ज्ञानरूप है और वह ज्ञानरूपसे परिणमे तो उसमें देहने क्या किया ? इन्द्रियने क्या किया और किसी अन्य पदार्थने क्या किया ? यह सब उपादान उपादेय भावकी दृष्टिसे प्रसंग चल रहा है। स्वयं ज्ञान और आनन्दरूप परिणमते हुए इस जीव में दूसरा पदार्थ क्या करेगा ? कुछ भी नहीं करता है तो इससे यह मानना चाहिए कि देह के बिना, इन्द्रियके बिना, सन्निकर्षके बिना, सन्निधानके बिना यह जीव स्वयं ज्ञानरूप है, आनन्दरूप है, इसका यह धर्म है और अपने इस धर्मके कारण ज्ञानरूप आनंदरूप बर्तता रहता है।

ततः सिद्धं शरीरस्य पञ्चाक्षाणां तदर्थसात्।
अस्त्यकिञ्चित्करत्वं तच्चितो ज्ञानं सुखम्प्रति ॥३५६॥

उक्त विवरणसे आत्माके ज्ञान और सुखके प्रति शरीर और इन्द्रियोंकी अकिञ्चित्करताकी सिद्धि—अब जितना शङ्काकारकी मूल शङ्काके उत्तरमें कहा गया–क्या थी शंका कि परमात्मामें यह बात प्रसिद्ध है कि देह और इन्द्रियका अभाव है तो जब देह भी नहीं, इन्द्रिय भी नहीं, तो वहाँ ज्ञान और सुख कैसे प्रकट हो सकता है ? उसके उत्तरमें जितना कुछ भी कहा गया उसका सारांश इस श्लोकमें कह रहे हैं। उक्त समस्त विवरणसे यह बात सिद्ध हो गयी कि शरीर और पाँचों ही इन्द्रियाँ ये आत्माके ज्ञान और सुखके प्रति सर्वथा अकिञ्चित्कर हैं। उपादान उपादेय भावकी दृष्टिसे ज्ञान और आनंद जो परिणम रहा है वह आत्मामें परिणम रहा है, आत्माकी परिणतिसे परिणम रहा है और वह आत्मासे अभिन्न होता हुआ परिणम रहा है, उसमें कोई भी दूसरा पदार्थ सहयोगी नहीं है, परिणमनोंमें तो ऐसा भी नहीं है कि आत्मा ९९ प्रतिशत तो ज्ञानरूप परिणम रहे हैं और एक-एक प्रतिशत देह भी या इन्द्रियाँ भी परिणम रही हैं, सो इतनी भी गुंजाइस नहीं है, ये तो अकेले ही ज्ञान और आनंदरूप परिणमते हैं। जब ये अकेले ही ज्ञानानन्दरूप परिणमते हैं तो उस परिणमनमें यह ज्ञान, ये देह और इन्द्रिय ये सब अकिञ्चित्कर हैं। ये कुछ भी वहां नहीं कर सके। ये परिणम रहे

हैं। अब जैसा आत्मबल है, जो बात है उसरूप हो रही। जो भी हो, अगर ज्ञानानंदरूप परिणमनमें एक यह प्रतिशत भी अथवा करोड़वाँ हिस्सा भी ये कुछ भी शरीरमें नहीं हो सकते। कहना चाहिए कि यह सर्वथा अकिञ्चित्कर है। जैसे यहाँ कथन चलता है इसी तरह सब जगह बात समझनी चाहिए कि निमित्त और उपादानकी व्यवस्था तो सत्य है, ठीक है, चल रही है, कोई विषम परिणाम कोई पदार्थके निमित्त बिना नहीं हो सकता, क्योंकि वह विषम परिणमन है, वह अहेतुक नहीं बन सकता, वह सहेतुक है, लेकिन जब उपादान उपादेय भाव की दृष्टिसे निरखते हैं—परिणमा कौन ? परिणमनमें जो भाव आया है वह किसका धर्म है, किसका विकास है, और वह परिणमा कोई अन्य सब जोड़ मिलकर या वहाँ केवल एक ही पदार्थ। जब इस दृष्टिसे निरखते हैं तो प्रत्येक पदार्थके परिणमनमें अन्य सारे पदार्थ जितने भी निमित्तभूत हुए, आश्रयभूत हुए सब अकिञ्चित्कर हैं। इस अकिञ्चित्का यह अर्थ नहीं कि निमित्त न हो, आश्रयभूत न हो, लेकिन कोई निमित्त, कोई आश्रयभूत पदार्थ इस परिणममान उपादेयकी परिणति नहीं है, इसलिए पूर्णतया अकिञ्चित्कर है। यही बात यहाँ भी लगाई गई कि संसार अवस्थामें प्राणियोंको तो ज्ञान और आनंद जग रहा है वह ज्ञानानन्दस्वरूप स्वयं जीव ही परिणम रहा, दूसरा नहीं परिणम रहा, इसलिए इस परिणमनमें, इस उपादेयतामें समस्त ये बाह्य अकिञ्चित्कर हैं अर्थात् केवल यह ही ज्ञान सुखरूप परिणम सकता है, दूसरा नहीं। तो यों जब संसार अवस्थाकी यह हालत है कि देह और इन्द्रिय अकिञ्चित्कर हैं तो जहाँ देह और इन्द्रियका अभाव हो गया है इसलिए सिद्धप्रभुमें ज्ञान और आनन्द कैसे हुआ, ऐसी शङ्का करना बिल्कुल ही व्यर्थ है। वहाँ तो असीम ज्ञान और आनन्द प्रकट होता है।

ननु देहेन्द्रियार्थेषु सत्सु ज्ञानं सुखं नृणाम्।
असत्सु न सुखं ज्ञानं तदकिञ्चित्करं कथम् ॥३५७॥

देह, इन्द्रिय व पदार्थोंके होनेपर ज्ञान व सुखके होने व उनके न होनेपर ज्ञान व सुख के न होनेसे देहादिकोंकी किञ्चित्करता सिद्ध करनेकी शङ्काकारकी आरेका—अब शङ्काकार कह रहा है कि जब देह और इन्द्रिय एवं अर्थ इनके होनेपर ही सुख नजर आता है और ये न रहें तो सुख नहीं नजर आता, फिर यह कैसे कह दिया कि ये सब अकिञ्चित्कर हैं। उक्त श्लोकमें यह बताया था कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, सुख स्वरूप है इसलिए ज्ञानपरिणतिमें और सुखपरिणतिमें आत्मा ही साधन है, देह और इन्द्रिय अर्थ ये वहाँ कुछ नहीं कर रहे हैं, अर्थात् उपादान उपादेय भाव ज्ञानसुखका दुःखका साथ है। इसपर यह शंका की जा रही है कि जो कहा सो ठीक है लेकिन देखो—जब यह कहा जा रहा है कि शरीर न हो, इन्द्रिये न हों, ये भोजन आदिक स्पर्शन आदिक पदार्थ न हों तो सुख तो नजर नहीं आता, तो अकिञ्चित्कर

क्यों कहा जा रहा है ? जब इसके बिना होता ही नहीं तो कुछ तो मानना चाहिए किञ्चित्कर । आजकल भी यही बात कहकर निमित्तको किञ्चित्कर है, सहयोगी है, उसका कारण है ऐसा कहा जाता है तो उनमें यदि इतना भाव रखा जाय कि वह निमित्त मात्र है तब तो कोई विरोध नहीं है, पर किञ्चित्कर बोलनेसे अकिञ्चित्करता यहाँ रखी जा रही हो कि जैसे उस ज्ञान और सुखमें आत्मा कारण है उसी प्रकार ये बाह्य पदार्थ भी कारण हैं । तो वह प्रकारता नहीं है, आत्माके ढंगका ही प्रकार बताकर बाह्य पदार्थको किञ्चित्कर कहना बिल्कुल अयुक्त है । हां बात यह हो रही है कि उस पदार्थके सन्निधानमें निमित्तके सद्भावमें यह आत्मा परिणमने वाला बन रहा है और साथ ही यह भी बात है कि यदि इन्द्रिय देह आदिक पदार्थ न हों तो दोनोंका मतिज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता । इतनेपर भी आत्माकी तरह उन पदार्थोंको निरखकर किञ्चित्कर कहा जाय सो बात युक्त नहीं है । लेकिन शङ्काकार यहां यह शंका कर रहा है कि किञ्चित्कर कैसे नहीं हो गया, क्योंकि देहादिकके बिना सुख नजर नहीं आ रहे हैं । अब इसके उत्तरमें कहते हैं—

नैवं यतोन्वयापेक्षे व्यञ्जके हेतुदर्शनात् ।
कार्याभिव्यञ्जक: कोपि साधनं न बिनान्वयम् ॥३५८॥

अन्वय (आत्मा) के बिना ज्ञानसुखाभिव्यञ्जक इन्द्रियादिकी साधनता न हो सकनेसे इन्द्रियादिकी ज्ञानसुखपरिणतिमें अकिञ्चित्करता बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—शंकाकारका उक्त कथन ठीक नही है, क्योंकि देह इन्द्रिय पदार्थ इनके होनेपर ज्ञान और सुख जो नजर आये हैं सो यह कह दीजिए कि ये व्यञ्जक हैं अर्थात् ज्ञान और सुख तो आत्माका धर्म है, आत्मासे हुआ है, उसका यह व्यञ्जक है, प्रकट करने वाला है । व्यञ्जक शब्द कहनेसे यह भी भाव लेना चाहिए कि व्यञ्जक (प्रकट करने वाला) वह कहलाता कि चीज तो किसी और की है, पहिली जगह मौजूद है, उसकी निष्पत्तिका सम्बंध नहीं है । व्यञ्जकको व्यञ्जक प्रकट करने वाला है । तो जो ये देहादिक व्यञ्जक बन रहे हैं तो उनका व्यञ्जक होनेमें हेतु देखा जा रहा है वह हेतु क्या है ? वह अनन्यभूत आत्मा अर्थात् व्यञ्जक अन्वयकी अपेक्षा रखने वाला होता है । अन्वयका अर्थ है उस कार्यका जिसके साथ सम्बंध हो, उपादान हो । ज्ञान और सुखका अन्वय आत्मा है । तो उस अन्वयकी, अपेक्षा रखने वाला यह व्यञ्जक है और उसमें हेतु देखा जा रहा है, इस कारणसे यह कहना ठीक नहीं कि यह व्यञ्जक उसमें अकिञ्चित्कर बन गया । कोई भी कार्यका अभिव्यञ्जक अन्वयके बिना साधक नहीं बन सकता है । जैसे दीपक पदार्थोंका अभिव्यञ्जक है, प्रकाशक है । कमरेमें सब पदार्थ रखे हैं और अंधेरा है, कुछ वहाँ दिख नहीं रहा और दीपक जला तो वहाँ रखे सभी पदार्थ दिख गए । तो पदार्थों का करने वाला दीपक है या व्यञ्जक ? करने वाला तो नहीं

है, व्यञ्जक है तो यह व्यञ्जकका हो सकता दीपक। जब पदार्थ ही कोई चीज न हो और दीपक व्यञ्जक हो जाय तो यह कैसे हो सकता है? तो शरीरादिक ये ज्ञान सुखको जतलाते हैं, अतः वह व्यञ्जक हेतु है, पर ये तब व्यञ्जक बन पाते हैं, जब मूलमें आत्मा हो। यदि कोई व्यञ्जक अन्वयके बिना व्यञ्जन करनेमें सफल हो जाय तब तो कुछ भी चीज न हो कमरेमें और दीपक, घट, पट, बैंच, चौकी, टेबुल आदिक समस्त चीजोंको प्रकाशित कर देवे, क्योंकि अब तो यह माना जा रहा है कि अन्वयके बिना भी कार्यका अभिव्यञ्जक साधक बन जाता है। तो शरीरादिक आत्मामें ही ज्ञान सुखको जतला सकते हैं, क्योंकि ज्ञानसुख आत्माके गुण हैं, अचेतनके नहीं हैं। इससे यह सिद्ध है कि यह ज्ञान और सुखरूप जब आत्मा परिणम रहा है तो उस परिणमनमें कुछ भी सहयोग देनेके लिए समर्थ नहीं है अर्थात् जैसे आत्मा परिणम रहा है ज्ञान सुखरूप इस तरहसे उसमें इसकी मदद कर देवे सो बात नहीं है। वह तो बाह्य साधनमात्र है, निमित्तमात्र है। यहाँ बात इस तरह जानना है कि उपादान कारणरूपको पाकर ये कोई पदार्थ ज्ञानसुखको उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। जैसे कोई एक काम दो आदमी मिलकर कर रहे हैं—मानो एक बोरा या एक बड़ा सन्दूक दो आदमी उठाकर लिए जा रहे हैं तो देखनेमें ऐसा लगता है कि वे दोनों व्यक्ति मिलकर काम कर रहे हैं, इस तरहसे ज्ञान और सुखको आत्मा और शरीर दोनों मिलकर कर रहे हों ऐसी बात नहीं है, अथवा उस बक्स उठानेरूप एक कार्यको दो आदमी नहीं कर रहे हैं, भले ही वह बक्स उठकर एक जगहसे दूसरी जगह जा रहा है, दो आदमी लिए जा रहे हैं, पर उन दोनों व्यक्तियोंका काम एक नहीं हो रहा है। अलग-अलग शक्तियोंसे वे पुरुष अपना-अपना काम कर रहे हैं, और उनकी अलग-चेष्टा हो रही है। अब किसी एक कार्यको दो द्रव्य मिलकर नहीं कर सकते, उनमें कार्य एकका होगा, दूसरा निमित्त मात्र कहलायगा। तो जो देह इन्द्रियको व्यञ्जक बताया है कि यह ज्ञान सुखको प्रकट करता है तो यह अन्वयापेक्ष है, इस कारण वहाँ किञ्चित्कर नहीं कर पाते।

दृष्टान्तोऽगुरु गन्धस्य व्यञ्जकः पावको भवेत्।
न स्याद्विनाऽगुरुद्रव्यं गन्धस्तत्पावकस्य सः ॥३५६॥

अन्वयके होनेपर ही व्यञ्जकमें साधनता हो सकनेके विषयमें अगुरुगंधव्यञ्जक अग्निका दृष्टान्त—इसके लिए एक दृष्टान्त दिया जा रहा है कि जैसे अग्नि—अगुरु, चन्दन, लोभान, गंधक आदिककी गंधको व्यक्त कर देती है। जैसे गंधक पड़ा है, उसमें कोई बास (गंध) नहीं आ रही और अग्निमें धर दिया जाय तो सारे कमरेमें उसकी गंध फैल जाती है। ये चंदनकी लकड़ीमें यों तो कोई बास नहीं रहती लेकिन उसे जला दिया जाय तो बास आने लगती है। ये अगरबत्तियाँ यों गंध तो नहीं फैलातीं, पर अग्निका संयोग हो जानेपर तो उससे सुगंधि

फैलने लगती है। तो जैसे अग्नि, अगुरु आदिककी सुगंधको विदित करने वाली है, लेकिन अग्नि तब विदित कराती है कि जब वे पदार्थ हों और उनमें गंधशक्ति पड़ी हो। यदि बिना अगुरु आदिकके अग्नि सुगंध करने लगे तब तो फिर कहीं भी अग्नि जला दें तो सुगंध आनी चाहिये। लेकिन ऐसा होता तो नहीं। तो जैसे अग्नि अगुरु आदिककी अपेक्षा रखकर अग्नि सुगंधका व्यञ्जक है इसी प्रकार आत्माकी अपेक्षा रखकर ये देह इन्द्रिय, ये इन्द्रियज ज्ञान सुखों के अभिव्यञ्जक हैं। तो सुगंधरूप जितना कार्य हो रहा है वहाँ अग्निकी परिणति न समझिये, किन्तु उस द्रव्यकी ही, अगुरुकी ही परिणति समझिये और इस प्रकार परिणमनेमें अग्नि अकिञ्चित्कर है, उसमें तो वह अगुरु द्रव्य ही समर्थ है। इसी प्रकार जो इन्द्रियजज्ञान सुख हुए हैं तो ज्ञान सुखरूप परिणतिके लिए देह और इन्द्रिय अकिञ्चित्कर हैं। हाँ वे व्यञ्जक आवश्यक हैं, लेकिन वे व्यंजक तब हैं जब आत्मामें ज्ञान और सुखकी शक्ति है और वह परिणमनोंसे है। जब वह व्यंजक है तो यह निमित्त मात्र है, बाह्य साधन है। ये स्वयं ज्ञानस्वरूप नहीं परिणमते अतएव अकिञ्चित्कर हैं।

तथा देहेन्द्रियं चार्थाः सन्त्यभिव्यंजकाः क्वचित्।
ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य न स्वयं चित्सुखात्मकाः॥३६०॥

उक्त दृष्टान्तकी भांति देहादिकोंकी आत्मामें ज्ञान सुखाभिव्यञ्जकता हो सकनेके कारण देहादिकोंकी ज्ञानसुखात्मकताकी असिद्धि होनेसे ज्ञानसुखपरिणतिमें उनकी अकिञ्चित्करता— जैसे उक्त श्लोकमें दृष्टान्त दिया गया है कि सुगंधित गंध बिना अगुरु आदिक द्रव्योंके अग्नि प्रकट नहीं कर सकती, इसी प्रकार इस श्लोकमें दृष्टान्त बतला रहे हैं कि देह इन्द्रिय और पदार्थ कहीं ज्ञान और सुखके विदित कराने वाले तो हैं लेकिन देहादिक स्वयं ज्ञान और सुख रूप नहीं हो जाते हैं, और जब देह और ज्ञान सुखरूप न हो सके तो वे अकिञ्चित्कर रहे। जैसे कोई कढ़ी बना रहा है रसोईघरमें तो वहाँ उस डेगचीमें कलछुलीको बहुत अधिक फिराना पड़ता है, क्योंकि उसमें डर रहता है कि कहीं गुठली न बन जाय, कहीं कच्चा न रह जाय। तो जैसे वह कलछुली बहुत फेरी गई है और फेरते हुएमें उसमें पक्वता आती है तो क्या वह पक्वता वह कलछुली लायी? क्या उसके पकनेमें कलछुलीकी कुछ करामात है?····नहीं, लेकिन किसी प्रकार वह बाह्य साधन है कि उस प्रकार भोजन पक जाय। यह बात कुछ बाहरी साधनकी कही। वैसे तो जो कढ़ी पक रही है उसमें अग्नि भी अकिञ्चित्कर है। सुननेमें ऐसा लग रहा होगा कि यह कैसे कहा जा रहा? अग्निका ही तो सारा खेल है। अग्नि न हो तो रसोई न बने, जरासा कोयला कम पड़ जाता है तो फिर कहाँ दाल वगैरह पकती है? लेकिन इस अकिञ्चित्करताको इस ढंगसे देखना है कि वह पदार्थ स्वयं उसरूप बनकर उपस्थित हो सो बात नहीं, इसलिए सभी निमित्त उपादानके कार्यमें अकिञ्चित्कर कहे जाते हैं।

इसी तरह ये देहइन्द्रिय और पदार्थ ये चूंकि स्वयं ज्ञानरूप नहीं परिणम सकते, सुखरूप नहीं परिणम सकते हैं, इस दृष्टिसे अकिञ्चित्कर कहलाते हैं, इतनी भी गुंजाइश नहीं है कि ज्ञान और सुखकी उत्पत्ति होनेमें जिस प्रकारसे आत्मा समर्थ हो रही है तो आत्मा ९९ प्रतिशत कार्य करे ज्ञान और सुखका और देह और इन्द्रिय एक प्रतिशत कार्य कर दें, इतनी भी गुंजाइश नहीं है, क्योंकि ज्ञान और सुखरूप परिणतिसे ये देह इन्द्रिय पृथक् ही रहते हैं, जैसे घट रूप कार्य होनेमें यह कुम्हार बिल्कुल अछूता है, पृथक् ही रहता है, उसकी अंगुलीका कुछ भी अंश उस घड़ेमें परिणत नहीं हुआ है कि घड़ा बन गया हो। इस तरहसे ये देह इन्द्रिय भी ज्ञान और सुखसे बाहर ही रहती हैं, रंच भी उसमें भिड़ी हुई नहीं हैं, इस कारण ये अकिञ्चित्कर हैं।

नाप्युपादानशून्येपि स्यादभिव्यञ्जकात्सुखम् ।
ज्ञानं वा तत्र सर्वत्र हेतुशून्यानुषङ्गतः ।।३६१।।

उपादान (आत्मा) के अभावमें अभिव्यञ्जक (देहादि) से ज्ञान व सुखकी असंभवता होनेसे ज्ञानसुखपरिणतिमें देहादिकी अकिञ्चित्करता—और भी सुनो—उपादानशून्यमें अकिञ्चनसे सुख नहीं आता, अर्थात् दुःख न हो तो देह इन्द्रिय कैसे ही हों, अर्थ भी हो तो वहाँ सुखकी अभिव्यक्ति नहीं होती। कोई पुरुष जब मरणको प्राप्त होता है तो शरीर भी उतना ही बना हुआ है, उससे भी अधिक वजनदार हो जाता, और इन्द्रियाँ भी वे ही बनी हुई हैं जो शरीरकी द्रव्येन्द्रियाँ हैं। और पदार्थ भी वे ही सब पड़े हैं। इतनी सब बातें होने पर भी उपादान नहीं है, आत्मा नहीं है तो वहाँ सुखकी, ज्ञानकी अभिव्यक्ति हो सकती है। तो उपादानशून्यमें अभिव्यञ्जकसे सुख नहीं होता और न ज्ञान होता। यदि उपादानशून्यमें सुख और ज्ञान होने लगे अभिव्यंजकसे तो इसके मायने हैं कि हेतुके बिना हो गया तो कहीं हेतुकी जरूरत न रहनी चाहिए, फिर यह दीपक तो जितनी चाहे चीजोंको प्रकाशित कर दे, चीज नहीं है तो भी। अब चीजोंकी क्या आवश्यकता रही ? क्योंकि हेतु शून्यत्व आदिकमें भी अभिव्यंजकोंको कार्य हेतु मान लिया गया है। चूँकि उपादान न हो तो अभिव्यंजकसे कोई कार्य नहीं हो सकता। इस कारण यह भी निरखिये कि आत्मा न हो तो इन्द्रिय देह अर्थसे ज्ञान और सुखकी अभिव्यक्ति नहीं बन सकती है। इस कारण ज्ञान और सुखकी निष्पत्तिमें आत्मा उपादान कारण है, देहइन्द्रिय ये अकिञ्चित्कर हैं।

ततः सिद्धं गुणो ज्ञानं सौख्यं जीवस्य वा पुनः ।
संसारे वा प्रमुक्तौ वा गुणानामनतिक्रमात् ।।३६२।।

संसार अथवा मुक्तिमें गुणोंका उल्लङ्घन न होनेसे ज्ञान व सुखकी आत्मधर्मताकी सिद्धिका निष्कर्ष—उक्त विवरणसे क्या निष्कर्ष निकला, उसको इस श्लोकमें बता रहे हैं कि

चूंकि देह इन्द्रिय आदिक ज्ञान और सुखकी अन्वयापेक्ष होकर अभिव्यंजक है, ज्ञान और सुख रूप परिणतिमें देह इन्द्रियका कोई सहयोग नहीं है। इससे सिद्ध है कि ज्ञान और सुख जीवके गुण हैं—चाहे वह जीव संसार अवस्थामें हो अथवा मुक्त अवस्थामें हो, सभी जगह ज्ञान और सुख जीवके गुण हैं, धर्म हैं। कोई भी द्रव्य गुणोंका उल्लंघन नहीं कर सकता। कोई ऐसी कल्पना कर ले कि ज्ञान सुख गुण तो मुक्तिमें हो जायगा, संसारमें न रहेगा, सो बात भी नहीं है। कोई यहाँके ज्ञान सुखको देखकर यह कहे कि ज्ञान और सुख तो संसारी आत्माके गुण बने हुए हैं। जब उसकी मुक्ति हो जायगी तब फिर ये ज्ञान और सुख उस आत्माके गुण नहीं रह सकते हैं। तो ये दोनों बातें ठीक नहीं हैं। जीवमें सदा ही ये ज्ञान और सुख गुणरूप रहते हैं। यह बात केवल व्यावहारिक बातचीतकी नहीं, इस आधारपर दार्शनिकोंने दर्शन भी गढ़ डाला है। जैसे कोई दार्शनिक यह माननेको तो तैयार हैं कि ज्ञान और सुख संसार अवस्थामें हैं, पर यह माननेको तैयार नहीं हैं कि मुक्तिमें भी ज्ञान और सुख है. बल्कि उनका सिद्धान्त यह है कि ज्ञान और सुखका जब उच्छेद हो जाता है तब मुक्ति कहलाती है। तो चाहे जीव संसार अवस्थामें हो अथवा मुक्त अवस्थामें हो, सबमें ज्ञान और सुख जीवका धर्म है, तो गुणका कहीं उल्लंघन नहीं है। अतः यह सन्देह न करें कि मुक्तिमें ज्ञान सुख कैसे है और न यह सन्देह करें कि सुख स्वभाव तो संसारमें है ही नहीं। सुख और ज्ञान दोनों जीव के शाश्वत धर्म हैं।

किञ्ज साधारणं ज्ञानं सुखं संसारपर्यये।
तन्निरावरणं मुक्तौ ज्ञानं वा सुखमात्मनः ॥२६३॥

संसारावस्थामें ज्ञान व सुखकी अल्पता तथा मुक्तिमें ज्ञान व सुखकी निरावरणता अर्थात् पूर्णता—इस श्लोकमें यह बतला रहे हैं कि ज्ञान और सुख जीवके धर्म हैं, सो संसार में भी हैं और मुक्तमें भी हैं, लेकिन उनमें जो अन्तर पड़ा है वह क्यों पड़ा है और क्या अन्तर होता है? संसारपर्यायमें तो ज्ञान और सुख साधारण होते हैं। साधारणका अर्थ यहां थोड़ेसे लेना है अथवा साधारणकी जगह यदि यहाँ सावरण शब्द होता तो और भी अच्छा होता। जो संसारपर्यायके ज्ञान और सुख आवरण हैं, पूर्ण नहीं हैं, शरीरपर आवरण है रुकावट सहित है। किन्तु मुक्तिमें आत्माका ज्ञान और सुख निरावरण हैं। इस पंक्तिमें निरावरण शब्द दिया है और ऊपरकी पंक्तिमें साधारण शब्द दिया है। यहाँ जीवमें साधारण गुण सुख है और मुक्त जीवमें निरावरण ज्ञान सुख है। देखिये—तत्त्वकी ओर दृष्टि देकर, यदि इस तरह भी कह दिया जाय कि संसारी जीवोंमें तो विशिष्ट ज्ञान और सुख है और सिद्ध प्रभुमें साधारण ज्ञान सुख है, तो इसका भी अर्थ बहुत उत्तम लगता है। साधारण ज्ञानसुख अर्थात् जिस ज्ञान और सुखमें तरंगें नहीं हैं, विशेषतायें नहीं हैं, विसमतायें नहीं हैं,

वे ज्ञान सुख साधारण हैं। साधारण ज्ञान सुख महान होता, अनन्त होता, उत्तम होता। और जो भी विशिष्ट होता है उसमें सीमा होती है। तो संसारी जीवोंके ज्ञानविशिष्ट है, विशेषताको लिए हुए है और सुख भी विशिष्ट है। आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें भी अनेक जगह वर्णन हैं कि जहां ज्ञान और सुख विशिष्ट होता है वहाँ तो न्यूनता होती है और जहां यह विशेष बन गया, अविशेष ज्ञान, अविशेष सुख, जहां तरंग नहीं, विशेषतायें नहीं वह सुख असीम हुआ करता है। इस दृष्टिसे भी ऐसा प्रतीत होता है कि यह कहना युक्त है कि संसार पर्यायमें ज्ञान और सुख सावरण है और मुक्त अवस्थामें ये दोनों निरावरण हैं, इसी कारण ये परिपूर्ण हैं।

कर्मणां विप्रमुक्तौ तु नूनं नात्मगुणक्षतिः।
प्रत्युतातीव नैर्मल्यं पङ्कापाये जलादिवत् ॥३६४॥

कर्ममलके हट जानेपर आत्मगुणोंमें निर्मलताकी पूर्ण अभिव्यक्ति—यह बताया जा रहा है इस प्रसंगमें कि चाहे संसार अवस्था हो, चाहे मुक्त अवस्था हो, ज्ञान और सुख तो आत्माका धर्म है और भले ही यह बात है कि वह ज्ञान व सुख संसार अवस्थामें अल्प है और मुक्त अवस्थामें परिपूर्ण है, लेकिन ज्ञान और सुख आत्माके अभिन्न गुण हैं। मुक्त अवस्थामें सुख व ज्ञान परिपूर्ण क्यों हो गए? उसका कारण यह है कि कर्म दूर हो गए। तो कोई यह ख्याल न करें साधारणजन कि हम तो यहां यही देख रहे थे कि कर्मका उदय अच्छा आया तो ज्ञान अच्छा मिल गया, सुख अच्छा मिल गया और लोग कहते भी ऐसा हैं। किसीको यदि ज्ञानविशेष हो गया और सुख सामग्री हैं तो कहते हैं कि इसके बड़ा पुण्यका उदय है तब ही तो इतना ज्ञान मिला, इतना सुख मिला। सो जब कर्म नष्ट हो जायेंगे तो ज्ञान और सुख भी नष्ट हो जायेंगे, ऐसी शंका नहीं करना है, क्योंकि कर्मोंकी मुक्ति हो जाने पर, कर्मोंके छूट जाने पर आत्माके गुणोंकी हानि नहीं होती, बल्कि आत्माके गुणोंकी निर्मलता बढ़ती है। जैसे कीचड़ मिला हुआ जल गंदा है तो वहां विधि द्वारा कीचड़ हटा देनेपर जल निर्मल ही हो जाता है, कहीं पंक (कीचड़) के नष्ट होने पर जल खतम हो जाय, ऐसा तो नहीं होता। इसी तरह यह मानना चाहिये कि कर्मोके नष्ट होनेपर आत्माके गुणकी हानि नहीं होती, किन्तु उन आत्मगुणोंकी प्रमाणता बढ़ती है।

अस्ति कर्ममलापाये विकारक्षतिरात्मनः।
विकारः कर्मजो भावः कादाचिकः समर्पयः ॥३६५॥

कर्ममलके दूर हो जानेपर आत्माके विकारोंका व्यय—जब कर्ममल दूर हो जाता है तो आत्माके विकारोंकी भी क्षति हो जाती है। विकार सहेतुक भाव हैं, कर्मउपाधिका निमित्त पाकर होने वाले भाव हैं, इस कारण कर्ममल दूर होने पर वे विकार भी दूर हो जाते हैं।

ये विकार कर्मजभाव कहे गए हैं। यद्यपि रागादिक भाव आत्माके परिणमन है, लेकिन जिनके साथ अन्वयव्यतिरेक देखा जाय कि जिसके होनेपर ही तो विकार हों और जिसके न होने पर न हों तो उसे ही मुक्त होना कहा जाता। जैसे सतीयाके पर्दे पर जो फिल्मका अक्स पड़ा है तो उस अक्सका उत्पत्ति किससे कही जायगी ? क्या पर्देसे अथवा क्या फिल्म से ? बात वहां यह है कि जो चित्रण हुआ, जो कि लोगोंको दिख रहा है वह फिल्ममें तो है नहीं, तिस पर भी अन्वयव्यतिरेक फिल्मके साथ है। फिल्मके सचेष्ट होने पर ही अक्स आता है और फिल्मके हटने पर हट जाता है। तब उसे फिल्मसे उत्पन्न हुआ कहा जायगा, ऐसे ही यहां देखो—ये रागादिक भाव उत्पन्न हो रहे हैं जीवमें, लेकिन अन्वयव्यतिरेक इनका कर्मोंके साथ है, कर्म विपाक होनेपर ही वे होते हैं, न होनेपर नहीं होते, तो ये कर्मजभाव हैं और इसी कारण कादाचित्क हैं, क्योंकि इनकी निष्पत्तिका निमित्त अन्य पदार्थ है। यदि वही निमित्त हो और वही उपादान हो तब तो वे भाव सदा रह सकेंगे। लेकिन ऐसा तो नहीं है। निमित्त कर्मविपाक हैं, इस कारण कदाचित्क है और वे पर्यायमात्र हैं, इन्द्रजाल हैं, अध्रुव तत्त्व है। इस कारण कर्ममलके दूर होनेपर इस आत्माके विकारोंकी भी क्षति हो जाती है।

नष्टे चाशुद्धपर्याये मा भूद्भ्रान्तिर्गुणव्यये ।
ज्ञानानन्दत्वमस्योच्चैर्नित्यत्वात्परमात्मनि ॥३६६॥

अशुद्ध पर्यायके नष्ट होनेपर गुणव्यय न होकर गुणोंकी उत्कृष्ट आभाका चमत्कार— अब यहां कोई यह आशंका न करे कि आत्माकी अशुद्ध पर्यायोंके नष्ट हो जाने पर आत्माका वास्तवमें गुणका ही नाश हो जायगा, ऐसा भ्रम न करना चाहिए, क्योंकि ज्ञान और आनन्द आत्माके नित्यगुण हैं, प्राणभूत हैं, स्वभाव हैं। ज्ञानसुख न रहे तो आत्मा भी कुछ न रहेगा। अरे ये ज्ञानसुख आत्मामें परिपूर्ण रूपसे रहते हैं। यहां ये लोग इस तरह कहते हैं यदि किसी को थोड़ा रंज हो गया या शोकका साधन बन गया तो कहते हैं कि इसके कर्म फूट गए। अर्थात् कर्मके फूट जानेसे इसके सुख और ज्ञान भी फूट गए। सुख भी न रहा, लेकिन ऐसा नहीं है कि कर्म फूट जायें तो सुख भी फूट जाय, बल्कि कर्म यदि सब फूट जायें तो सुख उत्तम प्रकट हो जायगा। पुण्य पाप दोनों ही प्रकारके कर्म जहां फूट जायें वहां तो सुख पूरा प्रकट हो जायगा। तो यहां कहते हैं अभाग्य और परमार्थसे अभागा है सिद्ध भगवान। तो उनको अभागा कह दो, निष्कर्मा कह दो। जरा सभ्यताके वचनोंमें तो अभागा होना यह तो उत्कृष्ट दशा है और जितने भी योगीश्वर प्रयत्न करते हैं, बड़ा ध्यान लगाते हैं, सामायिक (समता) करते हैं वे सब अभागा होनेके लिए ही करते हैं। तो यहाँ यह शंका न करनी चाहिए कि कर्म दूर हो जायेंगे तो गुण दूर हो जायेंगे अथवा अशुद्ध पर्याय दूर हो गयी तो लो आनंद

ही न रहा या गुण ही न रहे, ऐसी शंका यहां नहीं की जा सकती।

दृषदादिमलापाये यथा पावकयोगतः।
पीतत्वादिगुणाभावो न स्यात्कार्तस्वरोस्ति चेत् ॥३६७॥

अशुद्धपर्याय नष्ट होने पर गुणोंके विकासकी अतिशयताका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—उक्त सिद्धान्तके समर्थनमें यहां दृष्टान्त दिया जा रहा है कि देखो—यदि कोई वास्तवमें स्वर्ण है तो उस स्वर्णको यदि अग्निका सम्बन्ध कर दिया जाय तो उसमें जो कुछ भी मल साथमें चिपटा होगा वह सब दूर हो जायगा। तो उस समय यदि उसमें किट्टकालिमाका मल दूर हो गया तो उससे कहीं स्वर्ण तो न खतम हो जायगा, उसमें जो पीतपना आदिक गुण हैं वे तो न नष्ट हो जायेंगे? बल्कि उन गुणोंमें और भी शोभा (विशुद्धि) आ जायगी। तो जैसे स्वर्णको अग्निमें तपा देने पर किट्टकालिमा (मल) दूर हो जाती है इसी प्रकारसे इस तपश्चरणकी अग्निमें इस आत्माको तपा देने पर अर्थात् चैतन्यस्वरूपमें प्रतपन होने पर जो कर्ममलका अपाय हो जाता है, उससे न आत्माका नाश होता, न आत्माके गुणोंमें क्षति होती, प्रत्युत उन गुणोंमें और विशुद्धि निर्मलता उत्कृष्टता बढ़ जाती है।

एकविंशतिदुःखानां मोक्षो निर्मोक्षलक्षणः।
इत्येके तदसज्जीवगुणानां शून्यसाधनात् ॥३६८॥

ज्ञान सुख प्रभृति एकविंशति भावोंके छूटनेको मोक्ष कहनेकी अयुक्तता—अब इस ज्ञानसुखके प्रकरणको समाप्त करनेके फलमें यह बात बतला रहे हैं कि कुछ लोग कहते हैं कि २१ प्रकारके दुःख होते हैं और उन दुःखोंका दूर हो जाना इसीका नाम मोक्ष है। अब वे २१ प्रकारके दुःख क्या हैं? तो आधि, व्याधि, शरीर, सुख, ज्ञान आदिक सभी इनमें रख दिए गए। ज्ञान और सुखका भी जब मोक्ष हो जाय, छुटकारा हो जाय तो उसका नाम मोक्ष है। इस तरहसे कोई दार्शनिक कहते हैं। किन्तु उनका यह कथन असत्य है क्योंकि जो जीवके गुण हैं वे गुण नष्ट नहीं हुआ करते हैं। यहाँ तो जीवके गुणोंकी शून्यता बतायी जा रही हैं। गुण ही न रहें तो गुणी कहाँसे रहेगा और फिर आत्मा ही क्या रहा? फिर मोक्ष ही किसे कहेंगे? जब गुणका अभाव किया जा रहा है मोक्षके लिए तो मोक्ष फिर किसका बताओगे? तो जो लोग ऐसा मानते हैं कि जहाँ ज्ञान सुख आदिक नहीं रहते हैं वहाँ मोक्ष कहलाता है। तो इसके मायने हैं कि वह जड़वत् हो गया और जड़वत्की बात दूर जाने दो, वह कुछ रहा ही नहीं। वह भी कैसे कहा जाय? जब आधारभूत, प्रमाण स्वभाव वगुण, जिसके तन्मय होनेसे ही उसका सत्त्व है, जब वह ही न रहा तब फिर मोक्ष ही किसका कहा जायगा? मोक्ष सुखका स्थान है लेकिन जहाँ ज्ञानका, सुखका अभाव कह दिया गया तो वह तो दुःखका स्थान हो जायगा। यहाँ ही अगर किसीको कहा जाय कि देखो हम तुमको उस

पदमें लिए जा रहे हैं जहाँ पहुंचने पर ज्ञान भी नष्ट हो जायगा, सुख भी नष्ट हो जायगा, बोलो—चलोगे ? तो वह शायद यही कहेगा कि हम तो ऐसी जगह नहीं जाना चाहते। हम को तो यह ही जगह अच्छी है जहाँ कभी-कभी दुःख मिल गया, मगर सुख भी तो मिलता है। मगर तुम तो सदाके लिए सुख मिटाना चाहते हो। जैसे कोई बूढ़ा व्यक्ति घरके बाल बच्चोंसे नाती पोतोंसे हैरान हो जावे, कोई बालक सिर पर चढ़े, कोई मूछ फटावे, कोई कुछ करे तो हैरान होकर वह बूढ़ा रोने लगता है। उससे अगर कोई कहे कि बाबाजी तुम इस स्थानको छोड़ दो, हम तुम्हें ऐसे स्थानपर ले चलेंगे जहाँ ये कोई परेशानी न रहेगी। तो शायद वह वहाँ जाना स्वीकार न करेगा। वह तो यही कह देगा कि हमें तो ऐसी जगह नहीं जाना है। अरे यहां ये नाती पोते कभी-कभी हैरान करते हैं तो कर लें, पर इनको देख देख कर सुख भी तो मिलता है। इसी तरह किसीसे कोई कहे कि चलो हम तुम्हें ऐसे मोक्षमें पहुंचायेंगे जहां न ज्ञान है, न सुख, तो शायद कोई भी ऐसा मोक्ष न चाहेगा। तो ऐसा उनका कहना केवल एक शब्दजाल मात्र है।

गुणी आत्मामें ज्ञान, सुख आदि गुणोंकी शाश्वतता होनेसे अभावकी असंभवता— वस्तुतः गुणोंका अभाव कभी भी नहीं हुआ करता। तो ज्ञान और सुख आत्माके गुण हैं, उनका कभी भी उल्लंघन नहीं हो सकता, और भी उन्हींके दर्शनको देखो कि लोग कहते हैं कि ज्ञानके छूट जानेका नाम मोक्ष है। वे ही लोग कहते हैं कि ज्ञानका समवाय सम्बंध है आत्माके साथ। आत्मा स्वयं ज्ञानमय है, आत्माको ज्ञानमय बता दिया, तो ज्ञानके अभावका नाम मोक्ष है। तो आत्माको ज्ञानमय कह देते हैं। अब बतलाते हैं कि आत्मद्रव्य अलग है और ज्ञान नामका गुण अलग पदार्थ है, और जब इस ज्ञानका आत्मामें स्वतंत्र सम्बंध है तब वह ज्ञानी कहलाता है तो पूछा जाता है उनसे कि समवाय सम्बन्ध कहते किसे हैं ? तो उन्होने कहा है कि जो गुणगुणीमें नित्य सम्बंध होता है उसको समवाय कहते हैं। अब नित्य सम्बंध होना, इसका अर्थ है कि आत्मामें ज्ञान सदाकाल रहा। नित्यका तो अर्थ है कि सदा रहना। तो यहाँ यह माना जा रहा है कि आत्मामें उस ज्ञानका समवाय सम्बंध नित्य है और फिर कह रहे कि ज्ञानका अभाव होनेका नाम मोक्ष है। तो यह परस्परमें विरुद्ध बात हुई। वह नित्य सम्बंध कहाँ रहा ? फिर समवाय सम्बन्धकी प्रक्रिया कहाँ रही ? अगर वह समवाय नित्य है और आत्मा और ज्ञानका सम्बन्ध शाश्वत है तो मोक्षमें फिर ज्ञानगुणका नाश क्यों बतलाते हो ? इससे यह कथन युक्त नहीं है उन दार्शनिकोंका, किन्तु यही बात युक्तिसंगत है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान आत्माका धर्म है, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप और आनन्द आत्माका धर्म है। जब तक जीवपर कर्मका आवरण है तब तक ज्ञानसुख कम प्रकट होता है और जब यह आवरण हट जाता है तब ज्ञान सुख पूर्णतया प्रकट हो जाता है। तो

ज्ञान और सुख आत्माके धर्म हैं और इनकी प्रकटता मुक्त अवस्थामें परिपूर्णतया होती है, संसार अवस्थामें यह सुख विकृत हो जाता है। ज्ञान भी मिथ्यात्वके सम्बन्धसे विकृत कहा गया है, पर वह एक उपचरित बात है, लेकिन सुख तो सचमुच ही विकृत हो जाता है। याने आनन्द नामकी कोई सुख और दुःख नामक पर्याय संसारमें रहती है। तो ये दोनों ही दुःखस्वरूप हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि कर्मबद्ध जीवके निरन्तर दुःख ही बना रहता है।

न स्यान्निजगुणव्यक्तिरात्मनो दुःखसाधनम्।
सुखस्य मूलतो नाशादतिदुःखानुषङ्गतः ॥३६६॥

आत्मगुणविकासमें दुःखसाधनताकी असंभवता और परमात्मामें आनन्दका नाश माननेसे अतिदुःखप्रसङ्गकी अनिष्टापत्ति—आत्मामें जो ज्ञान और सुख गुण प्रकट होते हैं तो ऐसे अपने गुणोंकी जो व्यक्ति है वह कभी आत्माका साधन नहीं हो सकती है। जैसे कि शंकाकारका यह आशय हो गया था कि मुक्त जीवके तो देह इन्द्रिय हैं ही नहीं, उसको सुख कैसे हो सकेगा? देह इन्द्रिय सुखका साधन है, वह जब न रही तो वहाँ सुख न होना चाहिए, किन्तु दुःख होना चाहिए। उसीके उत्तरके सिलसिलेमें यह सब कहा जा रहा है, तो यहाँ निष्कर्ष रूपमें बतला रहे हैं उस आत्माको जो निरावरण होनेके कारण ज्ञान और सुखकी अभिव्यक्ति हुई है वह दुःखका कारण नहीं हो सकती। वहाँ तो अनन्त सुख ही है। यदि वहाँ सुखका मूलसे नाश मान लिया जाय तो वहाँ दुःखका प्रसङ्ग आ जायगा। कहा जाय कि जीव तो है जो मुक्त हुआ है, उसका निषेध नहीं किया जा रहा है, किन्तु उसमें सुख कोई न रहा, क्योंकि वहाँ इन्द्रिय नहीं रहे। जब सुख बिल्कुल न रहा तो उसका दूसरा अर्थ यह निकला कि वहाँपर घोर दुःख पड़ा हुआ है। तो वहाँ यही अनिष्टका प्रसंग आ जायगा। इस कारण यह कहना युक्तिसंगत नहीं है कि मोक्ष भी सुखका साधन नहीं हैं और इस कारण सुखका साधन नहीं है कि देह और इन्द्रिय सुखका साधन नहीं कहलाते, क्योंकि ये भिन्न पदार्थ हैं, और दुःखमें इनका अन्वयव्यतिरेक है। केवल एक सावरण अवस्थामें यह पद्धति होती थी कि इन्द्रिय और देहका आश्रय पाकर जीवके सुखपरिणामनकी निष्पत्ति होती है। सो वहाँ भी वह सुख केवल सुखरूप अर्थात् केवल जीवकी परिणतिको ही लेकर बना है, देह और इन्द्रियकी परिणति लेकर नहीं बना। इससे सिद्ध है कि देह इन्द्रिय सुखका साधन नहीं है, यह जीव ही सुखस्वरूप है। जब निरावरण हो जाता है तो यहाँ पूर्ण सुख प्रकट हो जाता है।

निश्चितं ज्ञानरूपस्य सुखरूपस्य वा पुनः।
देहेन्द्रियैर्बिनापि स्तो ज्ञानानन्दौ परात्मनः ॥३७०॥

ज्ञानस्वरूप व सुखस्वरूप परमात्माके देह और इन्द्रियके बिना भी परमज्ञान व आनन्दकी उपलब्धि—अब इस स्थलमें यह अन्तिम श्लोक है। जिसमें सारांश रूपमें यह

बताया जा रहा है कि परमात्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप और सुखस्वरूप है। परमात्माकी मुद्रा क्या होती है ? जैसे यहाँ संसारी प्राणियोंकी मुद्रा कुछ विविक्त इस तरहसे भी होती है कि यह यों फैला हुआ है, यों फैल रहा है, इस तरहके शरीर वाला है, और शरीरकी आकृति निरखकर भी भावोंकी पहिचान बन जाती है कि यह इस समय क्रोधमें है, यह उदास है आदि, मगर मुक्त अवस्थामें परमात्माकी मुद्रा क्या होती होगी और किस तरहसे हम परमात्माके स्वरूप को अपने ध्यानमें ला सकते हैं ? तो वह मुद्रा उनके ज्ञानानन्दरूप है, विशुद्ध ज्ञान और आनंद का जो स्वरूप है उसका ही चिन्तन किया जाय तो भगवानका चिन्तन होता है अन्यथा भगवानका चितन और किस ढंगसे हो सकता है ? कोई पूर्वअवस्थाका नाम लेकर कि आप अमुक के पुत्र हैं, अमुक कुलमें पैदा हुए हैं, आपका ऐसा रंग था, ये सब बातें तो औपचारिक हैं। वह भगवानकी वास्तविक स्तुति नहीं है। भगवानकी वास्तविक स्तुति और मुद्राके दर्शन तो ज्ञान और आनंदस्वरूपके अनुभव द्वारा होते हैं और इससे भी वास्तविक स्तुति वह कहलायगी कि भगवानके विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपका चिन्तन इस पद्धतिसे हो कि वह शुद्ध पूर्ण विकास जिस ज्ञायकस्वभावसे उत्पन्न हुआ है, उस आत्मासे अभेदरूप है, और इस तरहका अभेदरूप करें कि पर्यायरूप ज्ञान सुख गौण होकर वह ज्ञायकस्वभाव मुख्य हो जाय, और जब ज्ञायकस्वभाव उपयोगमें मुख्य हो जाय तब उसका आश्रय परमें नहीं हुआ करता है। वह स्वयं अपने ज्ञायकस्वभावकी एकता कर लेता है। तो उस स्थितिमें होता क्या कि इस भगवानका और विशुद्ध ज्ञायकस्वभावका जो चिन्तन है वह पर्याय निज ज्ञायकस्वभावके उन्मुख हो गयी। इस तरह निज ज्ञायकस्वभावके साथ अभेद बना लिया, एकता कर लिया। इस पद्धतिसे ज्ञायकस्वभावका जो चिन्तन चलता है वह वास्तत्रिक परमात्माकी स्तुति कही जाती है। तो यहाँ यह कहा जा रहा है कि भगवान स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं, सुखस्वरूप हैं, इस कारण उनका ज्ञान और आनन्द और इन्द्रियके बिना ही हो रहे हैं। तब शरीर इन्द्रियके न होनेपर परमात्माके सुख न होगा, यह शङ्का करना तो दूर रहो, किन्तु देह और इन्द्रिय न रहनेके कारण ही परमात्माका अनन्त सुख प्रकट होता है—यह निर्णय बनाना चाहिए। इस तरह इस स्थलमें यह सिद्ध किया गया कि कर्मबद्ध जीवके तो निरन्तर दुःख है और कर्मरहित जीवके निरन्तर अनन्त आनन्द है।

॥ पञ्चाध्यायी प्रवचन दशम भाग समाप्त ॥